हिंदी कहानीकारों के कथाचिंतन के संदर्भ में उनके कहानी साहित्य का मूल्यांकन

८१३.३१०९
तरु/हि

डॉ॰ तरुलता मटियानी

हिन्दी कहानीकारों के कथा-चिन्तन
के संदर्भ में
उनके कहानी-साहित्य का मूल्यांकन

हिन्दी कहानीकारों के कथा-चिन्तन के संदर्भ में उनके कहानी-साहित्य का मूल्यांकन

डॉ० तरुलता मटियानी

प्रकल्प प्रकाशन

हिन्दी कहानीकारों के कथा-चिन्तन के संदर्भ में उनके कहानी-साहित्य का मूल्यांकन

शोध प्रबंध

© : डॉ० तरुलता त्रिपाठी

प्रकाशक : प्रकल्प प्रकाशन
25, आवास विकास कॉलोनी
हल्द्वानी-263139 नैनीताल (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण : 1995

मूल्य : 300.00 रुपये

आवरण : त्रिगोपा

मुद्रक : एस० एन० प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

माँ और बाबू
के
लिये

भूमिका

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कथा-साहित्य में मेरी अभिरुचि और पिता जी की सृजनात्मक प्रवृत्ति और प्रेरणा का परिणाम है। बचपन से ही मैं अपने पिता (श्री शैलेश मटियानी) को कहानियां लिखते, उन पर विचार-विमर्श करते, टिप्पणियां लिखते देखती रही हूं। अनेक प्रसिद्ध कहानीकार, आलोचक पिताजी से मिलने आते रहे हैं, जिसके कारण मेरी अभिरुचि कहानियां पढ़ने और उनको समझने की ओर हुई। चूंकि मुझे अनेक कहानी-संकलन और कहानीकारों तथा आलोचकों द्वारा कहानी पर लिखे लेखक और टिप्पणियां सहज रूप से उपलब्ध रही हैं, इसलिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० करने के बाद मैंने कहानियों पर कार्य करने का निश्चय किया। सोचा कि कहानीकार कहानियों पर जो कहते, लिखते और वक्तव्य देते रहते हैं, उनका उनकी कहानियों से क्या रिश्ता है, इसको जांचा-परखा जाए। इस जिज्ञासा और संकल्प का प्रतिफलन ही यह शोध-प्रबन्ध है।

यह शोध-प्रबन्ध कुल पांच अध्यायों में विभक्त है, जिस चुस्त के भीतर रहते हुए ही मैंने हिन्दी कहानियों और कहानीकारों के कहानी-सम्बन्धी विचारों की खोजबीन करने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में मुझे अनेक पत्र-पत्रिकाओं, मित्रों, हितैषियों, संग्रहालयों, विद्वानों और कहानीकारों से अनेक रूप में कहानियों और कहानियों के विषय में सन्दर्भ-सामग्री जुटाने में सहायता मिलती रही, जिसका शोध-प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर उपयोग हुआ है।

इस शोध-प्रबन्ध के पहले अध्याय में हिन्दी कथा साहित्य का एक प्रकार से ऐतिहासिक क्रम-विकास दिखाने के साथ-ही-साथ, व्याख्या और मूल्यांकन की पद्धति से विषय को अधिक पारदर्शी तथा संग्राह्य बनाने का प्रयत्न गया है, जिससे परवर्ती अध्याय में मूल्यांकित कहानीकारों के विचारों के विकास-क्रम का तुलनात्मक मूल्यांकन सम्भव हो सके। इसे मैंने सुविधा की दृष्टि से प्रेमचन्द-पूर्व, प्रेमचन्दयुगीन, प्रेमचन्दोत्तर तथा स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य के रूप में वर्गीकृत किया है। चूंकि यह अपने में ही एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है और हिन्दी में इस पर काफी काम शोध के रूप में हो भी चुका है, इसलिए मैंने

परिगणनात्मक प्रणाली न अपनाकर, अपेक्षाकृत मूल्यांकनपरक प्रणाली का प्रयोग किया है।

दूसरे अध्याय में हिन्दी कहानीकारों के कथा-चिन्तन के विविध आयामों को दृष्टि और संवेदना, वस्तु, भाषा और शिल्प तथा संरचना के अन्तर्गत रखकर विवेचित किया गया है। इस अध्याय में मैंने यथासम्भव प्रेमचन्द से लेकर काशीनाथ सिंह तक के कथा-चिन्तन का दृष्टि, संवेदना, वस्तु, भाषा-शिल्प, संरचना आदि की दृष्टि से सावयविक (आर्गेनिक) और निरावयविक (इनआर्गेनिक) रूप में मूल्यांकन किया है। मेरी जानकारी में हिन्दी कहानीकारों के कथा-चिन्तन का एकत्रित मूल्यांकन लगभग नहीं है। इसलिए कहानीकारों के कथा-चिन्तन को खोजने में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लेना पड़ा। इस अध्याय को लिखने में मैंने कथा-गोष्ठियों के छपे हुए प्रतिवेदनों, अधिवेशनों में दिये गये वक्तव्यों, स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित पुस्तकों, साक्षात्कारों, आत्मकथ्यों, भूमिकाओं, टिप्पणियों और अप्रकाशित लेखों तक का उपयोग किया है। इसमें मैंने इसीलिए रचनाकारों के कथा-चिन्तन सम्बन्धी उद्धरणों को प्रमुखता दी है, ताकि वे एक जगह एकत्रित होकर कहानियों के बारे में कहानीकारों के विचारों को उजागर कर सकें और स्वतन्त्र रूप से कहानियों के मूल्यांकन में अथवा उनकी व्याख्या में मदद कर सकें। इन उद्धरणों के माध्यम से कहानीकारों के कथा-चिन्तन और उनके कथा-साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न इसके अगले अध्याय में किया है। कहानियों और कथा-चिन्तन का विकास स्पष्ट होने के बाद, तीसरे अध्याय में दोनों पहले अध्यायों से प्राप्त अनुभव, दृष्टि और तथ्यों का उपयोग किया गया है।

तीसरा अध्याय कहानीकारों के कथा-चिन्तन और उनके कथा-साहित्य की तुलना और मूल्यांकन से सम्बद्ध है। इस अध्याय में मुझे सुविधा की दृष्टि से कहानीकारों का चयन करना पड़ा। इसमें कुल 21 कहानीकारों के कथा-चिन्तन और कथा-साहित्य के पारस्परिक प्रभावों और विपरीतताओं का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना अनुचित नहीं होगा कि यह अध्याय बहुत विस्तृत विवेचन की मांग करता है। अधिकांश कहानीकारों का व्यवस्थित कथा-चिन्तन उपलब्ध न होने के कारण उनकी कहानियों से उनके कथा-चिन्तन की तुलना करने की एक सीमा बनती है। यथासम्भव प्रयत्न यह रहा है कि जो-कुछ भी, भले ही कुछ ही वाक्यों में, कहानीकार का कहा हुआ उपलब्ध है, उसके प्रकाश में उसकी कहानी को समझा जाये। कभी-कभी एक वाक्य भी कहानीकार के कहानी-जगत् को प्रकाशित करने के लिये बहुत महत्त्व का होता है। यह भी अनुभव हुआ कि कथा-चिन्तन कहानीकारों के समग्र चिन्तन अथवा उनकी जीवन दृष्टि से वैसे ही अभिन्न है, जैसे कि उनकी कहानियां।

सभी महत्त्वपूर्ण कहानीकारों के कथा-चिन्तन, सामाजिक चिन्तन और कहानियों में अद्भुत प्रकार की एकसूत्रता पायी जाती है। सर्जनात्मकता के तर्क से जो वैचित्र्य मिलता भी है, वह रचनाकार की संवेदनात्मक ऊर्जा की ऊष्मा से मुक्त नहीं हो पाता है। इसलिये इस अध्याय में यह कोशिश है कि कथा-चिन्तन और कथा-साहित्य के अन्तःसूत्रों की खोजबीन से कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सके।

अध्याय चार में 1970 के बाद के रचनाकारों की रचना-दृष्टि और उनकी कहानियों पर अलग से विचार किया गया है, जो एक प्रकार से तीसरे अध्याय का विस्तार ही है। विवेचन की सुविधा तथा समकालीनता एवं समसामयिकता के दबाव के कारण अलग अध्याय में इसका विवेचन उचित लगा। इसके अन्तर्गत मैंने इस समय लिख रहे और अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छप रहे कहानीकारों की रचना-दृष्टि और उनकी कहानियों के पारस्परिक सम्बन्धों को परखने का प्रयत्न किया है। चूंकि अभी इन कहानीकारों ने निकट अतीत में ही लिखना शुरू किया है, इसलिये कथा-चिन्तन सम्बन्धी बहुत सामग्री उपलब्ध नहीं है। फिर भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं और अपने पिताजी से लेखकों के निजी सम्पर्कों का लाभ उठाकर उपलब्ध सामग्री को संचित और मूल्यांकित करने का प्रयत्न मैंने किया है।

अन्तिम अध्याय शोध-प्रबन्ध का केवल उपसंहार ही नहीं है, बल्कि संक्षेप में हिन्दी कथा-चिन्तन और हिन्दी कथा साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का इतिहास भी है। इसमें मैंने अपने निष्कर्षों को काफी स्पष्ट रूप से रखने का प्रयत्न किया है और यह भी कोशिश की है कि यह निष्कर्ष किन कारणों से या क्यों ऐसे हैं, यह भी स्पष्ट हो सके।

और अन्त में उन सभी के प्रति समादर और कृतज्ञता व्यक्त करना परम आवश्यक समझती हूं, जिनके उदार तथा आत्मीय सहयोग के कारण ही मैं इस शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में समर्थ हो सकी हूं। सर्वप्रथम अपने सम्माननीय निर्देशक डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट जी के प्रति आभार और समादर प्रकट करना आवश्यक समझती हूं, जिनके दिशानिर्देश और समय-समय पर प्रेरणा देकर मनोबल बढ़ाने से ही मैं अपना यह शोध-कार्य समय पर पूरा कर सकी। डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र जी के प्रति भी मैं समादर और विनत कृतज्ञता व्यक्त करना चाहती हूं, जिन्होंने सन्दर्भ-सामग्री जुटाने ही नहीं, बल्कि विषय को समझने में भी मेरी भरपूर सहायता की। हिन्दी कहानी साहित्य के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले सुविख्यात कहानीकार राजेन्द्र यादव जी के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करती हूं कि उन्होंने अपने पास उपलब्ध सन्दर्भ सामग्री उपलब्ध कराई। (इस बीच अनेक पारिवारिक विपत्तियों के बावजूद मैं यह कार्य कर सकी, यह स्वयं मेरे लिये आश्चर्य का विषय है। जिस अग्निपरीक्षा से मैं और पिताजी तथा माताजी,

बड़ी बहन और बड़े भाई गुजरे हैं, वह इस शोध-कार्य के सन्दर्भ में भुलाया नहीं जा सकेगा।

उन सभी लेखकों, विद्वानों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करती हूं, जो इस शोध-प्रबन्ध में किसी-न-किसी रूप में मेरे सहायक रहे हैं। उन विद्वानों और कहानीकारों के प्रति विशेष आभार, जिनके लेखों, पुस्तकों और वक्तव्यों के उद्धरणों का मैंने निःसकोच उपयोग किया है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, में कार्यरत श्री राजेश्याम त्रिपाठी जी की भी उपकृत हूं, जिन्होंने बहुत कम समय में इस शोध-ग्रन्थ को टंकित किया।

—तरलता भटियानी

अनुक्रम

भूमिका 7

अध्याय 1

हिन्दी में कथा-साहित्य और कथा-चिन्तन 13

अध्याय 2

हिन्दी कहानीकारों का कथा-चिन्तन/विविध आयाम। 108

अध्याय 3

कहानीकारों का कथा-चिन्तन और कथा-साहित्य 137

अध्याय 4

कथा-चिन्तन का विकास 304

अध्याय 5

उपसंहार 316

परिशिष्ट 331

प्रथम अध्याय

हिन्दी में कथा-साहित्य और कथा-चिन्तन

(क) प्रेमचन्द पूर्व कथा-साहित्य (सन् 1900-1915)

हिन्दी कहानी का विधागत अनुशासन के साथ समारम्भ बीसवीं शताब्दी से होता है, और प्रायः सभी विद्वान्, साहित्यकार, इतिहासकार, पाठक व शोधार्थी इस तथ्य से पूर्णतया सहमत हैं। हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी प्रकाशित करने का श्रेय 'सरस्वती'[1] पत्रिका को है। 'सरस्वती' के प्रकाशन से पूर्व हिन्दी में कोई मौलिक कहानी उपलब्ध नहीं होती।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन से भी इसकी पुष्टि होती है :

'अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएं या कहानियां निकला करती हैं, वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थीं। ये कहानियां जीवन के बड़े मार्मिक और भावव्यंजक खण्डचित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियों का आभास लेकर प्रकट होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे।'[2]

तात्पर्य यह कि 'सरस्वती' के प्रकाशन से पूर्व आधुनिक कलात्मक हिन्दी कहानियों का अस्तित्व नहीं था। इस पत्रिका के द्वारा हिन्दी कहानी के क्षेत्र में निरंतर प्रयत्न और प्रयोग होते रहे। सन् 1900 ई० में किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई, जो अनेकानेक विवादों के बावजूद हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी स्वीकार की जाती है, जो परम्परागत अनूदित या तथाकथित मौलिक कहानियों से सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। यद्यपि इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' तथा किसी राजपूत कहानी का प्रभाव माना गया है, किन्तु

---

1. 'सरस्वती' : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद (1900) सं० महावीरप्रसाद द्विवेदी
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 343

शिल्प की दृष्टि से यह एक नवीन कहानी थी।[1]

डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही' ने भी 'इन्दुमती' को ही प्रथम मौलिक कहानी कहा है। उनके अनुसार—'सरस्वती' के प्रथम वर्ष 1900 ई० में पं० किशोरीलाल गोस्वामी की एक कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई, जिसे हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कहा जा सकता है।[2]

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'इन्दुमती' को शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' की छाया कहा है, इसलिए वे इसे हिन्दी में पहली कहानी तो मानते हैं, किन्तु हिन्दी की पहली मौलिक कहानी नहीं मानते।[3] डॉ० लाल ने 'सरस्वती' में प्रकाशित इस कहानी की परम्परा में कई अन्य कहानियों को गिनाया है और प्रथम मौलिक कहानी सितम्बर 1903 में प्रकाशित रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' मानी है।[4]

'इन्दुमती' में अजयगढ़ के राजकुमार चन्द्रशेखर तथा देवगढ़ के भूतपूर्व शासक, जो यवन इब्राहीम की कुदृष्टि के कारण पत्नी द्वारा आत्महत्या कर लेने पर उससे बदला लेने की इच्छा से अपनी चार वर्षीया पुत्री इन्दुमती के साथ जंगल में रहने लगा, की पुत्री इन्दुमती की प्रेमकथा अत्यन्त कठिन एवं विषम परिस्थितियों में भी सरलता के साथ वर्णित है।

'इन्दुमती' कहानी की नायिका इन्दुमती, जो अपने बूढ़े पिता के साथ जंगल में रहती है, उसने अपने अब तक के जीवन में बूढ़े पिता के अतिरिक्त किसी पुरुष को नहीं देखा है। एक दिन अजयगढ़ का राजकुमार चन्द्रशेखर भूला-भटका जंगल में पहुंचता है और इन्दुमती के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर हतप्रभ हो जाता है। वहीं स्थिति नवयौवन से युक्त राजकुमार को देखकर इन्दुमती की भी हो जाती है। दोनों एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। इन्दुमती का बूढ़ा पिता दोनों की परीक्षा लेता है और अन्त में सन्तुष्ट होकर (क्योंकि उसकी यह प्रतिज्ञा थी कि, जो व्यक्ति इब्राहीम को मारेगा, उसी से इन्दुमती ब्याही जायेगी, राजकुमार चन्द्रशेखर पूरी कर चुका होता है) उनका विवाह कर देता है। 'टेम्पेस्ट' की मिरांण्डा भी एक सघन जंगल में प्रोस्पेरो के साथ रहती है और प्रोस्पेरो भी मिरांण्डा की परीक्षा

1. 'हिन्दी साहित्य-कोश भाग-1' (पारिभाषिक शब्दावली) पृ० 237
2. 'प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युग' : डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही', पृ० 170
3. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 54
4. वही, पृ० 54

लेता है।

'इन्दुमती' पर बंगला और अंग्रेजी का प्रभाव मानते हुए जो प्रमाण दिये गये हैं, उनमें कुछ विशेष तत्व नहीं हैं। 'इन्दुमती' मौलिक कहानी है और उसमें विशुद्ध भारतीय वातावरण है। जिस युग में यह कहानी लिखी गई, वह युग हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक युग था। अतः भाषा और शिल्प की दृष्टि से इसमें किंचित कच्चापन होना स्वाभाविक है। फिर भी, उसकी भाषा, शैली, स्वरूप और आत्मा, सब पर लेखक का पूरा अधिकार दिखाई देता है। अतः वास्तविक अर्थ में हिन्दी की पहली मौलिक कहानी किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' ही है। इस कहानी में पहली बार अनुभूतिजन्य स्थितियों को रचनात्मक रूप देने का सराहनीय प्रयास मिलता है। साथ ही, कहानी पढ़ते समय मात्र कौतूहल का तर्कहीन रूप अनुभव नहीं होता है और न अवास्तविक स्थितियों के आरोपण का आभास ही मिलता है। राजकुमार चन्द्रशेखर तथा इन्दुमती के पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों का सहज और वैज्ञानिक विकास किसी भी व्यक्ति को अपने निकट की अनुभूति लगती है। 'इन्दुमती' स्वतन्त्र रूप में इतनी प्रभावशाली कहानी है कि हिन्दी की पहली कहानी होते हुए भी उसकी भाषा तथा शिल्प में कथानक को पूर्णरूप में तथा प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त कर पाने की क्षमता है।[1]

'इन्दुमती' के प्रकाशन के उपरान्त कुछ समय तक रूपान्तरित और अनुवादित कहानियों की बाढ़-सी आ गई। 'सरस्वती' और 'इन्दु'[2] में अंग्रेजी और बंगला से अनूदित बहुत-सी कहानियां प्रकाशित हुईं। बंगला से कहानियों के अनुवादकों में गिरिजाकुमारी घोष, लाला पार्वतीनन्दन तथा 'बंग महिला' प्रमुख हैं। इन अनूदित कहानियों से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इनके द्वारा हिन्दी में साहित्यिक कहानियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और ऐसी कहानियां एक के पश्चात एक अस्तित्व में आने लगीं। 'सरस्वती' और इसी प्रकार 'इन्दु' ने मौलिक कहानियों को भी प्रोत्साहन प्रदान किया।

इधर की खोजों के आधार पर माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' ('सरस्वती' : अप्रैल 1901) को पहली कहानी स्वीकार किया गया है।

'सप्रे जी की कहानियों में बहुत-कुछ ऐसा है, जो हिन्दी कहानी के स्वरूप-विकास की नितान्त प्रारम्भिक स्थितियों का द्योतन करता है। अवश्य ही उससे हिन्दी के इतिहास-लेखकों तथा अनुचिन्तकों को प्रचलित मान्यताओं पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा मिलेगी। यह आवश्यक नहीं है कि किसी एक ही कहानी को हिन्दी की

1. 'हिन्दी कहानी : 15 एय चिन्ह' : सम्पा० प्रो० महेन्द्र प्रताप एवं बटरोही, पृ० 24

2. 'इन्दु' : सम्पा० जयशंकर प्रसाद, (प्रकाशन वर्ष 1909)

प्रथम कहानी का श्रेय दे दिया जाय, अनेक कहानियां प्राथमिकता के इस श्रेय की भागीदार हो सकती हैं। निस्सन्देह सप्रे जी की कहानियां ऐसी ही हैं।[1]

गुप्त जी के मतानुसार तो सप्रे जी की कहानियों में 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करती है; क्योंकि वह हिन्दी की प्रथम कहानी 'इन्दुमती' के समकक्ष दिखाई देती है।

'एक टोकरी भर मिट्टी' दोषमुक्त मर्मस्पर्शी कहानी है। कहानी के क्षेत्र में संवेदनशील भावना के सामुदायिक तथा मानवीय दायित्व को रूपायित कर लेने की परिकल्पना यहीं से आरम्भ होती है।···कहानी के रचना-विधान में ऐसा कौशल इसके पूर्व हमें तो दिखाई नहीं पड़ा।[2] देवीप्रसाद वर्मा जो 'माधव राव सप्रे की कहानियां' के सम्पादक हैं, 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी को प्रथम मौलिक कहानी मानते हुए अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं—'इस कहानी को इसलिए भी पहली कहानी का गौरव दिया जाना चाहिए कि एक साथ यह लोक-कथा के स्तर को भी छूती है और साहित्यिक कहानी के स्तर पर भी पहुंचती है। सप्रे जी की कहानी को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानने के और भी कई कारण हैं। इसका शिल्प एकदम अलग है और शिल्प के ऐसे प्रकार का प्रतिनिधित्व करता है, जो आगे के दशकों की कहानियों में क्रमशः विकसित होता गया। इस कहानी और आज की कहानी में एक क्रम सहजता से स्थापित किया जा सकता है। अतिशय भावप्रवणता अथवा अति कुतूहल को छोड़कर, पहली बार यह कहानी सामाजिक सन्दर्भों को विकसित करती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसका सन्दर्भ अपना है। पूरी स्थिति (सिचुएशन) को जिस तटस्थता से इसमें निर्मित किया गया है, वह इसे सातवें दशक की कहानी के नजदीक ला देती है। कहानी का गठन अटिल न होते हुए भी असाधारण है। मानवीय सम्बन्धों को भी बड़ी सहजता से उभारा गया है। ये तमाम बातें इस कहानी को उस समय की कहानियों से अलग और विशिष्ट बनाती है। 'इन्दुमती' में ऐसा कुछ भी नया नहीं है, जिसे आज की कहानी के स्तर पर रेखांकित किया जा सके। इसलिए सप्रे जी की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' ही हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी हो सकती है।'[3]

'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी सप्रे जी की अन्तिम कहानी थी। लेखक का इस कहानी के बाद कहानी न लिखना 'एक टोकरी भर मिट्टी' को यही प्रमाणित

---

1. माधवराव सप्रे की कहानियां : (प्रकाशकीय वक्तव्य) डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० 24
2. 'माधव राव सप्रे की कहानियां' : (अन्तर्भाष्य समीक्षा) डॉ० भालचन्द्र राव तेलंग, पृ० 15-16
3. 'माधवराव सप्रे की कहानियां' : सम्पा० देवी प्रसाद वर्मा, पृ० 24-25

करता है कि इसे उन्होंने परम लक्ष्य की प्राप्ति के रूप में निरूपित किया था।[1]

'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी की मौलिकता पर भी यह कहकर सन्देह उठाया गया है कि यह 'नवशेखां का इंसाफ' का रूपान्तर है। प्रारम्भिक काल की कहानियों का सम्बन्ध दो स्रोतों से रहा है—एक संस्कृत कथाओं और दूसरा फारसी की कहानियों का।[2]

'हिन्दी साहित्य कोश' कार के उक्त मत को चुनौती दिये बिना, इतना तो स्वीकार किया जाना चाहिए कि हिन्दी कहानी को संस्कृत एवं फारसी साहित्य के साथ-साथ लोक-कथाओं की भी एक समृद्ध परम्परा प्राप्त हुई। लोक-कथाओं की परम्परा के इस महत्त्वपूर्ण प्रभाव ने हिन्दी कहानी को प्रारम्भ से ही निरन्तर प्रभावित किया। 'नवशेखां का इंसाफ' की जो कथा है, वैसी तमाम कथाएं अब भी लोक-प्रचलित है। 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी पर अगर छाप है, तो लोक-कथाओं की ही है, फारसी कहानी की नहीं।

कमलेश्वर द्वारा सम्पादित 'सारिका' के 'प्रसंग' स्तम्भ में हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी के रूप में 'एक टोकरी भर मिट्टी' को प्रस्तुत किया गया, जिस पर लगभग एक वर्ष तक निरन्तर चर्चा चलती रही।

हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारों-शोधकारों ने हिन्दी की प्रथम कहानी के रूप में कभी इंशाअल्ला खां द्वारा लिखित 'रानी केतकी की कहानी' (प्रथम प्रकाशन 1905) कभी पं० गौरीदत्त द्वारा रचित 'देवरानी-जिठानी की कहानी' (1870 डॉ० गोपाल राय द्वारा सम्पादित, वर्ष, 1966 ई० ग्रंथ निकेतन, पटना) कभी शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (1823-1895) की 'राजा भोज का सपना' का उल्लेख किया है। वास्तव में ये रचनाएं गद्यात्मक शैली में लिखे गए आख्यान तो हैं, किन्तु इन्हें कहानी की संज्ञा देना उचित नहीं होगा। 'हिन्दी साहित्य कोश' कार के अनुसार—'आधुनिक कहानी की कथात्मकता की झलक इंशाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' या 'उदयभानचरित', लल्लूलाल रचित 'सिंहासन बत्तीसी', 'माधवानल-कामकन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान', जटमल की 'गोराबादल की कथा', राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का 'राजा भोज का सपना' या 'वीरसिंह का वृत्तान्त' इत्यादि मौलिक और अनुवादित कथाग्रन्थों में मिलती है। कहानी के इस प्रारम्भिक काल में कहानियां प्रायः दो स्रोतों से सम्बन्धित थीं—एक संस्कृत कथा या लोकप्रचलित मौखिक कथाओं का स्रोत दूसरा उर्दू-फारसी की कहानियों का। पहले में संस्कृत के पौराणिक एवं धार्मिक कथाओं के अनुवाद तथा 'शुक बहत्तरी', 'सारंगा सदावृज',

1. माधवराव सप्रे की कहानियां : सं० देवीप्रसाद वर्मा, पृ० 22
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-9, पृ० 237

'किस्सा तोता मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'किस्साये चार यार', आते हैं और दूसरे में 'बागोबहार', 'किस्सा हातिमताई' व 'चहार दर्वेश', 'दास्ताने अमीरहमजा' 'तिलस्मे होशरुबा'—जैसी कहानियां रखी जा सकती हैं।[1]

यह ठीक है कि उक्त तीनों रचनाओं में कथा-तत्व भी है तथा किसी सीमा तक आधुनिक कहानी का-सा वस्तु-विन्यास भी दिखाई देता है, किन्तु कहानी के रूपबन्ध में हम जिन तत्त्वों की अपेक्षा रखते हैं, वे इसमें नहीं दिखाई देते हैं। जिस प्रकार हम पंचतंत्र, जातक अथवा पुराणों की कथाओं को आख्यानात्मक शैली से युक्त होते हुए भी कहानी नहीं मान सकते, उसी प्रकार उक्त तीनों कथा-रचनाओं को भी आधुनिक कहानी के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी की दूसरी मौलिक कहानी पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' है तथा तीसरी बंगमहिला की 'दुलाईवाली'। अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (1929) में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन कहानियों के विषय में लिखा है—

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें, तो तीन मिलती हैं—'इन्दुमती', (1900 ई०), 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903 ई०) तथा 'दुलाईवाली' (1907)। यदि 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है, तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली' का नम्बर आता है।[2]

'ग्यारह वर्ष का समय' बहुत सीधी-सादी कहानी है, जिसमें मात्र कथा कह देने का आग्रह दिखाई देता है। इसका कथानक पर्याप्त नाटकीय तथा अत्यन्त भावुकतापूर्ण है। भाषा भी क्लिष्ट तथा कृत्रिम है, जिसे एक अच्छी कहानी की भाषा नहीं कहा जा सकता, किन्तु श्लाघ्य ही इस कहानी की विशेषता यह है कि इसमें कुछ भावगत प्रयोग मिलते हैं।

दो मित्र रात को टहलते-टहलते एक उजड़े हुए गांव के खण्डहर में पहुंचते हैं। वहां संयोग से वे एक स्त्री को देखते हैं और उसका पीछा करके उसका परिचय प्राप्त करते हैं। स्त्री अपनी कहानी कहती है। स्त्री काशी की रहने वाली है। ग्यारह वर्ष पूर्व उसकी शादी उसी खण्डहर वाले गांव में हुई थी। देव-संयोग से गांव भयानक बाढ़ में बह गया और लड़की अपने पिता के घर काशी में रहने लगी। घर में उसे

---

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (पृ० 417) में। इसका प्रथम प्रकाशन ऐंग्लो ओरिएण्टल लखनऊ से 1905 और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से 1928 में माना गया है। इसकी रचना साहित्यकोशकार के अनुसार नवाब सआदत अली खां के आश्रय में (1800-1808 के बीच) हुई थी।
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-1 (पारिभाषिक शब्दावली), पृ० 237

बहुत कष्ट सहना पड़ता था --जिसके फलस्वरूप वह पति को ढूंढते हुए यहां तक पहुंची है। अन्त में पता चलता है कि स्त्री से बातें पूछने वाला व्यक्ति ही उसका पति है। इसकी पुष्टि पुरुष के हाथ में स्थित एक तिल करता है।

कहानी पहले स्त्री, और बाद में पुरुष के मुंह से कही गई है। इसी विकास क्रम की एक अन्य कहानी 45 वर्ष के एक पंडित तथा 20 वर्ष की उसकी पंडिताइन के दाम्पत्य की कहानी है --गिरिजादत्त वाजपेयी कृत 'पंडित और पंडिताइन।'[1] यह कहानी आदर्शात्मक उद्देश्य को पुष्ट करती हुई पति-पत्नी की पारिवारिक स्थितियों पर प्रकाश डालती है। कहानी मनोरंजक है तथा चरित्र का अन्तर्द्वन्द्व बड़े सराहनीय ढंग से अंकित किया गया है।

सन् 1907 ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित बंगमहिला की 'दुलाईवाली' एक ऐतिहासिक महत्त्व की कहानी है, जिसे पं० किशोरीलाल गोस्वामी तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कहानियों के बाद की महत्त्वपूर्ण कहानी कहा जा सकता है। इसे हिन्दी की प्रथम मौलिक आधुनिक कहानी भी स्वीकार किया गया है।[2] डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस कहानी का अध्ययन हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण माना है।[3]

'दुलाईवाली' मध्यवर्गीय परिवार की उत्कृष्ट सामाजिक कहानी है। यों कहानी का मूल विषय दो मित्रों का आपसी मजाक है। किन्तु कहानी का प्रारम्भ एवं निर्वाह जिस ढंग से किया गया है, उससे मजाक कहानी पर छाया नहीं, बल्कि एक गम्भीरता के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

इलाहाबाद के बंशीधर अपनी ससुराल बनारस से दुल्हन विदा कर मुगल-सराय जंक्शन से होते हुए आ रहे थे। मुगलसराय जंक्शन पर उनके मित्र नवलकिशोर भी अपनी पत्नी लेकर मिलने वाले थे, लेकिन वहां उसे कोई न मिला, बल्कि गाड़ी में उन्हें एक रोती हुई दुल्हन मिली। सहानुभूति और करुणा-वश बंशीधर जी उसे अपने संरक्षण में लिए इलाहाबाद स्टेशन पर उतरे। वहां उन्हें एक दुलाईवाली बुढ़िया मिली। उसी की देखरेख में सबको छोड़कर बंशीधर जी स्टेशन मास्टर को इस लावारिस दुल्हन के बारे में सूचना देने गए, और जब लौटकर आए तो वहां सब लापता थे--उनकी दुल्हन भी। बंशीधर जी परेशान होकर ज्यों ही आगे बढ़े, उन्होंने दुलाईवाली बुढ़िया को देखा और पूछने पर दुलाईवाली अपना घूंघट खोलकर हंस पड़ी और बंशीधर ने देखा वह नवल

1. 'सरस्वती' (सितम्बर 1903), पृ० 136
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-1 (पारिभाषिक शब्दावली), पृ० 237
3. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायण, पृ० 63

किशोर ही था।

कुछ शोधकर्त्ताओं ने भी इस कहानी को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी माना है। इस कहानी की, उस युग की सीमाओं को देखते हुए, कई उपलब्धियां हैं। यथार्थ जीवन का चित्रण तथा स्वाभाविक वर्णन का जो रूप इस कहानी में मिलता है, वह इस युग के अन्य कथाकारों में कम मिलता है। भाषा में आकर्षण है तथा चरित्रों का गठन भी बड़े स्वाभाविक ढंग से किया गया है।[1] प्रसंग के अनुरूप कथोपकथन, स्वाभाविकता और सजीव चित्रण के कारण इस यथार्थवादी कहानी को आज की कहानी के बहुत निकट माना जा सकता है। स्थानीय रंगत (लोकल कलर) यथार्थ चित्रण तथा पात्रानुकूल भाषा की दृष्टि से यह कहानी द्रष्टव्य है।[2]

'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली', ये तीनों कहानियां अपने अलग-अलग कोणों से तथा अभिव्यक्ति की भिन्नता के कारण हिन्दी की प्रारम्भिक मौलिक कहानियों में अपना विशेष स्थान रखती हैं। डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट ने भी अपने शोध-ग्रन्थ में इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए उनका विश्लेषण इस प्रकार किया है—'इन्दुमती' की स्वप्नमयता और रूमानी वातावरण, 'ग्यारह वर्ष का समय' की आत्मकथात्मक प्रवृत्ति तथा कहानी के विवरण प्रस्तुत करने का आग्रह एवं 'दुलाईवाली' की सहजता तथा स्वाभाविकता अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इन तीनों कहानियों का मूल्यांकन किया जाये, तो कहा जा सकता है कि इन तीनों कहानियों ने हिन्दी की प्रारम्भिक कहानी-परम्परा को क्रमशः संवेदना, भाषा और शिल्प दिया।[3]

प्रेमचन्द-पूर्व की कहानी की मूल प्रवृत्ति का अध्ययन करने के लिए उक्त तीनों कहानियों की विशेषताओं एवं प्रभाव को जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह एक संयोग ही कहा जा सकता है कि इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहानी 'उसने कहा था' में इन तीनों कहानियों की प्रवृत्तिमूलक विशेषताओं का समग्र रूप देखा जा सकता है। इन तीनों कहानियों की स्वतन्त्र रूप से आलोचना करने पर कहानी का पूर्ण रूप नहीं पाया जा सकता, किन्तु किसी एक पहलू का श्रेष्ठ कलात्मक रूप इनमें विद्यमान है। 'उसने कहा था' कहानी इन तीनों रूपों की कलात्मक एकसूत्रता लिए हुए है। कथानक, भाषा तथा शिल्प—तीनों

---

1. 'प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युग' : डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट, पृ० 174
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 341
3. 'प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युग' : डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट, पृ० 175

दृष्टियों से वह एक श्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है तथा उसमें पाश्चात्य कहानी परम्परा के सभी गुण पूरी तरह स्पष्ट हुए हैं। हिन्दी कहानी के इतिहास में पहली बार पूर्वदीप्ति शैली (फ्लैश बैक) का प्रयोग भी इसी कहानी में हुआ है।

कालक्रम की दृष्टि से 'इन्दुमती', 'एक टोकरी भर मिट्टी' के उपरान्त तथा प्रसाद की 'ग्राम' कहानी से पूर्व प्रकाशित अन्य चर्चित कहानियां मास्टर भगवानदास बी०ए० की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902) किशोरीलाल गोस्वामी की 'गुलबहार' (1902), विद्यानिवास मिश्र की 'जिन्दा बहार' (1903), वृन्दावन लाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई' (1909) आदि आधुनिक कहानी के निकट हैं, किन्तु उनमें से कुछ विदेशी शैली की हैं, कुछ जीवनी, स्केच, इतिहास, निबन्ध के निकट हैं। कहानी-शिल्प का सौन्दर्य इनमें अपनी पूर्णता में नहीं दिखाई देता।

उक्त कहानियों में सबसे उल्लेखनीय कहानी वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई' है—जिसका अन्त नायक-नायिका की भावनाओं के तुषारपात के साथ पूर्णतया पाठक के ऊपर छोड़ दिया गया है। इस कहानी की पृष्ठभूमि राजस्थान के दो राजाओं से सम्बद्ध है, जो राजकुमारी पन्ना के राखी भेजने से विकसित तथा रनिवास में राजपुर नरेश एवं पन्ना के मिलन से परिवर्तित होती है। वृन्दावनलाल वर्मा की अन्य प्रसिद्ध कहानियां 'तातार और एक वीर राजपूत' और 'सफेजिस्ट की पत्नी' है। चूंकि वृन्दावनलाल वर्मा ने विशेष रूप से ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की, अतः उनकी कहानियों की संख्या बहुत कम है।

'सरस्वती' (1900 ई०) के प्रकाशन के उपरान्त सन् 1909 में बनारस से 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, जिसके माध्यम से दो मौलिक कहानी-लेखक प्रकाश में आए—जयशंकर प्रसाद तथा विश्वम्भरनाथ जिज्जा। विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने 'हास्य रसात्मक' कहानियों की रचना की थी। उनकी कहानी 'विदीर्ण हृदय' तथा एक अन्य चर्चित कहानी 'परदेशी' है।

आपके कहानी संग्रह 'घूंघटवाली' की कई कहानियों से उस समय के भावबोध का पूर्ण परिचय मिलता है। जिज्जा जी की कहानियां केवल कल्पना के आधार पर विचित्र मनःस्थितियों का परिचय दिलाती हैं। उनको मार्मिक स्तर तक पहुंचाने में वे प्रायः असमर्थ सिद्ध हुई हैं।[1]

प्रेमचन्द-पूर्व युग के हास्य-प्रधान कहानीकारों में जी०पी० श्रीवास्तव का नाम प्रमुख है। हास्य रसात्मक साहित्य को समृद्ध बनाने में इनकी बहुत बड़ी भूमिका रही है। हास्य रस की जिस परम्परा को भारतेन्दु ने 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' में स्थापित किया था, आपने हास्य को उसी दिशा में विकसित किया

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-1, पृ० 543

हैं।[1] 'लम्बी दाढ़ी' (1913) तथा 'पिकनिक' उनके कहानी-संग्रह हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी कुछ हास्य-प्रधान कहानियों की रचना की।

कहानी के रूपबन्ध की दृष्टि से 'इन्दु' में 1911 में प्रकाशित प्रसाद की कहानी 'ग्राम' विशेष उल्लेखनीय है, जो कहानी-कला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कहानी है। डॉ० रामरतन भटनागर ने इसे ही आधुनिक हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी माना है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों के नाम गिनाते हुए प्रसाद की कहानी 'ग्राम' (1911) का नाम लिया है। प्रसाद की 'ग्राम' कहानी वर्णनात्मक होते हुए भी यथार्थवादी वातावरण की कहानी है, जिसमें आंचलिक विषमता भी है, आकस्मिक संगीत तत्त्व भी और प्रसाद की रोमांटिक दृष्टि भी।[3]

सन् 1911 में 'भारत मित्र' में चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'सुखमय जीवन', 'इन्दु' में प्रसाद की 'रसिया बालम' (1912), 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'प्रतिध्वनि' तथा राधिकारमण प्रसाद सिंह की भावपूर्ण कहानी 'कानों में कंगना' (1913 ई०), 1913 ई० में ही 'सरस्वती' में एक अन्य बहुचर्चित कहानी विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षाबन्धन' आदि कहानियों के प्रकाशन से हिन्दी जगत में कहानियों की बाढ़-सी आ गई और जिसकी परम्परा आज भी अबाधगति से विकसित हो रही है।

अक्टूबर 1915 ई० में हिन्दी की युग प्रवर्तक कहानी 'उसने कहा था' चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई, जिसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है।

'यह कहानी हिन्दी कहानी के क्षेत्र में स्पष्ट युगबोध को रेखांकित करती है। भाषा, शिल्प, वातावरण तथा कथ्य का चुनाव सभी दृष्टियों से यह कहानी अभूतपूर्व है तथा हिन्दी के अगले कई वर्षों तक इतनी सशक्त कथाकृति नहीं लिखी गई।'[4]

अपना कर्तव्य निभाते हुए प्रेम के सन्दर्भ में मौन बलिदान, इस कहानी के चरित्र लहनासिंह को ऐसी नैतिक, भावात्मक ऊंचाई प्रदान करती है, जो पाठक को झकझोर कर रख देती है। इस कहानी के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

---

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-1, पृ० 203
2. 'हिन्दी की पहली कहानी' : सम्पा० डा० देवेश ठाकुर, पृ० 17
3. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : गिरीश रस्तोगी एवं जयदीश प्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 5
4. 'प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युग' : डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट, पृ० 175

का मानना है कि—'इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है।··· इसकी घटनाएं ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।'[1]

'गुलेरी' जी की 'उसने कहा था' कहानी हिन्दी कहानी साहित्य की शैशवावस्था में भी जिस आदर्शोन्मुखी यथार्थ की प्रतिष्ठा करती है, वह आज भी चिर नूतन है। हिन्दी के लिए यह बड़े गर्व की बात कही जा सकती है कि इतनी सशक्त कहानी, इतने आरम्भिक दिनों में ही लिखी जा चुकी थी···प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि पर पवित्र प्रेम के निमित्त अमर बलिदान की यह कहानी प्रेम और कर्तव्य, दोनों ही चरम संवेदना का अद्भुत मिश्रण है। 'उसने कहा था' में संकेतों तथा स्मृतियों के आधार पर कहानी के वर्ण्य-विषय के अतिरिक्त एक और सूक्ष्म कथानक तथा वातावरण की सृष्टि होती चलती है।[2] हिन्दी-कहानी-साहित्य के इतिहास में पहली बार प्रयुक्त पूर्वदीप्ति (फ्लैश बैक) शैली ने इस कहानी के प्रभाव को और भी स्थायी बना दिया है।

आधुनिक हिन्दी कहानी के क्षेत्र में इसे प्रथम कहानी का वर्जा देते हुए राजेन्द्र यादव लिखते हैं—'हिन्दी की पहली मौलिक और कलापूर्ण कहानी चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' (1916) है और उससे ही आधुनिक कहानी का प्रारम्भ मानना चाहिए।'[3] इसी बात का समर्थन हमें 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सम्पा० डॉ० नगेन्द्र) में रामचन्द्र तिवारी के कथन में भी देखने को मिलता है—'पहले महायुद्ध की पृष्ठभूमि को लेकर लिखी गई यह कहानी रचना-शिल्प की दृष्टि से अपने समय से बहुत आगे की रचना है। आधुनिक हिन्दी कहानी का आरम्भ यहीं से मान्य होना चाहिए।'[4]

'उसने कहा था' व 'सुखमय जीवन' के अतिरिक्त गुलेरी जी की तीसरी कहानी 'बुद्धू का कांटा' के सम्बन्ध में कोई निश्चित तिथि नहीं मिलती, किन्तु सम्पादक शक्तिधर गुलेरी का अनुमान है कि वह 1911 से 1915 के बीच प्रकाशित हो चुकी होगी।[5] उक्त तीनों ही कहानियों की पृष्ठभूमि सामाजिक है और तीनों कहानियां प्रेम और कर्तव्य के मध्य अन्तर्द्वन्द्व से सम्बद्ध हैं। 'उसने कहा था' कहानी को हिन्दी कहानी के क्रमिक विकास का एक सोपान नहीं माना

1. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 344
2. 'प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युग' : डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट, पृ० 176
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 13
4. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 523
5. 'गुलेरी की अमर कहानियां' : सम्पा० शक्तिधर गुलेरी (वक्तव्य), पृ० 3

जा सकता। सुप्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र इसके रचे जाने के पीछे संयोग की महत्ता को स्वीकार करते हैं।[1] एक परिपक्व, कलापूर्ण, सुसंगठित और श्रेष्ठ कहानी स्वीकार करते हुए 'हिन्दी कहानी : 15 पग चिह्न' नामक पुस्तक की भूमिका में इस कहानी की कलात्मक ऊंचाई के सम्बन्ध में जो कहा है, वह अत्युक्ति नहीं है—'उसने कहा था' कहानी के पाठक को प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियां भी पर्याप्त असंपठित लग सकती हैं।[2]

सन् 1915 में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द का आगमन हुआ और उसी वर्ष दिसम्बर में उनकी प्रथम कहानी 'सौत' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। यहीं से 'प्रेमचन्द-युग' प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि 'प्रेमचन्द-पूर्व-युग' में ही प्रेमचन्द और प्रसाद की छिटपुट कहानियां प्रकाशित हो चुकी थीं, तथापि उनका चरम और वैभवपूर्ण विकास प्रेमचन्द-युग में ही परिलक्षित होता है।

कथा-चिन्तन

प्रेमचन्द-पूर्व-युग हिन्दी कहानी का प्रथम युग है। इस युग में कहानियां मात्रा की दृष्टि से काफी कम हैं, साथ ही रूपबन्ध की दृष्टि से भी कहानियों में विवरणात्मकता ही अधिक दिखाई देती है।

प्रेमचन्द-पूर्व-युग के कहानीकारों ने नैतिकता से प्रभावित होकर आदर्शवादी कहानियों की रचना की और उस आदर्श को प्रतिष्ठित करने के प्रयास में उन्हें कल्पना की अतिशयता का भी सहारा लेना पड़ा। साथ ही इन सारी कहानियों में मनोरंजकता उसका प्रधान गुण है। 'यहां वर्णनात्मक शैली की मनोरंजन प्रधान कथा-रचनाएं लिखने की प्रवृत्ति अधिक थी।'[3] इसी मनोरंजकता के निर्वाह के लिए कहानी के शिल्प को कुछ इस तरह गढ़ा गया है, उसका ढांचा कुछ इस तरह खड़ा किया गया है, जिसमें पाठक की उत्सुकता लगातार बनी रहे। 'इन्दुमती का कल्पना-प्रधान-प्रेम, शुक्ल जी की कहानी' 'ग्यारह वर्ष का समय' में दीरान जण्डहर में बकेली अपना समय बिताने वाली धवलवस्त्रा महिला, 'दुलाईवाली' में रेल की यात्रा, ये सभी घटनाएं एक खास ढंग की रहस्यमयता की सृष्टि करती हैं और उसी के सहारे पाठक की उत्सुकता को बरकरार रखते हुए उसकी मनोरंजकता को बनाए रखने में समर्थ हैं। 'संस्कृत कथाओं और

---

1. 23 'हिन्दी कहानियों की भूमिका', पृ० 3
2. 'हिन्दी कहानी : 15 पग चिह्न' (भूमिका), सम्पा० प्रो० महेन्द्रप्रताप एवं बटरोही, पृ० 28
3. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कोश' भाग-I (प्राक्कथन) सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 1

लोककथाओं के अनुकरण पर लिखी इन कहानियों में अलौकिक और आकस्मिक संयोग, अद्भुत तत्व और कुतूहल का प्राधान्य है। निश्चित सिद्धान्तों और आदर्शों की पूर्ति के निमित्त कहानी 'गढ़ने' के कारण कल्पना का प्रयोग होता था।[1] मनोरंजकता के अलावा इन कहानियों में 'कभी-कभार सामाजिक समस्याओं और मानव-जीवन को रेखांकित करने की चेष्टा इस समय देखी जा सकती है। 'इन्दुमती' और 'प्लेग की चुड़ैल' इस कथा-रूप का उदाहरण है।'[2] इस तरह इस युग की कहानियों का विश्लेषण करने पर एक बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि ये कहानियां अपने समय की समस्याओं से जूझती हैं तथा इनमें अपने समय का प्रतिबिम्ब भी यथासम्भव निरूपित हुआ है। 'हालांकि प्रारम्भिक कहानियों में आदर्शवाद है, लेकिन यथार्थ की ओर बढ़ने की ललक उनमें साफ दिखाई देती है। वे उन्हीं आदर्शवादी मर्यादाओं को स्वीकार करती हैं, जो सकारात्मक हैं और प्रायः प्रत्येक युग में सराही जाती हैं।'[3]

सांस्कृतिक दृष्टि से यह काल भारतीय इतिहास का पुनरुत्थान काल कहा जाता है, प्रायः यही प्रवृत्ति प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, 'कौशिक', राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह व 'गुलेरी' आदि की कहानियों में दिखाई देती है। हिन्दी की आधुनिक कहानी को एक स्पष्ट विधागत व्यक्तित्व प्रदान करने की परम्परा भी हमें इस काल की कहानियों में मिलती है। विशेष रूप से 'उसने कहा था' अपने शिल्प, कथानक तथा चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रस्थान-बिन्दु तो कही ही जा सकती है।

जिन दिनों हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी लिखी गई, वह भारतीय समाज का सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त हलचल से युक्त समय था। सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर अनेक सुधारवादी आन्दोलन प्रकाश में आ रहे थे। राजनीति में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (1885) की स्थापना से लेकर धर्मसमाज, ब्रह्म-समाज आदि का जन्म तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजाराम मोहनराय—जैसे मनीषी समाज सुधारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय समाज एक नई करवट लेने की बेचैनी में था। यही बेचैनी हमें प्रेमचन्द युगीन कहानियों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती है। स्पष्ट है कि कोई भी परम्परा एकाएक निर्मित नहीं हो जाती। लम्बे समय तक पुरानी और विद्यमान विचारधाराओं

---

1. 'समकालीन कहानी : युगबोध का सन्दर्भ' : पुष्पपाल सिंह, पृ० 52
2. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी-कोश' भाग-1, सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 1
3. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तर्यात्रा' : अमिताभ, डॉ० वेदप्रकाश, पृ० 15

का एक संघर्ष प्रत्येक नवीन परम्परा को निर्मित करने में सहायता करता है। फलस्वरूप यदि प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी कहानी को परम्परा और नवीनता के द्वन्द्व का दौर कहें, तो सम्भवतः अनुचित नहीं होगा। और सम्भवतः यही कारण है कि इस युग की कहानियों की मूल दृष्टि सुधारवादी होते हुए भी इनमें किसी प्रकार का बना-बनाया सुधारवादी मॉडल दिखाई नहीं देता।

'प्रेमचन्द पूर्व के कथाकारों की एक पूरी-की-पूरी परम्परा है, जिन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य में प्रारम्भिक प्रयास किये। ये प्रयास साहित्यिक रूप से अधिक अनुशासित तथा पुष्ट नहीं हैं, लेकिन उनके अध्ययन के बिना हिन्दी कथा-साहित्य का अध्ययन अधूरा होगा। बहुधा यह कहा जाता है कि प्रेमचन्द का उदय एक स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में हुआ, और हिन्दी कथा-साहित्य का प्रारम्भ वहीं से हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी कथा-साहित्य का विकसित रूप हमें प्रेमचन्द की रचनाओं के बाद ही देखने को मिलता है, किन्तु प्रेमचन्द से पूर्व भी एक सशक्त परम्परा तथा कथा साहित्य के सम्बन्ध में विशाल जनरुचि का निर्माण हो चुका था।'[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अपनी संरचना और अपनी विषय-वस्तु में भी पहली बार—एक कच्चे और अपरिपक्व रूप में हिन्दी कहानी ने प्रेमचन्द-पूर्व-युग के उत्तरार्द्ध को अपना व्यक्तित्व ग्रहण किया।

(ख) प्रेमचन्दयुगीन कथा-साहित्य (1915-1936)

हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द का पदार्पण एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह युग सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त संघर्षपूर्ण था। फलस्वरूप इस युग के कहानीकारों ने अपनी कहानियों में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों को रेखांकित किया। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों के माध्यम से पूरे युग का नेतृत्व किया है। यों तो सन् 1901 में उन्होंने उर्दू में नवाबराय के नाम से अपना साहित्यिक जीवन शुरू किया और उनका पहला कहानी-संग्रह 'सीजे वतन' (उर्दू में) सन् 1908 ई० में प्रकाशित हुआ, किन्तु उनकी प्रथम हिन्दी कहानी 'सौत' दिसम्बर 1915 ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कुछ प्रारम्भिक कहानियां 'पंच परमेश्वर' (1916), सज्जनता का दण्ड (1916), 'ईश्वरीय न्याय' (1917) और 'दुर्गा का मन्दिर है' हैं। बालपतिचन्द्र गुप्त 'पंच परमेश्वर' (1916) को प्रेमचन्द की

1. 'प्रेमचन्द-पूर्व के कथाकार और उनका युग' : डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट, पृ० 59

पहली कहानी स्वीकार करते हैं।[1]

कहानी की दृष्टि से प्रेमचन्द का युग (1915-1936) असाधारण समृद्धि का युग था। इस प्रकार सन् 1915 से लेकर मृत्युपर्यन्त, सन् 1936 तक तत्कालीन समाज की विचारधारा, धर्मभीरुता, रीति-रिवाज आदि का चित्रण करते हुए उन्होंने, यथार्थोन्मुखी आदर्शवाद से अनुप्राणित होकर लगभग 300 कहानियों की रचना की, जो 'मानसरोवर' (आठ भाग) और 'गुप्त धन' (दो भाग) में प्रकाशित हैं। 'कफन', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआं', 'ईदगाह', 'बड़े भाई साहब', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'सवा सेर गेहूं', 'बड़े घर की बेटी', 'दो बैलों की कथा', 'अलग्योझा' आदि उनकी प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ कहानियां हैं।

असाधारण प्रतिभा के धनी प्रेमचन्द विश्व-साहित्य के उन विरले कथाकारों में हैं, जिन्होंने कहानी-विधा को मनोरंजन, कोरी कल्पना और कौतूहल की स्तरहीनता से एकदम हटकर मानवीय गम्भीरता, गहरी संवेदना तथा यथार्थ के जीवन्त व दृष्टिसम्पन्न समावेश से साहित्यिक और कलात्मक गौरव प्रदान किया।

हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द के महत्त्व को इस बात से आंका जा सकता है कि हिन्दी कहानी के इतिहासकार सम्पूर्ण हिन्दी कहानी को उन्हीं के नाम से विभाजित करते हैं। निस्सन्देह प्रेमचन्द में विश्व स्तर के एक महान कथाकार की प्रतिभा विद्यमान थी तथा उन्होंने मनुष्य के अन्तर्मन से लेकर, समाज में चारों ओर फैली व्यापक समस्याओं तक को अपनी कहानियों में समेटा है। यही कारण है कि प्रेमचन्द का रचनात्मक दर्शन समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। अपने रचनात्मक जीवन के आरम्भिक काल में वे घुर आदर्शवादी थे। 'सौत', 'पंच परमेश्वर', 'सज्जनता का दण्ड', 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर' आदि कहानियां इसी प्रकार की हैं। 1920-22 तक आते-आते प्रेमचन्द की कहानियों में यह साफ दिखाई देता है कि आदर्शवाद के प्रति धीरे-धीरे उनका मोह भंग होने लगा था। उन्हें संभवतः यह महसूस होने लगा कि कोरे आदर्शों के प्रस्तुतीकरण से समाज को प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी काल में उनकी कहानियों में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का चित्रण दिखाई देने लगा। 'नमक का दरोगा', 'सवा सेर गेहूं', 'ठाकुर का कुआं', 'अलग्योझा', 'बड़े घर की बेटी', आदि कहानियों में यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। प्रेमचन्द की कहानी को सामाजिक या समष्टिमूलक कहे जाने के पीछे ऐसा नहीं है कि उसमें व्यक्तित्व या व्यक्तिहित की चिन्ता का अभाव है, बल्कि प्रश्न बल देने और जीवन तथा जगत को आंकने की कसौटी का है। प्रेमचन्द की कहानी को जब सामाजिक या समष्टिमूलक

1. 'साहित्यिक निबन्ध' : डॉ० यज्ञपतिचन्द्र गुप्त, पृ० 414

कहा गया, तब केवल इतना ही कहना है कि वह कहानी की रचना इस उद्देश्य से करते हैं कि समाज के सुधार तथा विकास में व्यक्ति या मानव का हित छिपा है।[1]

प्रेमचन्द अपने अन्तिम दिनों में प्रगतिशील जीवन-दर्शन से प्रभावित हो गए थे। महाजनी सभ्यता विषयक उनके लेख तथा 1936 में श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन को लिखे उनके पत्र से इस बात की पुष्टि होती है। इस काल की उनकी कहानियों ('कफन', 'पूस की रात') में यथार्थवाद के प्रति जो उत्कट भाव दिखाई देता है, उससे भी यह बात स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि प्रेमचन्द ने जिस आदर्शवाद को लेकर अपना रचनात्मक जीवन शुरू किया था, उससे अपने जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने स्वयं को पूरी तरह मुक्त कर लिया था। यहां हमें वे एक शुद्ध यथार्थवादी रचनाकार के रूप में खड़े दिखाई देते हैं।

प्रेमचन्द के समकालीन कहानीकारों में प्रेमचन्द के ही समानान्तर दूसरा नाम सुदर्शन (1896) का है। इन्होंने उपन्यास, नाटक, महापुरुषों की जीवनी, हास्य और बाल-साहित्य आदि अनेक विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई, परन्तु उनकी चर्चा अधिकांशतः एक कहानीकार के रूप में ही होती है। प्रेमचन्द के समान सुदर्शन भी उर्दू से हिन्दी में आए थे। प्रथम कहानी 'पुष्पलता', (1919) है।

साहित्यकोशकार के अनुसार हिन्दी में उनकी कहानी 'हार की जीत', जो सन् 1920 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, अपने नैतिकतापूर्ण निर्वाह की दृष्टि से आज भी स्मरण की जाती है। जहां तक समस्याओं के चयन, रोचकता तथा कथन-भंगिमा का सवाल है, सुदर्शन प्रेमचन्द से किसी भी रूप में कम नहीं ठहरते।

सुदर्शन के कहानी-संग्रह में 'पुष्पलता' (1919), 'सुप्रभात' (1923), 'परिवर्तन' (1926), 'सुदर्शन-सुधा' (1926), 'गल्पमंजरी' (1926), 'तीर्थयात्रा', (1927), 'सुदर्शन सुमन' (1934), 'पनघट', (1939) आदि उल्लेखनीय है।

सुदर्शन की कहानियों की जड़ें, जगत और मन के भीतर बहुत गहरे चली जाने के कारण पाठकों के हृदय को आन्दोलित करने की अपूर्व क्षमता से युक्त है। स्वाभाविकता और सहजता उनकी कहानियों के दो विशेष गुण हैं। उनकी कहानियों के कथानक सामाजिक परिवेश से ग्रहण किए गए हैं, जिनमें

---

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग-2 (नामवाची शब्दावली), द्वितीय संस्करण, 1986, पृ० 634

उनकी अद्‌भुत वर्णनात्मक क्षमता के दर्शन होते हैं। उन्होंने भारत ही नहीं, बल्कि विदेशी जीवन को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। 'एथेन्स का सत्यार्थी' कहानी यद्यपि विदेशी पृष्ठभूमि पर ही आधारित है, लेकिन इसकी केन्द्रीय समस्या भारतीय है। साथ ही, इसमें मानव-मात्र की रागात्मक संवेदना को अत्यन्त कलात्मकता के साथ व्यक्त किया गया है।

'एथेन्स का सत्यार्थी' में कथाकार ने उस सूक्ष्म और अमूर्त स्तर की मानवीय जिजीविषा की ओर संकेत किया है, जो हमारे साथ जुड़ी हुई होने पर भी हमसे सदा दूर रहती है। सत्य क्या है और सत्य का स्वीकार व्यक्ति को जिस तरह मानसिक असाधारण्यता की ओर ले जाता है, इसे कहानी के नायक देवकुलीश के माध्यम से जाना जा सकता है। सत्य के साक्षात्कार में देवकुलीश की आँखें फूट जाना बाहरी स्तर पर जहां कहानी के दुःखात्मक अन्त को इंगित करता है, वहीं दूसरी ओर वह एक प्रकार का सुखात्मक अन्त भी है कि मानवीय सत्य का साक्षात्कार ही वास्तव में जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में सत्य के साक्षात्कार के बाद भौतिक चक्षुओं की आवश्यकता नहीं रह जाती, फिर वह ज्ञान-चक्षुओं के माध्यम से ही सब कुछ देखने लगता है। गहन जीवानुभव दृष्टि को पारदर्शी बना देते हैं और व्यक्ति जीवन को समग्रता और सापेक्षता में देखने लगता है।

सुदर्शन के साथ ही विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1891-1945) भी प्रेमचन्द की परम्परा के कहानीकार माने जाते हैं। 'कौशिक' जी की 'रक्षाबन्धन' कहानी यद्यपि 1912 ई० में ही 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुकी थी, पर उनकी कहानी-कला में विशेष निखार और रचनात्मक व्यक्तित्व प्रेमचन्द-युग में ही सामने आया। कौशिक जी ने लगभग 300 कहानियां लिखीं, जो 'कल्पमन्दिर', 'चित्रशाला', (दो भाग), 'प्रेमप्रतिमा', 'मणिमाला', 'कल्लोल' आदि संग्रहों में संकलित हैं। इन्होंने साधारण मनोरंजनपूर्ण कहानियां लिखी हैं, किन्तु साथ ही एक समालोचक की दृष्टि से 'कौशिक' जी ने अपनी अधिकांश कहानियों में नैतिकता को समाज-कल्याण की कसौटी पर परखकर, समष्टिवादी चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है और यथार्थ के धरातल पर आदर्शों की स्थापना की है।[1]

प्रेमचन्द की भांति कौशिक जी की कहानियों के विषय भी अपने आस-पास के वातावरण से सम्बद्ध हैं और जिनमें सामाजिक जीवन की अनेक कुप्रथाओं—बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि का चित्रण गहरे कौशल के साथ किया गया है। इनकी अधिकांश कहानियां घटना-प्रधान हैं और घटनाओं की अधिकता के फलस्वरूप ही उनके पात्रों का उभार समुचित रूप से हो नहीं हो सका। किन्तु

1. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृ० 56

साथ ही चरित्र-प्रधान कहानियों की भी रचना उन्होंने की है, जिनमें 'ताई' को प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। 'ताई' कहानी में ताई का चरित्र-परिवर्तन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकट होकर, पाठक को अभिभूत कर देता है। 'ताई' एक चरित्र-प्रधान कहानी है, जिसमें निःसन्तान स्त्री रामेश्वरी को उसके पारिवारिक परिवेश में रखकर उसके कुण्ठित मातृत्व की कथा कही गई है। रामेश्वरी स्नेह और ईर्ष्या के द्वन्द्व से गुजरती है और अन्त में मनोहर के गिर पड़ने वाली मर्मस्पर्शी घटना से उसके भीतर का वात्सल्यभाव अपनी पूरी मार्मिकता और समग्रता में फूट पड़ता है और ईर्ष्या की भावना समाप्त हो जाती है। एक मार्मिक घटना से चरित्र का यह मोड़ मात्र चरित्र तक ही सम्बन्धित नहीं रहता, बल्कि उस समस्या का भी समाधान करता है, जो केवल ताई को ही नहीं बल्कि उसके पति और परिवार को भी अपने में समेटे थी।[1]

पूरी कहानी इतनी सहज गति से आगे बढ़ती है कि सरसरी तौर पर देखने से उसमें कोई विशिष्टता परिलक्षित नहीं होती। कहानी में प्रवाह लाने के लिए संयोगों एवं कल्पना का सहारा भी लिया गया है तथा इनकी कहानियों में ग्राम्य जीवन की अपेक्षा नगर-जीवन का चित्रण अधिक देखने को मिलता है। कौशिक जी की कहानियों के स्वरूप सम्बन्धी लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के ये निष्कर्ष पर्याप्त संगत प्रतीत होते हैं—'कौशिक जी की कहानियों में मानव हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रस्फुटन अत्यन्त सुन्दर रूप में हुआ है। वे पारिवारिक एवं व्यक्तिगत चित्रण करने में प्रवीण हैं।.....उनके पात्र समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। भाषा की व्यावहारिकता, स्वाभाविकता और उसके संयमित रूप ने 'कौशिक' जी की कथोपकथन शैली में एक अनूठापन उत्पन्न कर दिया है।'[2]

सूक्ति रचने में 'कौशिक' भी प्रेमचन्द के समान ही सिद्धहस्त हैं और कहानियों में घटनाओं के बीच-बीच में उनसे सम्बद्ध कोई-न-कोई सूत्र-वाक्य छोड़ते चलते हैं—'ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है।'[3]

प्रेमचन्द, सुदर्शन एवं कौशिक को कथाकार-त्रय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। प्रेमचन्द-युग में ये पर्याप्त चर्चित कहानीकार थे। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और सुदर्शन शिल्प, विषयवस्तु और संवेदना में समान पैठ होते हुए भी कहानी-क्षेत्र में उस ऊंचाई को नहीं छू सके, जहां प्रेमचन्द आज भी अपनी पूरी

---

1. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : रामदरश मिश्र, पृ० 13-14
2. 'हिन्दी साहित्यकोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 107-108
3. 'ताई' कहानी का अंश।

परिमाण के साथ प्रतिष्ठित हैं। डॉ गोपाल राय ने भी इन तीनों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए प्रेमचन्द को ही श्रेष्ठ कहानीकार के रूप में स्वीकार किया है—'कौशिक और सुदर्शन ने यद्यपि कुछ अच्छी कहानियां लिखी हैं,..... जैसे कौशिक की 'ताई' और 'पाली' तथा सुदर्शन की 'हार की जीत,' 'कवि की स्त्री' आदि.....पर उनमें प्रेमचन्द की तरह विकास की सम्भावनाएं नहीं दीखतीं। फिर भी, प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियों तथा कौशिक और सुदर्शन की कहानियों में पर्याप्त समानता है.....वहीं संयोग के आधार पर कथानक की योजना, किसी आदर्श को केन्द्र में रखकर कथा की बुनावट, हृदय परिवर्तन के नुस्खे से सामाजिक समस्याओं का समाधान, हर जगह पुण्य की विजय और परम्परागत मूल्यों की स्थापना। विकास के दूसरे चरण में इनकी कहानियों में मनोविज्ञान का विकास हुआ, संयोगाधृत कथानकों में कमी आई और दोनों ने ही कुछ ऐसी कहानियों की रचना की, जो प्रेमचन्द की समकक्षता करती है, किन्तु, अपने विकास के तीसरे चरण में, प्रेमचन्द ने जिस कोटि की विशुद्ध यथार्थवादी कहानियां लिखीं, वैसी कहानियां कौशिक और सुदर्शन नहीं लिख पाए।'[1]

प्रेमचन्द युग की दूसरी प्रमुख धारा के महत्त्वपूर्ण कहानीकार है—जयशंकर प्रसाद (1889-1937)। प्रेमचन्द युग से ही हिन्दी कहानी की दो धाराएं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी—स्पष्ट दिखाई देती हैं। प्रेमचन्द और उनके कुछ समकालीन (सुदर्शन, कौशिक आदि) समाज में व्याप्त अन्याय विसंगतियों के चितेरे थे तो प्रसाद मानव-मन के सूक्ष्म रागात्मक सम्बन्धों के कथाकार।

इनकी (प्रेमचन्द और प्रसाद की) कहानीकला के स्वरूप तथा उद्देश्य में भारी अन्तर ही नहीं, पारस्परिक विरोध भी पाया जाता है। यह अन्तर इनकी परस्पर विरोधी जीवन दृष्टियों का परिणाम है, विभिन्न रचनाप्रक्रियाओं की देन है, विपरीत संवेदनाओं की परिणति है।[2]

प्रसाद की कहानी एक धारा एवं दिशा की सूचक है और प्रेमचन्द की कहानी दूसरी की। यह मात्र संयोग नहीं है कि इन दोनों युग-प्रवर्तक कथाकारों की परम्परा ने सम्पूर्ण परवर्ती हिन्दी कथा साहित्य को प्रभावित किया तथा आज तक भी ये दोनों परम्पराएं (जिसे कुछ आलोचकों ने 'प्रेमचन्द-स्कूल' और 'प्रसाद-स्कूल' कहा है) लगभग यथावत् विकसित होती दिखाई देती हैं।

प्रसाद, कहानीकार के साथ-साथ कवि, नाटककार, उपन्यासकार और

1. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 591
2. 'हिन्दी कहानी : पहचान और परख' : सम्पा० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 10

चिन्तक भी थे। इन सबकी समन्वित छाप उनकी कहानियों पर स्पष्ट है। 'जब हम प्रसाद को एक कहानीकार के रूप में देखते हैं तो उनके कवि और नाटककार रूप को भुलाकर नहीं। निश्चित रूप से प्रसाद पहले कवि हैं, नाटककार हैं, उसके बाद कहानीकार।'[1]

प्रसाद के बारे में अधिकांश इतिहासकारों, आलोचकों का यह कथन कि वे मूलतः कवि हैं, पूरी तरह संगत नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है कि प्रसाद की प्रतिभा का जो कलात्मक उद्घाटन उनके नाटकों में हुआ है, वैसा कवि, कहानीकार, उपन्यासकार अथवा निबन्धकार के रूप में नहीं। उनकी फुटकर कविताओं के संकलन 'आंसू' तथा महाकाव्य 'कामायनी' का मूल वरिष्ठ नाटकीय-संगठन और विन्यास का है। यही बात उनकी कहानियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' भले ही सन् 1911 ई० में ही 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुकी थी, किन्तु उनके महत्वपूर्ण कहानी-संग्रह 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल', (जिनमें उनकी समस्त 70 कहानियां संकलित हैं) इसी युग (प्रेमचन्द युग) में प्रकाश में आए। इनकी कहानियों की भावभूमि, प्रेमचन्द से बिलकुल भिन्न, मानवीय संवेगों के धरातल पर विकसित हुई है। मूलतः कथाकार न होते हुए भी उन्होंने हिन्दी कहानी की एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया, जिसका विकास परवर्ती काल में निरन्तर देखने को मिलता है। प्रसाद की कहानियों पर व्यक्तिमूलक चेतना से निबद्ध होने का जो आरोप लगाया जाता है उसके प्रतिकार में[2] इन्द्रनाथ मदान का यह तर्क पूरी तरह युक्तिसंगत है कि 'प्रसाद की कहानी को व्यष्टिमूलक संज्ञा जब दी गई है, तब इसका अभिप्राय मात्र इतना है कि इनकी कहानी में जो बोध झलकता है, वह व्यक्ति सत्य या व्यक्ति हित से अनुप्राणित है। वह व्यक्ति-विकास के आधार पर सामाजिक भाग्यताओं को आंकते तथा परखते हैं। इनकी कहानियों से यह ध्वनित होता है कि वह समाज किस काम का है, जिसमें व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता।"

कभी-कभी प्रसाद को भावुकतापूर्ण, रोमानी और जीवन के यथार्थ से पलायन करने वाले कथाकार की संज्ञा भी दी गई है। उदाहरण के लिए डॉ० गोपाल राय ने प्रसाद की कहानियों पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : गिरीश रस्तोगी, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 13
1. 'हिन्दी कहानी : पहचान और परख' : सम्पा० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 10

'कहानी लेखक के रूप में उनकी प्रकृति प्रेमचन्द से बिलकुल अलग है। जहां प्रेमचन्द का रुझान जीवन के चारों ओर फैले यथार्थ में था, वहां प्रसाद रूमानी स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी कहानियों में जीवन के सामान्य यथार्थ को कम और स्वर्णिम अतीत के गौरव, मसृण भावुकता, कल्पना की ऊंची उड़ान तथा काव्यात्मक चित्रण को अधिक महत्त्व मिला है।'[1]

उक्त स्थापना में प्रसाद की कहानियों के साथ न्याय किया गया प्रतीत नहीं होता। निसन्देह वे मन के सूक्ष्म संवेगों के कथाकार हैं, तथापि मन की सूक्ष्म परतों को उन्होंने मानव-मन की संवेदना के धरातल पर जिस प्रकार चित्रित किया है वैसा हिन्दी कहानी में अन्यत्र बहुत कम उपलब्ध होता है। मनुष्य सिर्फ बाह्य यथार्थ तक ही सीमित नहीं। उसका आभ्यन्तर जगत और जीवन भी यथार्थ ही है। डॉ० मदान के अनुसार—'प्रसाद मुख्यतया अनुभूति, गहन अनुभूति के रचनाकार हैं। उनके अनुभव की सीमाएं हैं और इसी कारण यथार्थवादी लेखकों जैसी व्यापकता उनमें प्राप्त नहीं होती।'[2]···किन्तु इन सारी सीमाओं के बावजूद कुल मिलाकर हिन्दी-कहानी-साहित्य में प्रसाद के महत्त्व को, उनकी 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'मधुवा', 'गुण्डा' आदि के वैशिष्ट्य को नकारा नहीं जा सकता।'[3]

प्रेमचन्दयुगीन अन्य प्रमुख लेखकों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, रायकृष्ण दास, ज्वालादत्त शर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त एवं सियारामशरण गुप्त आदि हैं और प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी कहानी के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी (1893-1973) की अधिकांश कहानियां (रोमानी) संवेदना से युक्त हैं। कथानक में अनेक प्रकार के घुमाव देकर, अन्त को सायास सोद्देश्य बनाने की प्रवृत्ति उनमें परिलक्षित होती है। उनकी कहानियों में प्रेम, विरह, करुणता, त्याग, हत्या, पश्चात्ताप, आत्मघात आदि मनोवृत्तियों का पर्याप्त चित्रण मिलता है, किन्तु बहुधा, ऐसी कहानियां संयोग-प्रधान बनकर रह जाती हैं। कुछ कहानियों में उन्होंने नये प्रयोग भी किये हैं, जैसे 'पं० सीताराम', 'सृष्टि का रहस्य', 'सीढ़ियां' आदि। उनकी प्रमुख कहानियां 'मधुपर्क', 'निंदिया लागी', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'मिठाईवाला', 'हृदयगति', 'तारा', 'स्वप्नमयी', 'शबनम', 'स्नेह और लौ' आदि हैं।

---

1. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 590
2. 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 196
3. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : मिरोश रस्तोगी, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 2.

'मिठाईवाला' इनकी चर्चित कहानी है, जिसमें एक सम्पन्न व्यक्ति अपने दो सुन्दर बच्चों की मृत्यु के उपरान्त फेरीवाले का रूप धारण कर कभी खिलौने, कभी बांसुरी, कभी मिठाई बेचकर वात्सल्य की अनुभूति करता है। यह 'मिठाई-वाला' कहानी में दर्द का उदात्तीकरण वात्सल्य के सन्दर्भ को लेकर है।[1] यह घर की सीमित परिधि से निकलकर, व्यापक विश्व में आत्मविस्तार की कहानी है। 'निंदिया लागी' इनकी दूसरी लोकप्रिय कहानी है, जो मध्यवर्गीय समाज में व्याप्त विसंगतियों का बड़ा अच्छा चित्रण करती है। पूरी कहानी में करुणा, रहस्य और कोमल संवेदना के तार झंकृत होते रहते हैं। 'निंदिया लागी', 'सीढ़ियां', 'टिकुली', 'खाली बोतल' आदि कहानियां यौन-सम्बन्धों की विशिष्ट कहानियां हैं। सम्भवतः इन्हीं कहानियों को दृष्टि में रखकर ही बाजपेयी जी की कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों के उद्घाटन की बात की जाती है।

'हिन्दी साहित्य कोश' कार के अनुसार 'संयोगों एवं घटनाओं का अपेक्षाकृत अत्यधिक सहारा लेने वाली उनकी प्रारम्भिक कहानियों में एकसूत्रता एवं इति-वृत्तात्मकता अधिक है। आगे चलकर सन् 1930-32 ई० के आस-पास से उनकी कहानियों में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर विश्लेषण एवं आकलन पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस कारण कथासूत्र का निर्माण अधिक चमत्कारिक होने लगा। सन् 40 के लगभग उनकी कहानियों में शिल्प का एकदम नया विकास प्राप्त होता है। अब इतिवृत्तात्मकता को एकदम छोड़कर छोटे-छोटे घटनाखण्डों, चिन्तन एवं स्मृति अंशों के बीच से कथा-सूत्र को नियोजित करने का प्रयास प्राप्त होता है। शैली की दृष्टि से उन्होंने वर्णनात्मक, स्वगत कथन, पत्रात्मक एवं डायरी शैली आदि अनेक विधियों का प्रयोग किया है। वास्तव में सन् 1930 से 1950 ई० के बीच लिखा उनका कथा-साहित्य ही उनकी प्रसिद्धि का आधार है।'[2]

वृन्दावनलाल वर्मा (1889-1969) मूलतः प्रेमचन्दयुगीन ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में जाने जाते हैं, जिन्होंने मध्यकालीन इतिहास के अनेक मानवीय पक्षों को लेकर कथा-सर्जना की है।

वृन्दावनलाल वर्मा की प्रथम कहानी 'राखीबन्द भाई' सरस्वती (1909) में प्रकाशित हुई थी जिसे प्रेमचन्द-पूर्व-युग की कहानियों में उद्धृत किया जाता रहा है। तथापि वर्मा जी का कथाकार व्यक्तित्व प्रेमचन्द युग में ही सामने आता है। वो मुख्य रूप से उपन्यासकार थे और इसी विधा में उनके रचनाकार व्यक्तित्व का सबसे सफल रूप भी उद्घाटित हुआ है, किन्तु एक कहानीकार के रूप में भी

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : रामदरश मिश्र, पृ० 40
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 376

उनके सर्जक व्यक्तित्व का योगदान कम नहीं है। 'कलाकार का दण्ड' ऋषभ अपनी कहानी में उन्होंने मानवीय जीवन के इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि जीवन सबसे मूल्यवान वस्तु है और कला कितनी ही सूक्ष्म और उच्चकोटि की क्यों न हो, उसकी प्रेरणा सीधे जीवन से ही प्राप्त होती है। मुख्यत: ऐतिहासिक कहानीकार होने के कारण प्राय: उनकी सभी कहानियों में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय मिलता है। 'अंगूठी का दान', 'दबे पांव', 'शरणागत', 'तोबी', 'राखीबन्द भाई', 'तातार', 'एक वीर राजपूत' आदि इनकी प्रमुख कहानियां है। वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियां किस्सागोई की शैली एवं वर्णनात्मक शैली— इन दो भिन्न प्रकार के शिल्प में नियोजित हैं।

रायकृष्ण दास (1892-1985) ने प्रसाद की ही तरह भावप्रधान कहानियों की रचना की। 'साधना' (1919), 'आख्यान' (1927), 'सुधांशु' (1922) इनके मुख्य कहानी-संग्रह है। 'अन्त:पुर का आरम्भ' और 'रमणी का रहस्य' आदि चर्चित कहानियों में वर्णित काव्यमय वातावरण व शिल्प-योजना की नाटकीयता को देखकर अनायास ही प्रसाद का स्मरण हो आता है। 'रायकृष्ण दास की कहानियां सामाजिक परिवेश में मनोवैज्ञानिक सत्यों की कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं। 'अन्त:पुर का आरम्भ' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी है, जिसमें प्रागैतिहासिक काल में अन्त:पुर के आरम्भ की मनोवैज्ञानिक कथा है।'[1] यों तो उन्होंने समाज, धर्म, इतिहास और राजनीति सभी से अपनी कहानियों के विषय चुने हैं, लेकिन अधिक सफलता उन्हें सामाजिक और ऐतिहासिक कहानियों में ही मिली है।

ज्वालादत्त शर्मा (1888-1958) के कहानी-लेखन के पीछे महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा की अहम भूमिका है। वे 1914 में कहानी-रचना की ओर प्रवृत्त हुए और इनकी प्रथम कहानी 'मिलन' 'सरस्वती' में 1915-1917 के बीच प्रकाशित हुई थी। कहानियों की संख्या बहुत कम होने के बावजूद, उनका हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में अपना स्थान है। 'भाग्यचक्र', 'अनाथ बालिका' आदि उल्लेखनीय कहानियां है। इनकी कहानियां प्राय: कथानक-प्रधान एवं सुधारवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित होने के कारण 'सुदर्शन' एवं 'कौशिक' आदि प्रेमचन्दीय कथाकारों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

गोविन्दवल्लभ पन्त (1898) की ख्याति हिन्दी-जगत में विशेष रूप से नाटककार के रूप में रही है, किन्तु नाटकों के अतिरिक्त आपने काव्य-रचना और कथा-साहित्य की भी रचना की है। इन्होंने अपने रचना-काल के प्रारम्भ में कहानियां लिखीं, जो 'एकादशी' (1924) तथा 'सन्ध्या-प्रदीप' (1981) इन दो

1. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 22

कहानी-संग्रहों में संग्रहीत हैं। इनकी कहानियों में यथार्थ जगत के कटु अनुभवों के साथ-साथ काल्पनिक जगत की स्वप्निलता का बड़ा ही अद्भुत समावेश द्रष्टव्य होता है।

सियारामशरण गुप्त (1895) की प्रायः सभी कहानियां गांधीवादी दर्शन से पूर्णतः प्रभावित हैं और 'मानुषी' कहानी-संग्रह में संग्रहीत है। इस संग्रह में सन् 1923 से 1930 ई० तक की अवधि के बीच लिखी गई कहानियां हैं। 'झूठ-सच' गुप्त जी की बेहतरीन कहानी है, जिसमें आधुनिक युगीन यथार्थवादी लेखकों की अवसरवादिता पर तीव्र प्रहार किया गया है। कहानी-कला की दृष्टि से भी इस कहानी का अपना महत्त्व है। कविताओं की भांति 'उनकी कहानियों को भी सात्विक उज्ज्वलता का वरदान प्राप्त है।'[1]

इस युग के अन्य लेखकों में विनोदशंकर व्यास ('तूलिका', 'भूली बात', 'मधुकरी' (दो भाग), 'नवपल्लव', 'उसकी कहानी', 'मणिदीप' इत्यादि कहानी-संग्रह), राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ('गांधी टोपी' और 'कुसुमांजलि'), चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ('नन्दन-निकुंज', 'गल्प-संग्रह', 'वनमाला'), गाचस्पति पाठक ('द्वादशी', 'कागज की टोपी', 'यात्रा' और 'सूरदास') भी उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इस युग में कहानी-रचना के नये-नये आयाम उद्घाटित हुए और लगभग सभी प्रकार की कहानियां लिखी गईं। विषय एवं घटना-वैविध्य भी इस युग की कहानियों में परिलक्षित हुआ। प्रेमचन्द ने अपने निजी लेखन और साहित्यिक व्यक्तित्व द्वारा हिन्दी कहानी को एक गम्भीर साहित्य-रूप का ही दर्जा नहीं दिया, बल्कि उन्होंने अनेक कहानी लेखकों को प्रेरित किया, जिनकी कहानियां हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन लेखकों में सुदर्शन 'कौशिक', अन्नपूर्णानन्द, जी० पी० श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह इत्यादि कहानीकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इन्हें हिन्दी कहानी के इतिहास में हम 'प्रेमचन्द-मण्डल' के रूप में जानते हैं।

कथा-चिन्तन

प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी कहानी का जन्म एक ऐसे समय में हुआ, जब भारतीय समाज में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत कुछ आशावादिता का संकेत मिलने लगा था। 1919 ई० में महात्मा गांधी का अफ्रीका से आगमन तथा धीरे-धीरे भारतीय राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण नक्षत्र के रूप में उदय तथा अन्य अनेक राजनीतिक, सांस्कृतिक प्रतिभाओं के समुदाय ने भारतीय समाज को सर्वथा नये

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 593

प्रकार के समाज को विकसित करने की प्रेरणा दी। यद्यपि अंग्रेजों के शासन के स्थापित हो जाने तथा भारतीय समाज में उनके द्वारा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में किये गये विभिन्न प्रयासों ने भारतीय समाज को एक नवीन दिशा अवश्य दी, तथापि विदेशी शासन और शोषण तंत्र पूर्ववत् विद्यमान था। गांधी जी के उदय, समाज के दलित एवं शोषित वर्ग के उत्थान तथा ज्ञान-विज्ञान की नवीन सम्भावनाओं के साथ परिचय ने एक नये भारतीय समाज की पृष्ठभूमि तो तैयार कर ही दी थी, इसीलिए प्रेमचन्दयुगीन कथा साहित्य अधिकांशतः सामाजिक विषमताओं, विरूपताओं, अन्धविश्वासों का चित्रण करता हुआ दिखाई देता है।

प्रेमचन्दयुगीन कहानी स्वयं प्रेमचन्द के शब्दों में, 'वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है; इतना ही नहीं, बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुप्राणित होकर कहानी बन जाती है।'[1] लेकिन साथ-ही-साथ वह यह भी स्पष्ट करते चलते हैं कि 'मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। कला केवल यथार्थ की नकल का नाम ही है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं है। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।'[2]

इस युग में प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक आदि सामाजिक समस्याओं को अपनी कहानियों में सीधे उठाने वाले कथाकार तो हैं ही, प्रसाद, 'हृदयेश' या राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह—जैसे अन्तर्मन की गुत्थियों से जुड़े कथाकार भी सामाजिक समस्याओं से विमुख नहीं थे। उदाहरण के लिए प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' की 'मधुलिका', 'आकाशदीप' की चम्पा या प्रेमचन्द के 'बड़े घर की बेटी' की आनन्दी, और 'रानी सारंधा' की सारंधा ऐसे चरित्र हैं, जो मानव-मन के अन्तरंग संवेगों को प्रस्तुत करने वाली चरित्र ही नहीं हैं, वरन् पुनर्जागरण काल की नारी-चेतना के विस्फोट को भी प्रस्तुत करते हैं। इस रूप में ये चरित्र (प्रसाद के अतिरिक्त अन्य कहानीकारों के चरित्र भी) सामाजिक समस्याओं के प्रतिनिधि अथवा वर्गीय चरित्र हैं।

प्रेमचन्द युग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह भी मानी जा सकती है कि इस युग में पहली बार कहानी को विधागत ढांचा प्रदान किया गया। आगे की रचना की सारी सम्भावनाओं के बीज इस युग में डाले जा चुके थे। प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को स्वावलम्बी बना दिया। इधर-उधर से उधार लेने की

1. प्रेमचन्द : 'कुछ विचार', पृ० 32
2. वही

आवश्यकता समाप्त हो गई। 'प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को मजबूत नींव ही नहीं दी, उसे कलात्मक ऊंचाई भी प्रदान की।'[1] अब तक जो कहानी केवल आख्यायिका अथवा न्याय-अन्याय के द्वन्द्व का चित्रण करते हुए, न्याय की विजय और अन्याय की पराजय दर्शाती थी। अब वह किसी सीमा तक यथार्थ के ढांचे में निबद्ध तथा स्वाभाविक चित्रण एवं विश्वसनीयता से युक्त मानी जाने लगी। कथानक की दृष्टि से भी उसमें प्रौढ़ता आई तथा भाषा एवं संवादों की दृष्टि से पहली बार उसमें आंचलिक द्वन्द्व तथा पैनापन दिखाई देने लगा। कहानी केवल मानव जीवन के सद्पक्ष को उद्घाटित करने वाली पवित्रतावादी रचना न होकर, जीवन के संघर्ष एवं यथार्थ को चित्रित करके मानव-जीवन की वस्तुपरक संवेदना को उभारने वाली विधा बनी तथा इसी सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि कहानी केवल मनोरंजन का साधन न रहकर मानव-जीवन के सत्य को चित्रित करने वाली रचना-विधा बनी।

प्रेमचन्द पहले हिन्दी कथाकार हैं जिन्होंने हिन्दी को उसकी सतही मनोरंजकता, रहस्यमयता, कल्पना-प्रधानता और उसमें निहित कृत्रिमता से हटाकर उसे व्यापक भारतीय जनता की समस्याओं से जोड़ दिया। उनकी कहानियों की विषयवस्तु अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इतनी सम्पन्न और वास्तविक यथार्थ से इतनी समृद्ध है कि वह अपना रूप स्वयं ग्रहण कर लेती है। 'कुल मिलाकर प्रेमचन्द-युग की कहानियां यथार्थवादी ज्ञान की कहानियां हैं। रूढ़ि, जड़ता, अन्धविश्वास आदि से मुक्त होकर प्रायः स्वस्थ मूल्यों से जोड़ने की कोशिश में वे निश्चय ही सार्थक बन पड़ी हैं।'[2] अब कहानी का साध्य मनोरंजन न होकर मानव-जीवन के सत्य का उद्घाटन बना। इस रूप में प्रेमचन्दयुगीन हिन्दी कहानी ने एक साथ प्रकारान्तर से कहानी-विधा की अनेक सम्भावनाओं को आत्मसात किया। डॉ० गोपाल राय का भी इससे मिलता-जुलता कथन इस प्रकार है—'तात्पर्य यह है कि इस युग में हिन्दी कहानी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं को पार कर वहां पहुंच गई, जहां से हमें इसके श्रेष्ठ रूप के दर्शन होने लगते हैं।'[3]

इस प्रकार, अब तक के अवलोकन तथा विवेचन के आलोक में, कहा जा सकता है कि हिन्दी कहानी के पारम्परिक स्वरूप का केन्द्र बिन्दु प्रेमचन्द ही हैं। गहराइयों में देखने पर, प्रेमचन्द हिन्दी कहानी परम्परा के महानायक का-सा

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : चिरीश रस्तोगी, जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 7-8
2. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तर्यात्रा' : वेदप्रकाश अमिताभ, पृ० 26
3. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 594

आभास देते हैं। किन्तु परम्परा 'विजिन्न' के योगदान से ही बनती है, इसलिए उनके पूर्ववर्ती या समवर्ती अन्य महत्त्वपूर्ण कहानीकारों का योगदान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

(ग) प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य (1936-1947 ई० तक)

वर्ष 1936 हिन्दी कथा-साहित्य के लिए अनेक प्रकार की सुख-दुःखात्मक घटनाओं से युक्त रहा। इसी वर्ष प्रेमचन्द का कालजयी उपन्यास 'गोदान' तथा उनकी बहुचर्चित कहानी 'कफन' का प्रकाशन हुआ तथा इसी वर्ष हिन्दी के इस युग-प्रवर्तक कथाकार का निधन भी हुआ।

बीसवीं शताब्दी का तीसरा दशक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। भारतीय राजनीति में गांधी जी पूरी तरह स्थापित हो चुके थे। 26 जनवरी, 1930 को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सारे देश में स्वाधीनता-दिवस मनाने का निर्णय लिया। 23 मार्च, 1930 को भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी की सजा दी गई। 12 सितम्बर, 1931 को 'गोलमेज कान्फ्रेंस' में भाग लेने गांधी जी लन्दन पहुंचे। 1932 ई० में बांधी जी ने 'हरिजन-समस्या' पर विशेष रुचि दिखाई तथा इस प्रकार समाज के दलित एवं शोषित वर्ग, हरिजन तथा नारी-जाति के उत्थान के सम्बन्ध में नए सिरे से प्रयास किये जाने लगे।

1936 ई० में ही लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ, जिसकी परिकल्पना अपने जीवन-काल में प्रेमचन्द ने ही की थी। इस रूप में प्रेमचन्द अपने अन्तिम समय में एक नये प्रगतिशील भारतीय समाज की कल्पना कर रहे थे। 1936 में उनकी मृत्यु के उपरान्त नया भारतीय समाज तो बना ही, हिन्दी कथा-साहित्य में कथ्य, भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से भी रचनाओं की नवीन परम्परा का जन्म हुआ।

1936 के बाद का हिन्दी कथा-साहित्य प्रेमचन्दोत्तर-युग के नाम से जाना जाता है। यह वह समय था जब हिन्दी कथाकारों पर देशी-विदेशी अनेक विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नये समतावादी समाज की परिकल्पना कार्ल मार्क्स तथा उनके अन्य अनुयायियों ने की थी, उससे हिन्दी के कथाकार अपरिचित नहीं थे। सिगमण्ड फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से तथा साहित्य के क्षेत्र में नवीन योरोपीय अवधारणा यथार्थवाद से भी हिन्दी कथाकार परिचित हो चुका था। बंगला साहित्य में हिन्दी से कहीं अधिक प्रौढ़ गद्य का विकास तथा 1913 ई० में रवीन्द्रनाथ टैगोर को 'नोबल पुरस्कार' मिलने के कारण बंगला साहित्य की कतिपय प्रवृत्तियों का प्रभाव भी हिन्दी कथाकारों पर दिखाई देने लगा था। इस

प्रकार मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद, पश्चिम के यथार्थवाद तथा बंगला-साहित्य की कतिपय प्रवृत्तियों से प्रभावित अनेक प्रकार की बहुआयामी कथा-रचाएं प्रेमचन्द की मृत्यु के आस-पास दिखाई देने लगी थीं। रचना की इस नई प्रवृत्ति को हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने 'प्रेमचन्दोत्तर युग' की संज्ञा दी।

प्रेमचन्द-युग में यद्यपि कहानियों की दो अलग-अलग परम्पराएं—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी—परिलक्षित होती है, किन्तु उस युग का मूल स्वर बहिर्मुखी ही रहा। प्रसाद की रचनाओं में निस्सन्देह अन्तर्मुखी परम्परा के दर्शन होते हैं, किन्तु ध्यान से देखने पर यह बात पहचानी जा सकती है कि वे पात्र भी किसी-न-किसी रूप में 'वर्ग पात्र' ही हैं। प्रसाद की अन्तर्मुखी परम्परा का वास्तविक विकास हमें प्रेमचन्दोत्तर युग के कहानीकारों में ही दिखाई देता है। एक प्रकार से प्रेमचन्दोत्तर काल 'वर्ग' (इण्डिविज्यूअल) पात्रों की समाप्ति और 'व्यक्ति' (टाइप) पात्रों के उदय का काल है।

'यह समय पूरे हिन्दी साहित्य के विविध रूपों में हलचल और परिवर्तन का था। मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन, मार्क्सवाद ने कहानी-क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रेमचन्द ने अगर सामाजिक व्यक्ति को और वर्ग के प्रतिनिधि पात्र को प्रस्तुत किया था तो उनके बाद के कहानीकारों ने समाज से कटे व्यक्ति का चित्रण करके वर्ग पात्रों के स्थान पर व्यक्ति पात्रों का चित्रण किया और पश्चिमी प्रभाव से मानव-मन की निहित शक्तियों और बाह्य व्यक्तित्व पर उनके प्रभाव को आंका जाने लगा। इससे पहले यह सत्य अपरिचित था।'[1] इस काल में लेखकों के प्रायः तीन वर्ग है—पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग उन लेखकों का है, जिन्होंने ऐसे 'व्यक्ति पात्रों' का निरूपण किया, जो मूलतः किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक समस्या के शिकार हैं अथवा इनके माध्यम से मानक के अवचेतन या अचेतन मन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया कि इन कथाकारों पर मनोविश्लेषणवाद का स्पष्ट प्रभाव था। अतः कहीं-कहीं तो कुछ कथाकार मनोवैज्ञानिक समस्या के सैद्धान्तिक निरूपणकर्ता के ही रूप में अधिक सामने आते हैं। प्रायः यही बात उन कथाकारों के बारे में भी कही जा सकती है जिन्होंने मार्क्सवाद का प्रभाव ग्रहण कर वर्ग संघर्ष का बहुत कुछ उपदेशात्मक चित्रण किया है। अस्तित्ववादी (सुरलिज्म) के प्रभाववश भी कुछ कथाकारों की रचनाओं में इस प्रकार का आग्रह दिखाई देता है। इन कहानीकारों में मुख्य रूप से जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय को

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : गिरीश रस्तोगी एवं जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 8

लिया जा सकता है। अपने लेखन के प्रारम्भिक दौर में ये प्रसाद की कथा संवेदना के अधिक निकट हैं। राजेन्द्र यादव का कथन भी इस सन्दर्भ में रेखांकित किया जा सकता है—'इन तीनों ने ही गोर्की और प्रेमचन्द के उपेक्षित (व्यक्ति) को अपना केन्द्र बनाया और सामाजिक नैतिकता के रहते, व्यक्तिता नैतिकता को रेखांकित किया है। हालांकि इसका हल्का-सा अपराध बोध भी इनमें है और समय-समय पर ये इसका प्रतिशोध करते भी दिखाई देते हैं।'[1] ये तीनों ही वर्ग, समूह या समाज से दृष्टि हटा व्यक्ति को केन्द्र में रखकर चलते हैं, अतः प्रेमचन्द के समान जनवादी न होकर, व्यक्तिवादी हैं। बाहरी दुनिया से टूटकर इन लेखकों में एक विचित्र किस्म की अन्तर्मुखता ने जन्म लिया और वस्तुपरकता से हटकर व्यक्ति के अंतरंग सूक्ष्म मनोभावों को उद्घाटित किया गया।

दूसरे वर्ग में वे लेखक हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द तथा सुदर्शन की परम्परा को ही आगे बढ़ाया। इस धारा के प्रतिनिधि लेखक यशपाल हैं। अन्य कथाकारों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा विष्णु प्रभाकर आदि मुख्य हैं। प्रेमचन्द व सुदर्शन की अपेक्षा इन कथाकारों में दृष्टि की सूक्ष्मता तथा घटनाओं के चुनाव का कौशल अधिक प्रकृष्ट रूप में मिलता है। इनका आग्रह शिल्प और भाषा के स्तर पर किसी प्रकार की नवीनता लाने का नहीं, बल्कि सामाजिक स्थितियों के गहन और मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर था।'[2]

प्रेमचन्द-परवर्ती कथा-साहित्य की तीसरी परम्परा में ऐसे बहुत-से कथाकार आते हैं, जो किसी पूर्ववर्ती विचार-परिपाटी के रूढ़ ढांचे के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते। इस धारा में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर और राजकृष्ण के नाम उल्लेखनीय हैं। 'उग्र' की रचनाओं में समाज में व्याप्त नग्न सत्यों को बिना किसी आडम्बर एवं लाग-लपेट के प्रस्तुत किया गया है, इसीलिए उनके समकालीन आलोचकों ने उन्हें 'घासलेटी साहित्य' का निर्माता कहा। इनकी कहानियां 'चिंगारियां' (1923), 'शैतानमण्डली' (1924), 'इन्द्रधनुष' (1927), 'बलात्कार' (1927), 'चाकलेट' (1928), 'दोजख की आग' (1929), 'निर्लज्जा' (1929) आदि कृतियों में संकलित हैं। मूलतः विद्रोही प्रकृति का होने के कारण उन्होंने कला की अलग से कभी कोई चिन्ता ही नहीं की, फलतः उनकी कहानियां कलात्मक गहराइयों से वंचित रह गई। इसी परम्परा में आचार्य चतुरसेन शास्त्री व ऋषभचरण जैन का भी उल्लेख किया जा

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : सम्पा० राजेन्द्र यादव, पृ० 28
2. 'हिन्दी कहानी : 15 प्रगतिचिह्न' : सम्पा० प्रो० महेन्द्र प्रताप बटरोही, पृ० 34

सकता है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री (सन् 1891-1960) ने अपनी कहानियों में सामाजिक परिस्थितियों का बेलौस चित्रण तो किया है, किन्तु उनकी शैली में 'उग्र' की-सी उग्रता और यथार्थवादिता नहीं मिलती है। चतुरसेन द्वारा लिखित कहानी साहित्य के अन्तर्गत लगभग 450 कहानियां आती हैं, किन्तु उनमें से कुछ ही अभिव्यक्ति की दृष्टि से सफल बन पाई हैं। 'मात्रा और परिमाण की अधिकता के कारण ही उनके लेखन में फैलाव और विस्तार की अपेक्षा, गहराई तथा गठन का अभाव है।'[1] शास्त्री जी ने विभिन्न युगों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित अनेक मार्मिक कहानियां लिखीं, जिनमें 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी' अत्यन्त प्रसिद्ध हुई, किन्तु बाद में ज्ञात हुआ और अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह कहानी बंगला-कथाकार हरिसाधन मुखोपाध्याय की 'सेलिसमा बेगम' कहानी का रूपान्तर है। उनकी अन्य कहानियों में 'अम्बपालिका', 'प्रबुद्ध', 'भिक्षुराज', 'वार्वजिन', 'हल्दीघाटी में', 'बाणवधू' आदि उल्लेखनीय हैं, इन सभी में भारतीय इतिहास के विभिन्न प्रसंगों का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। 'इस प्रकार की कहानियों में एक विचित्र प्रकार का रोमांस 'इतिहास-रस' परिलक्षित होता है।'[2]

साहित्य लेखन और पत्रकारिता ही ऋषभचरण जैन (1912) की आजीविका के साधन रहे। ये प्रेमचन्दयुगीन यथार्थवादी दृष्टि के लेखक हैं। 1937 ई० में इनके दो कहानी-संग्रह 'मन्दिरदीप' और 'चांदनी रात' प्रकाशित हुए। भावुकतापूर्ण शैली में रचित सामाजिक और छोटी-छोटी घटनाओं पर आधारित ये कहानियां हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

उपरोक्त सभी लेखकों ने व्यक्ति के स्थूल बाह्य चित्रण की अपेक्षा उसके अन्तर्मन के सूक्ष्म अध्ययन में अधिक रुचि दिखाई है। जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय तथा विष्णु प्रभाकर आदि की कहानियां इसी तरह की भाव-भूमि पर आधारित हैं। जैनेन्द्रकुमार (1905) इस युग के सर्वप्रथम प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। उनकी कहानियों में फ्रायडीय मनोविज्ञान, यथार्थवाद एवं बंगला साहित्य के भावात्मक शिल्प का प्रभाव बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि प्रेमचन्द ने उन्हें अपना 'साहित्यिक उत्तराधिकारी,'[3] कहा है, तथापि उनकी कहानियों को प्रायः सभी आलोचकों ने प्रसाद की परम्परा में माना है। फिर भी इस बात का प्रायः सभी कथालोचक समर्थन करते हैं कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कहानी को कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से नवीन आयाम प्रदान करने वाले लेखकों

---

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 168-69
2. वही, पृ० 168
3. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 592

में जैनेन्द्र का नाम सबसे प्रमुख है। डॉ० गोपाल राय का इस सन्दर्भ में कथन उक्त स्थापना का ही समर्थन करता हुआ दिखाई देता है···'उन्होंने प्रेमचन्द के निकट सम्पर्क में रहने पर भी उनका अनुसरण नहीं किया, वरन् अपने लिए नई दिशा की खोज की। उन्होंने कहानी को 'घटना' के स्तर से उठाकर, 'चरित्र' और 'मनोवैज्ञानिक सत्य' पर लाने का प्रयास किया। यद्यपि स्वयं प्रेमचन्द ने भी 1930 ई० तक इस उपलब्धि को पा लिया था, पर जैनेन्द्र की एक और खूबी यह रही कि उन्होंने कथावस्तु को सामाजिक धरातल से उठाकर व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया।'[1]

जैनेन्द्र कुमार ने पहली बार मनुष्य के अचेतन मन का बड़ा ही सूक्ष्म एवं कलात्मक चित्र अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनकी प्रारम्भिक कहानियां जिनमें 'अपना-अपना भाग्य', 'रानी महाआशा', 'जयसंधि', 'फांसी', 'हत्या' आदि सामाजिक समस्याओं का ही प्रतिनिधित्व करती हैं, तथापि 'नः पन्थाः', 'प्रियव्रत', 'खेल', 'पाजेब', 'जाह्नवी', आदि कहानियों में उन्होंने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्थितियों को पर्याप्त बारीकी के साथ उकेरा है।

जैनेन्द्र मूलतः प्रेम और मध्यवर्ग के कथाकार हैं। उनकी अधिकांश कहानियों में प्रेम सम्बन्धी दमित वासनाएं एवं स्त्री-पुरुष विषयक मध्यवर्गीय आकर्षण दिखाई देता है। उनकी कहानियों में गहरी वैचारिकता एवं दार्शनिकता भी उभरकर सामने आई है। सम्भवतः पहली बार उन्होंने व्यक्ति को महत्व देकर उसे उसके अहं के माध्यम से प्रतिष्ठित किया है। उनकी रचनात्मक दृष्टि बाहर से अन्दर की ओर बढ़ने की रही है। सम्भवतः यही कारण है कि कई कहानियों में जहां एक ओर वैयक्तिकता एवं अहंवादिता अतिरिक्त रूप से उभरी है, वहीं दूसरी ओर वे कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का पिष्टपेषण-सी लगती हैं। 'जैनेन्द्र के अधिकांश पात्र निराशा, कुण्ठित, घुटनयुक्त, पीड़ित आदि प्रवृत्तियों से युक्त एकाकी रहते हुए व्यक्तिगत समस्याओं में उलझे हुए हैं जिनके माध्यम से उन्होंने उनके मनोभावों एवं अन्तर्द्वन्द्वों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।'[2]

जैनेन्द्र कुमार की विविध कहानियां—'फांसी' (1929), 'वातायन' (1930), 'नीलम देश की राजकन्या' (1933), 'एक रात' (1934), 'दो चिड़ियां' (1935), 'पाजेब' (1942) तथा 'जयसंधि' (1940) शीर्षक संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

अज्ञेय (1911) प्रेमचन्दोत्तर काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। उनका व्यक्तित्व प्रसाद की भांति कवि और कथाकार दोनों की गरिमा से सम्पन्न

1. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृ० 85
2. वही, पृ० 85

है। 'कवि होने के नाते उनकी आरम्भिक कहानियों में रूमानियत भी है, लेकिन धीरे-धीरे वह हटती गई।'[1] अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियां 'छोटा हुआ रास्ता' (भाग-1) तथा 'लौटती पगडण्डियां' (भाग-2) शीर्षकों के अन्तर्गत कालक्रमानुसार दी गई हैं।

अज्ञेय की कहानियों में व्यक्ति-मन की भीतरी दुनिया के आग्रहों के साथ-साथ बाहरी संसार से भी उनका सम्पर्क बराबर बना हुआ है। उनकी बहुत-सारी कहानियों में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता संघर्ष का आग्रह प्रमुख रूप से उभरकर सामने आता है। लेकिन इसके बावजूद अज्ञेय की कहानियां भी व्यक्तित्व की भीतरी दुनिया के आग्रहों के साथ-साथ बाहरी संसार से भी उनका सम्पर्क बराबर बना हुआ है। उनकी बहुत-सारी कहानियों में राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता, संघर्ष का आग्रह प्रमुख रूप से उभरकर सामने आता है, लेकिन इसके बावजूद अज्ञेय की कहानियां भी व्यक्तित्व की भीतरी गरिमा और उसके महत्त्व को ही अधिक सार्थक मानकर उसे अधिक सघनता के साथ उभारती हैं। चाहे 'रोज़' हो, या 'मेजर चौधरी की वापसी', 'पठार का धीरज', हो, या 'कोठरी की बात', 'अमर वल्लरी' हो, या 'खिलौना बाबू', 'जयदोल' हो, या 'हीलीबोनू की बत्तखें' सभी कहानियों में चरित्रों की भीतरी गरिमा या उनके अन्तर्द्वन्द्व को उभारने का प्रयत्न अधिक स्पष्ट है। इस तरह अज्ञेय भी, प्रेमचन्द की परम्परा से अलग, जैनेन्द्र की तरह ही व्यक्ति-मन की भीतरी दुनिया की कहानियों के स्रष्टा ही साबित होते हैं और कुल मिलाकर उनका व्यक्तित्व कहानी के इतिहास में अलग और मौलिक दिखाई पड़ता है। 'जहां जैनेन्द्र मनः संसार को छोड़कर वास्तविक दुनिया में आना पसन्द नहीं करते और वहां उनके पात्र समाज से लड़ने का हौसला न रखकर अपने मन की दुर्बलताओं से ही उलझते रहते हैं, वहां अज्ञेय के पात्र बहिर्मुखी हैं, जो समाज तथा अपने आस-पास की परिस्थितियों से जूझने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं।'[2]

अज्ञेय की अधिकांश कहानियों में जो बौद्धिकता निहित है, वही उसे जैनेन्द्र की कहानियों से अलगाने में अपनी विशेष भूमिका निभाती है—'अज्ञेय की कहानियां' अज्ञेय की संवेदनाओं की ही नहीं, उनके अध्ययन-मनन और एक बौद्धिक दृष्टि का भी परिचय देती चलती हैं।'[3]

इलाचन्द जोशी मनोवैज्ञानिक कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं।

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य': गिरीश रस्तोगी, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 9
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास': सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 592
3. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान': रामदरश मिश्र, पृ० 35

इनकी कहानियों पर फ्रायडीय मनोविज्ञान का प्रभाव इतना अधिक है कि चरित्र, कथानक, मूल संवेदना की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पाठक की चेतना पर हावी हो जाते है। 'खण्डहर की आत्माएं', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'आहुति' और 'दीवाली' उनके प्रमुख कहानी-संग्रह है। इनकी कहानियों में निहित मनोवैज्ञानिकता को ही लक्ष्य करते हुए रघुवरदयाल वार्ष्णेय का यह कथन उनकी कहानीकार प्रवृत्ति की बड़ी समीचीन व्याख्या करता है, 'इन कहानियों को पढ़ने पर कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी की बागडोर कहानीकार के हाथ से छूटकर मनोविश्लेषण के हाथों में पहुंच गई है।'[1] रामदरश मिश्र भी इनके मनोविज्ञान को जो कि निहायत किताबी है, फ्रायड के सिद्धान्तों की व्याख्या मानते है और इन सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए ही मानो वे पात्रों का इस्तेमाल करते हैं। 'जहां सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं होती, वहां उनका मनोविज्ञान पुराने प्रकार के पात्र का आत्ममंथन हो जाता है, जो घटनाओं और प्रसंगों की सापेक्षता में उभरता चलता है।'[2] 'मनोवैज्ञानिक व्याख्या के साथ ही सामाजिकता की भावना भी उनकी कहानियों में प्रकारान्तर से सन्निहित है।'[3] इलाचन्द जोशी की कथा शैली में परम्परागत किस्सागोई शैली का ही निर्वाह मिलता है।

'इलाचन्द जोशी ने कथा-साहित्य में व्यक्तिवाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उनके व्यष्टि-बोध के आधार पर केवल मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ही बल्कि उनका चिन्तन और स्वकल्पित आदर्श भी हैं। जैनेन्द्र से भिन्न उनका कथा-चिन्तन और व्यक्ति-बोध उन्हें सिद्धान्तों की पुष्टि और सिद्धान्तों की स्थापना के लिए संघर्ष करने वाला कथाकार बनाते हैं। जैनेन्द्र अगर सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन और जगत का चित्रण व्यक्ति-सत्य के माध्यम से करते हैं, तो इलाचन्द जोशी मानवमन की गहराइयों में झांककर, व्यक्ति-मन के भीतर दमित वासनाओं तथा कुण्ठित भावनाओं का विश्लेषण भी वैयक्तिक समस्याओं के स्तर पर ही करते हुए व्यष्टि तथा समष्टि में सामंजस्य खोजने का प्रयत्न करते है। एडलर की हीन-भावना सम्बन्धी धारणा की पुष्टि इनके कथा-पात्रों के माध्यम से और अधिक बलवती होती है।'[4]

डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने एक स्थान पर कहा भी है कि 'इलाचन्द जोशी का कथा-साहित्य फ्रायड के यौन सम्बन्धी सिद्धान्तों से इतना प्रभावित नहीं है, जितना

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : रामदरश मिश्र, पृ० 54
2. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृ० 96-97
3. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कोश' : सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 7
4. 'हिन्दी कहानी का मूल्यांकन' : कान्ता अरोड़ा, मैंहदीरत्ता, पृ० 44

एडलर के हीन-भावना सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रेरित।'[1] इनका व्यष्टि-बोध कहीं भी समष्टि-सत्य का विरोध नहीं करता। सम्भवतः यही कारण है कि वह इस धारणा को स्वस्थ सामाजिक चेतना के विकास की प्रथम सीढ़ी मानते हैं।[2]

डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में इनकी कहानियों पर रसहीनता, संवेदनशून्यता और अपठनीयता का आरोप एक दम सीधे-सीधे लगाया गया है—'इलाचन्द जोशी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक केस-हिस्ट्री पिरोई है। इस दिशा में अगर होने वाले वे अकेले कहानीकार हैं, पर उनकी कहानियों में अधिकतर किताबी सूरतें, किताबी स्थितियां और ग्रन्थियां परिलक्षित होती हैं। इसीलिए उनकी कहानियां प्रायः नीरस, असंवेदनीय और अपठनीय हो गई हैं।'[3]

यशपाल (1903-1976) तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (1910) ने प्रेमचन्द और सुदर्शन की भांति उर्दू से हिन्दी में प्रवेश किया, अतः उनकी रचनाओं पर उर्दू साहित्य की प्रवृत्तियों व शैलियों का प्रभाव यत्किंचित् रूप में देखा जा सकता है। यशपाल मूलतः प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक माने जाते हैं; क्योंकि जहां जैनेन्द्र और अज्ञेय ने प्रेमचन्द से एक टकराहट अनुभव कर हिन्दी की कथा-परम्परा को एक नया मोड़ दिया, वहां यशपाल ने अपने ढंग से प्रेमचन्द की परम्परा को ही सीधी रेखा में आगे बढ़ाया।'[4] यशपाल ने अपनी रचना-यात्रा का प्रारम्भ कहानी रचना के द्वारा किया। प्रेमचन्द के उपरान्त कहानी को जितनी अधिक सम्पन्नता यशपाल से मिली, वह उल्लेखनीय है।

यशपाल प्रेमचन्दोत्तर युग के सबसे अधिक सशक्त समाजवादी कथाकार हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियों को बड़ी कलात्मकता के साथ तीखे स्तर में प्रस्तुत किया है। 'फूलों का कुर्ता', 'पक्षिनता', 'प्रतिष्ठा का बोझ', 'ज्ञानदान', 'धर्मरक्षा', 'परदा', 'काला आदमी', 'चार आने', 'हलाल का टुकड़ा' आदि इस सन्दर्भ की बड़ी मार्मिक एवं बेहतरीन कहानियां हैं। दूसरे, मार्क्सवाद से विशेष प्रभावित होने के कारण उसके सिद्धान्तों का निरूपण भी इनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। 'यशपाल ने मार्क्सवादी दृष्टि से एक के बाद एक सशक्त कहानियां लिखीं। उनके सारे कहानी साहित्य को देखकर यह

1. 'इलाचन्द जोशी : साहित्य और समीक्षा' : इन्द्रनाथ मदान, सम्पा० प्रेम भटनागर, पृ० 959
2. 'मेरी प्रिय कहानियां' (भूमिका) : इलाचन्द जोशी, पृ० 32
3. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 689
4. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : रामदरश मिश्र, पृ० 42

निस्संकोच कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद उनकी कमजोरी नहीं, शक्ति है।'[1]

यशपाल ने अपनी कहानियों में सोद्देश्यता का निर्वाह करने के साथ-साथ, कलात्मकता का भी पूरा ध्यान रखा है। सोद्देश्या होने के कारण ही उनकी कहानियों में कभी-कभी प्रचारात्मकता का पुट भी आ गया है और कहानी अधिक सांकेतिक एवं व्यंग्यप्रधान हो गई है। यशपाल ने अपनी कहानियों के विषय के रूप में रोटी और सेक्स की समस्याओं को ग्रहण तो किया है, किन्तु उग्र की तरह नग्न रूप में नहीं, बल्कि उन जीवन्त एवं ज्वलन्त समस्याओं को पूर्णरूप से कला का जामा पहनाते हुए 'वे पूर्णतः कलात्मक आवरण में व्यक्त हुई हैं। जहां उनकी समस्या को कलात्मक आच्छादन नहीं मिल सका, वहां कहानी का कहानीपन संदिग्ध हो गया है।'[2]

प्रेमचन्दोत्तर युग में जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय और यशपाल इन विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न कहानीकारों के साथ उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, रांगेयराघव, भगवतीचरण वर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', राहुल सांकृत्यायन, 'पहाड़ी' आदि का नाम भी उल्लेखनीय है।

सामाजिक विषयों को लेकर कहानी लिखने वाले लेखकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने लगभग 150 कहानियों की रचना की है। इस रचना-प्रक्रिया के दौरान उसमें कई मोड़ आये और जिनसे निरन्तर इनकी कहानी के शिल्प में परिपक्वता व निखार ही आता गया। प्रारम्भिक कहानियों का कथा-विन्यास स्कूल था, जो धीरे-धीरे संकेतात्मक, प्रतीकात्मक व सूक्ष्म होता गया। अपनी कहानी कला पर इन्होंने पाश्चात्य व भारतीय दोनों कहानीकारों का प्रभाव निस्संकोच भाव से स्वीकार किया है। अश्क जी की कहानियों का मूल आधार सामाजिकता ही है। इन्होंने अपनी कहानियों के विषय मुख्य रूप से समाज के निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग से लिये हैं। 'पिंजरा', 'खिलौने,' 'पलंग', 'डाकी', 'कांगड़ा का तेली', 'अंकुर', 'उबाल', आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियां है। इनकी कहानियों में आये पात्र कहानी के पात्र न लगकर जीवन के पात्र लगते हैं।[3] जीवन के यथार्थ से सम्बद्ध होने के कारण ही इनकी कहानियां आज भी प्रासंगिक बनी हुई हैं।

भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर की गणना यशपाल और अश्क की ही परम्परा में की जाती है। इन दोनों कहानीकारों ने कई प्रभावशाली कहानियों

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 33-34
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 432
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 50

की रचना की है। भगवतीचरण वर्मा की कहानियों का अपना अलग संसार है। उनकी कहानियों में 'प्रायश्चित्त', 'मुगलों ने सल्तनत बख्शी', 'दो बांके', 'इंस्टालमेंट' आदि मुख्य हैं, जिनमें हास्य का शिष्ट रूप देखने को मिलता है। वर्मा जी की बहुत-सी कहानियों का प्राण हास्य-व्यंग्य है। इनकी व्यंग्यप्रधान कहानियों में 'लाला तिकड़मी लाल' को लिया जा सकता है। इनके व्यंग्य का क्षेत्र बहुविध है—कहीं धर्म, कहीं समाज, कहीं राजनीति, कहीं इतिहास का कोई प्रसंग, कहीं वर्तमान का एक टुकड़ा, कहीं कोई चरित्र, कहीं कोई अवस्था इनके व्यंग्य का निशाना बनते हैं।[1]

भगवतीचरण वर्मा ने मध्यवर्ग का बड़ा ही यथार्थवादी और मार्मिक चित्रण अपनी कहानियों में किया है। 'उन्होंने जीवन की कुरूपताओं का चित्रण किया है। उन्होंने जीवन की कुरूपताओं का पर्दाफाश करते हुए वर्तमान सभ्यता और आधुनिक समाज के खोखलेपन का चित्रण किया है। आधुनिक युग में नारी-पुरुष सम्बन्धों के विघटन का यथार्थ अंकन भी उनकी कहानियों में मिलता है।'[2] उनकी 'विवशता' कहानी में नारी की सिसकन का चित्रण है, किन्तु दूसरी तरफ नारी का 'तथाकथित' आधुनिक रूप भी उन्हें मान्य नहीं। 'प्रेजेन्ट' और 'उत्तरदायित्व' कहानियों में आधुनिकता की बखिया उधेड़ी गयी है। स्थान-स्थान पर उन्होंने नर-नारी के कर्तव्य की भी चर्चा की है।

प्रेमचन्द और अमृतलाल नागर की ही भांति मूलतः किस्सागोई होने के कारण वर्मा जी की कहानियां विस्तृत और विवरणात्मक होकर रह गईं। किन्तु इनकी हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति उसकी सरसता व पठनीयता बरबरार रखती है। वे इसी आत्मीयता और मस्ती-भरी शैली में किस्सा कहते-कहते विसंगतिमय यथार्थ का बड़ा गहरा स्तर खोल देते हैं और पाठक अन्दर ही हंसने के साथ-साथ भीतर-भीतर एक यथार्थ-बोध का दबाव महसूस करने लगता है।[3]

'नियतिवाद, परिस्थितियों के चक्र और अहं के असीमत्व पर विश्वास करने वाले भगवतीचरण वर्मा का जीवन-दर्शन भी व्यावहारिक अनुभवों पर ही आधारित है, किन्तु तात्त्विक चिंतन के अभाव के साथ-साथ, विचारों का आरोपण उनकी रचनाओं में अस्पष्टता को ही बढ़ावा देता है।'[4]

अमृतलाल नागर (1916-1989) ने जीवन के यथार्थ पक्ष का अंकन बड़ी सहजता के साथ अपनी कहानियों में किया है। मुख्यतः उपन्यासकार होने के

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 50
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ० नगेन्द्र, पृ० 593
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान', : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 53
4. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कोश' : सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 7

बावजूद इन्होंने हिन्दी कहानी-साहित्य को कुछ अच्छी कहानियां भी दी हैं। इन कहानियों का मुख्य विषय वर्तमान जीवन की विषमताएं, असंतुलन, आर्थिक अभाव शोषण आदि हैं, जिनका वर्णन करने के लिए लेखक कहीं व्यंग्य को माध्यम बनाता है, कहीं आक्रोश व्यक्त करता चलता है और कहीं अपनी सारी व्यथा उड़ेल देता है। 'दो आस्थाएं', 'करीब की हाय', 'गोरखधन्धा', 'निर्धन', 'कयामत के दिन' आदि इनकी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कहानियां हैं। 'दो आस्थाएं' कहानी का अन्त लेखक 'किसी आदर्शवाद में न कर एक प्रभावशाली व्यथा में करता है जो अपने भीतर से लेखक का अभिप्रेत ध्वनित करती है।'[1]

जिस प्रकार प्रेमचन्द ने ग्रामीण परिवेश को मुख्य रूप से अपनी कथासर्जना का आधार बनाया है, उसी प्रकार अमृतलाल नागर महरी जीवन को अपनी कहानियों में चित्रित करते हैं। 'अमृतलाल नागर ने भी प्रेमचन्द के समान मानवीय सम्बन्धों का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। अन्तर केवल गांव और शहर का है। नागरजी ने नागरिक जीवन को बड़े करीब से देखा है और वहां की मिट्टी को पूर्णतः अपने अन्दर बसा लिया है, इसीलिए उनके द्वारा उठायी गयी समस्याएं किसी विशेष नगर की न होकर विश्व के नगरों की हैं।'[2]

राहुल सांकृत्यायन (1893-1983) की लगभग सभी कहानियां 'सतमी के बच्चे', 'वोल्गा से गंगा', 'बहुरंगी मधुपुरी' और 'कनैला की कथा' 'कहानी-संग्रहों में संकलित हैं। इनमें से 'कनैला की कथा' को कहानी-संग्रह न कहकर कनैला का इतिहास कहना ज्यादा संगत होगा। 'सतमी के बच्चे' और 'वोल्गा से गंगा', इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

'सतमी के बच्चे' संग्रह की अधिकांश कहानियों में तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हुआ है। इस संग्रह की सभी कहानियां चरित्र-प्रधान हैं, परन्तु उसके पीछे निहितार्थ चरित्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना नहीं, बल्कि चरित्रों के माध्यम से वर्ग-संघर्ष को दर्शाना है। 'वोल्गा से गंगा' की कहानियां अपने उद्देश्य में रेखाचित्रों का आभास देती हैं। इस संग्रह की कहानियों में भारतीय आर्यों की अपने प्रारम्भिक काल से आज तक की सभ्यता के विकास-क्रम को केन्द्रित किया गया है। इनमें लेखक की दार्शनिक दृष्टि का भी परिचय मिलता है। राहुल सांकृत्यायन की कहानियों में दार्शनिकता का पुट सामाजिक यथार्थ का अंकन और मार्क्सवाद···तीनों का प्रभाव सम्मिलित है।

रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' की अधिकांश कहानियां दलित काम-भावना से सम्बद्ध विषयों पर आधारित हैं। इनकी कहानियां अतिरिक्त रूप से भाव-

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान', रामदरश मिश्र, पृ० 54
2. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृ० 96-97

प्रधान व कल्पना-प्रधान होने के कारण ही अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं। 'नया मोची', 'राजरानी', 'हिरन की आंखें', 'तमाशा' उनकी कुछ प्रतिनिधि कहानियां हैं। 'रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' ने मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को नग्न रोमांस का पुट देकर कहानियां लिखी हैं।'[1]

रांगेयराघव मार्क्सवाद से प्रभावित तो थे, किन्तु उनके साहित्य में उसका किसी प्रकार का निर्णायक दबाव नहीं है। मार्क्सवाद से उनकी रचनात्मकता कहीं भी प्रभावित नहीं हुई है। 'गदल', 'पंचपरमेश्वर', 'धर्मसंकट', 'फूल का जीवन', 'कुत्ते की दुम और मैलान', 'मृगतृष्णा' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियां हैं। लेकिन गदल कहानी ही वह कहानी है, जो रांगेयराघव को सफल कहानीकारों की श्रेणी में निस्संकोच स्थान प्रदान करती है। 'नई कहानी के महत्वपूर्ण विकास के पूरे दौर में रांगेयराघव की कहानी 'गदल' को विशिष्ट स्वीकृति मिली केवल इसलिए नहीं कि इसने गदल-जैसा ठेठ, जीवन्त, चुनौती देने वाला चरित्र-बिम्ब निर्मित किया, इसलिए भी कि इस चरित्र कल्पना को सहजजीवी चरित्रों के द्वन्द्व में उपयुक्त विशिष्ट भाषायी संगठन भी मिला, वह रचनात्मक संगठन भी मिला जो रचना को अर्थ की सघनता या मार्मिकता दे जाता है।'[2]

'समूचे प्रगतिवादी दौर में रांगेयराघव अकेले ऐसे कहानीकार ठहरते हैं, जो शैली-शिल्प और रचना-तन्त्र की दृष्टि से कहानी में अपनी प्रयोग-बहुलता के कारण, कहानी के उपलब्ध चौखटे को झकझोरते और तोड़ते दिखाई देते हैं।··· प्रसाद की तरह, वह भी अधिकतर संवादों के माध्यम से कहानी को आगे बढ़ाते हैं। ···चूंकि उन्होंने प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक पृष्ठभूमि पर भी बहुत-सी कहानियां लिखी हैं, सम्भवतः इसीलिए उनके सारे वैचारिक आग्रहों के बावजूद, उनकी शैली पर प्रसाद की शैली की छाप दिखाई देती है। एक कहानीकार की हैसियत से रांगेयराघव की यह उपलब्धि भी मामूली नहीं है कि आज भी उनके पास कम-से-कम एक दर्जन कहानियां ऐसी जरूर हैं, जिनके सबब से अपने समकालीन और परवर्ती कहानीकारों के बीच वह सार्थक और प्रासंगिक लेखन के लिए याद किए जा सकते हैं।'[3]

'रांगेयराघव की कहानियों में सर्वत्र ही उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण मिलता है। मनुष्य और उसके विकास में उनकी गहरी आस्था है। उनकी कहानियां बहुधा ही व्यक्ति को केन्द्र बनाकर उसके सामाजिक परिवेश, आचारनिष्ठा और तिमिल रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों को उभारती हैं, लेकिन कहीं भी मनुष्य पर से

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : रामदरश मिश्र, पृ० 41
2. 'रांगेयराघव का रचना-संसार' : सम्पा० गोविन्द रजनीश, पृ० 163
3. वही, पृ० 178

उनकी निगाह हटती नहीं है।'[1]

भैरवप्रसाद गुप्त (1918) प्रतिशील चेतना-सम्पन्न महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। 'प्रजिल', 'बिगड़े हुए लोग', 'सितार के तार', 'फरिश्ता', 'मुहब्बत की राहें', 'महफिल', 'सपने का अन्त', एवं 'बलिदान की कहानियां' आदि इनके कहानी-संग्रह हैं। प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होने के बावजूद उनकी कहानियों की शिल्प-संरचना प्रेमचन्दयुगीन उन कहानीकारों की भांति है, जिसमें कहानीकार कहानी के बीच-बीच में अपना मन्तव्य भी स्पष्ट करते चलते हैं। 'सामयिक परिवेश और सामाजिक विकास से उत्पन्न साधारण से नैसर्गिक अन्तर को छोड़कर वह मूलतः प्रेमचन्द-परम्परा के कहानीकार ठहरते हैं। बहुत-कुछ यशपाल और अमृतराय के साथ। बहुधा ही उनकी कहानियों में किस्सागोई का परम्परागत रूप अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक स्तर पर मिलता है। शैली की रवानी और व्यंग्य उनमें खूब है और प्रतिक्रियावादी ताकतों के ऊपर उनका पहला हमला प्रायः ही बहुत कामयाब उतरता है।'[2] उपन्यासों की भांति उनकी कहानियां भी स्थूल सामाजिक समस्याओं का चित्रण करती हुई जातीय चेतना के संघर्ष को मार्क्सवादी शैली में प्रस्तुत करती हैं।[3]

भैरवप्रसाद की बहुचर्चित कहानी 'चाय का प्याला' पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्याप्त शोषण का भयावह चित्र उपस्थित करती है। इस कहानी के सम्बन्ध में मार्कण्डेय की इस टिप्पणी की अपनी महत्ता है, '''ऐसा नहीं कि सच्चाइयों की तहों में झांककर उसे देख पाने की क्षमता लेखक में नहीं है, क्योंकि 'चाय का प्याला' शीर्षक कहानी शायद उन कुछ एक गिनी-चुनी कहानियों में है, जिसे इस दृष्टि-गत यथार्थ के लिए उदाहरण स्वरूप हम पेश करना चाहेंगे। पत्रिका के मालिक की इस कहानी में सबसे कम उसी के बारे में कहा गया है, लेकिन उसके दफ्तर में काम करने वालों का जो सूक्ष्म और संक्षिप्त विवरण लेखक ने प्रस्तुत किया है, वह स्वयं मालिक के चरित्र की एक कसौटी बन उठा है। इस कहानी में लेखक शिल्प की आधुनिकतम बारीकियों का उपयोग करता है और चाय का वह प्याला उस दफ्तर के शोषितों की लाज का प्रतीक बन जाता है।'[4]

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' (1915) की कहानियां जीवन की सरलता एवं सहजता से युक्त हैं। शिल्प-सम्बन्धी कोई संश्लिष्ट उनमें नहीं दीखती, परन्तु अपने विषय से सीधे जुड़ी होने के कारण प्रभाव की दृष्टि से सफल रहती हैं। डॉ०

---

1. 'हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 19
2. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 23
3. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 : सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 416
4. 'सपने का अन्त' की समीक्षा : 'नई कहानियां', फरवरी 62, पृ० 138-39

लक्ष्मीनारायणलाल उनकी कहानियों की इसी सहजता को प्रेमचन्द की कहानियों से जोड़ते हुए कहते हैं, 'द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' की कहानियों में अनावश्यक शिल्प-कौशल और कला-चमत्कार के गुण नहीं हैं। जितनी तटस्थता, जितनी सूक्ष्म दृष्टि और साथ-ही-साथ सरलता और सुबोधता प्रेमचन्द की कहानियों में प्राप्त है उसके विकास सूत्र 'निर्गुण' की कहानियों में सहज ही प्राप्त हैं···निर्गुण की कहानियों में शिल्प-विधान की एकरूपता मन को कहीं भी उबाती नहीं, वरन् रचना शिल्प की अकृत्रिमता और स्वाभाविकता से हमारे मन को मोह लेती है।'[1]

निर्गुण की कहानियों के केन्द्र में जीवन की सहजता, स्वस्थ सामाजिक दृष्टि और करुणा सन्निहित है। 'पूर्ति', 'बहूजी', 'टीला', 'कच्चाधागा', 'प्यार के भूखे', 'टूटे सपने' 'जिन्दगी' उनके कहानी-संग्रह हैं। स्वच्छन्द प्रेम तथा मानवीय गुणों की सर्जना मिश्र जी की कहानियों में मुख्य रूप से परिलक्षित होती है। नारी का त्यागमय समर्पित व्यक्तित्व ही इन्होंने चित्रित किया है।

मिश्र जी की कहानियां वास्तविक सत्यों तथा जीवनानुभवों के ठोस धरातल पर खड़ी हैं। 'द्विजेन्द्रनाथ मिश्र भी उसी पुरानी परिपाटी के कथाकार हैं जिनमें चमत्कार कम, पर वास्तविक सत्य अधिक होता है। वे प्रायः लम्बी कहानियां लिखते हैं और खूब लिखते हैं। समाज के जिस वर्ग का चित्र लेते हैं उसे सफलता से निभाते हैं क्योंकि उनका जीवन अनुभव बड़ा है। इसीलिए उनकी कहानियों में वैचित्र्य और भिन्नता है, रस है, बल है।'[2]

विष्णु प्रभाकर एवं चन्द्रगुप्त विद्यालंकार प्रेमचन्दोत्तर काल के अन्तिम कहानी-लेखक हैं। विष्णु प्रभाकर के प्रमुख कहानी-संग्रह हैं— 'आदि और अन्त', 'रहमान का बेटा', 'जिन्दगी के थपेड़े' 'संघर्ष के बाद', 'धरती अब भी घूम रही है' आदि। डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार —'धरती अब भी घूम रही है' इनकी एक अत्यन्त सशक्त कहानी है, जिसमें एक ही साथ पारिवारिक, सामाजिक और शासकीय व्यवस्था की क्रूरता और नकली मानवता का पर्दाफाश किया गया है। इसमें एक ही साथ व्यंग्य, व्यथा और जिजीविषा के समन्वय से अद्भुत प्रभाव पैदा किया गया है। यह कहानी 'नयी कहानी' के दौर की भी श्रेष्ठ कहानियों में से है।[3] 'इनकी कहानियां मानवतावादी दृष्टिकोण से सम्पन्न हैं। 'विष्णु जी की कहानियां रोचक होने के साथ-साथ संवेदनशील भी हैं। चरित्र-चित्रण में कहीं-कहीं

1 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, परिशिष्ट (क), पृ० 10-11

2. 'युद्धोत्तर हिन्दी का कथा-साहित्य' : श्रीपत राय ('कहानी' : वार्षिकांक), पृ० 9

3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : रामदरश मिश्र, पृ० 54

आदर्शवादी वृत्ति खटकती अवश्य है, लेकिन कहानी के प्रवाह को रोकती नहीं। इसीलिए वह बाधा न पहुंचाकर जहां संघर्ष को तीव्र बनाती है, वहीं सफल भी हुई है।'[1]

'विष्णु प्रभाकर के कथानक अधिक सूक्ष्म तथा संकेतात्मक हैं तथा कई कहानियों में तो उनका व्यंग्य इतना तीव्र है कि पाठक के हृदय पर गहरा आघात-सा लगता है।'[2]

डॉ० गोपाल राय भी विष्णु प्रभाकर की कहानियों को चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की अपेक्षा अधिक कलात्मक एवं प्रभावपूर्ण स्वीकार करते हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार विशेष रूप से अपनी कहानियों के लिए हिन्दी साहित्य में पहचाने जाते हैं। अपने समकालीन कहानीकारों की अपेक्षा इनमें नवीनता अधिक है, जो विषयवस्तु चुनाव व शिल्प दोनों स्तरों पर देखी जा सकती है। 'भय का राज्य', 'अमावस्या', 'वापसी', 'तीन दिन', 'पहला नास्तिक', 'गहरे अंधेरे में' आदि आपके कहानी-संग्रह हैं। इनकी कहानियों का शिल्प पाश्चात्य कला-शिल्प से प्रभावित है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में कुछ कवियों ने भी हिन्दी साहित्य को अच्छी कहानियां दीं, जिनमें सुप्रसिद्ध छायावादी कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (सन् 1896-1961) व सुमित्रानन्दन पन्त (1900) प्रमुख हैं। 'निराला' ने 'गजानन्द शास्त्रिणी', 'पद्मा' व 'लिली'—जैसी कहानियां लिखीं, परन्तु मुख्य रूप से कवि होने के कारण उनमें काव्यमय वातावरण की ही झलक मिलती है। पन्त की 'पान वाला' कहानी में भी अनुभूति पक्ष ही मुख्य रूप से उभरकर सामने आता है। प्रकृति से रूमानी होने के कारण, पन्त व निराला दोनों की कहानियां व्यापक (युगीन) संवेदना से शून्य हैं।

हिन्दी में हास्य रस पर भी आधारित छुटपुट कहानियां इस युग के कुछ कहानीकारों द्वारा लिखी गईं, जिनमें जी० पी० श्रीवास्तव, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द, राधाकृष्ण आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में 'पिकनिक' 'भड़ास सिंह शर्मा', 'गुदगुदी', 'मुंशी लतखोरी लाल' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त हास्य साधारण स्तर का है। बेढब बनारसी और अन्नपूर्णानन्द जी की कहानियों में 'हास्य की योजना भाषा के स्तर और परिस्थितियों की विडम्बना पर आधारित है।'[3] 'मनमयूर', 'मेरी हजामत', 'मंगलमोद', 'महाकवि चच्चा', 'मगन रहु चोला', 'पं० विलासी

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 : (नामवाची शब्दावली), पृ० 546
2. 'हिन्दी कहानी : 15 पद्य चित्र' : सम्पा० महेन्द्रप्रताप बटरोही, पृ० 35
3. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 56

मिश्र' प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

'राधाकृष्ण मूलतः व्यंग्यकार है, लेकिन इनका व्यंग्य हल्का-फुल्का मनोरंजन नहीं है, वह हमारी गहन सामाजिक विषमताओं का बड़ा ही कलात्मक उद्घाटन करता है। लेखक की मानवीय व्यथा और मनोवैज्ञानिक सत्यों का दबाव इसके व्यंग्य को और भी प्रभावशाली बना देता है। बड़ी-से-बड़ी बात को अत्यन्त सादगी और लघुता से अभिव्यक्त कर देना राधाकृष्ण की कहानियों की विशेषता है।'[1] इनकी 'रामलीला' कहानी मूल रूप से व्यंग्यात्मक होते हुए भी मानवीय व्यथा से सम्पृक्त है।

हिन्दी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि में महिला लेखिकाओं ने भी कम योगदान नहीं दिया। इस युग की महिला लेखिकाओं में सुभद्राकुमारी चौहान, कमलादेवी चौधरी, होमवती देवी, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, शिवरानी देवी आदि ने बहुत-सी कहानियां लिखी है। प्रायः इन सभी की कहानियों में पारिवारिक जीवन और हिन्दू समाज में नारी की दारुण स्थिति के चित्र हैं, फिर भी वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को उस व्यापक दृष्टि से नहीं आंक सकी है; जैसा कि विश्व की महान लेखिकाओं ने किया है।

सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों में छायावादी प्रवृत्तियों के साथ जीवन के मधुरतम भावुक क्षणों का मानवीय रूप में चित्रण हुआ है। राष्ट्रीयता तथा आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व से जूझती हुई कहानियां उस समय के राष्ट्र समाज की मानसिक अवस्था का जीता-जागता विवरण उपस्थित कर देती है। 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' में संग्रहीत कहानियों में नारी हृदय की कोमल भावनाओं और उसकी परिस्थितियों व समस्याओं को नितान्त स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। 'पापी पेट' इनकी प्रसिद्ध राष्ट्रीय कहानी है। सुभद्रा जी की कहानियों का शिल्प एकदम सहज व सरल है।

शिवरानी देवी की कहानियां 'कौमुदी' में संकलित हैं। उषादेवी मित्रा की भावप्रधान सामाजिक कहानियां, जिनमें कल्पना का भी पुट है। 'पिउ कहां', 'मूर्त मृदंग', 'गोधूलि', 'देवदासी', 'मन का मोह' आदि शीर्षकों में निबद्ध हैं। इन्होंने भी प्रायः सुभद्राकुमारी चौहान की ही कथा-शैली का निर्वाह किया है। कमलादेवी चौधरी की कहानियों में 'नारी सुलभ कोमलता के साथ-साथ शिल्प में नये यथार्थ के आधारों के घटित होने से विभिन्न प्रकार की विपन्नताएं हमें सहज ही दीख पड़ती हैं। इनकी रचनाओं में सहज मानवीय वेदना बहुत ही गम्भीर होकर व्यक्त हुई है।'[2] 'दूसरे', 'ये प्रेमचन्द के आदर्शवाद में एक भिन्न प्रकार

1. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 : (नामवाची शब्दावली), पृ० 64

का पुट देकर मानव-जीवन की स्थितियों का चित्रण करती हैं।'[1] 'उन्माद', 'पिकनिक', 'यात्रा', 'प्रसादी कमण्डल' और 'बेलपत्र' सीर्षक कहानी-संग्रहों में इनकी कहानियां संग्रहीत है।

होमवती देवी हिन्दी कहानी-लेखिकाओं में अपना श्रेष्ठ स्थान रखती हैं। 'निसर्ग', 'धरोहर', 'स्वप्नभंग', 'अपना घर' इनके चार कहानी-संग्रह हैं। 'यद्यपि उनकी कहानियों के प्रतिपाद्य पर विषाद की हल्की छाया प्रायः बनी रहती है, फिर भी यहां अधिक वैविध्य है। मध्यवर्गीय जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद द्वासात्मक संघर्ष के चित्र इन कहानियों में अत्यन्त मार्मिक रूप से अंकित है।··· कहानी के लिए राग पक्ष की समृद्धि के साथ-साथ जो अनुभव प्रौढ़ दृष्टि चाहिए; उसका उनमें अत्यन्त सद्भाव था और यही उनकी सापेक्षिक सफलता का रहस्य भी था।'[2]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा दलित सर्वहारा वर्ग की पक्षधर रही है। मार्क्सवादी दृष्टि से उन्होंने कुछ अच्छी कहानियां लिखी हैं। 'आदमखोर' कहानी-संग्रह की अधिकांश कहानियां उनकी प्रगतिशील दृष्टि की परिचायक है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में नारी और निम्नवर्ग ही सबसे अधिक शोषित है। लेखिका ने अक्सर ही दोनों की विवशता व मजबूरी को अपनी कहानी का विषय बनाया है तथा उसी के समानान्तर पुरुष की अमानवीयता को भी चित्रित किया है। तथाकथित उच्चवर्ग की प्रतिस्पर्धा व नकल में मध्यवर्ग की स्थिति कितनी दयनीय व विडम्बनापूर्ण हो जाती है, इसकी बड़ी सशक्त अभिव्यंजना अपनी कहानियों में की है। व्यंग्य के इस्तेमाल में इन्हें सिद्धहस्तता प्राप्त है। इनकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता कथ्य एवं शिल्प का सहज एवं अनुरूप होना है।

'बड़े कमीन : छोटे कमीन' चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की प्रतिनिधि कहानियों में से है। इस कहानी पर सुप्रसिद्ध आलोचक मधुरेश की यह टिप्पणी इसकी शिल्प सम्बन्धी सहजता व कथ्य-शिल्प की एकरूपता को ही सूचित करती है—'शिल्प की दृष्टि से कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि दो समानान्तर कहानियों को एक ही परिवार के परिप्रेक्ष्य में बड़े कौशल से प्रस्तुत किया गया है—इससे दोनों कहानियां स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ती हैं और कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि किसी विशेष प्रयोजन की दृष्टि से उन्हें सायास नियोजित किया गया है। कहानी का कथ्य और शिल्प कुछ इस कदर एकमएक हो गए हैं कि कहीं कोई जोड़ दिखाई ही नहीं देता है।'[3]

---

2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-2 (नामवाची शब्दावली), पृ० 64
1. वही, पृ० 352
3. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया': मधुरेश, पृ० 23

प्रेमचन्दोत्तर कथा-चिन्तन

स्वतन्त्रता-पूर्व की हिन्दी कहानी आधुनिक कहानी की मात्र पृष्ठभूमि ही नहीं है, वरन् हिन्दी कहानी की एक समृद्ध परम्परा भी अब तक निर्मित हो चुकी है। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी न केवल पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान तथा वैचारिक उपलब्धियों से परिचित हो चुकी थी, बल्कि योरोपीय कथा-साहित्य ने शिल्प की दृष्टि से जिन ऊंचाइयों को छू लिया था, उसका प्रभाव भी अब तक हिन्दी कहानीकारों द्वारा ग्रहण किया जा चुका था।

हिन्दी कहानी का प्रेमचन्दोत्तर युग सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से अत्यन्य उल्लेखनीय है। जिन दिनों हिन्दी कहानी के क्षेत्र में इस युग के कथाकार लिख रहे थे उन दिनों हिन्दी कविता में छायावाद अपने चरम पर था। आजादी की भावना ने जन-जन के मन में नवीन आशाओं का संचार किया था। नए राष्ट्र और देश-प्रेम की भावना केवल समाज सुधारकों तक ही सीमित नहीं रह गई थी, वरन् उस प्रकार की भावना से युक्त अनेक चरित्र कहानियों, उपन्यासों और कविताओं में भी आने लगे थे। प्रेमचन्दोत्तर युग के प्रायः हर कहानीकार में—चाहे वह मनोवैज्ञानिक आधार वाले कथाकार हों, साम्यवादी विचारधारा के लेखक हों अथवा यथार्थवादी—सभी की कहानियों में देशप्रेम, स्वतन्त्रता एवं स्वराज की भावना बहुत साफ परिलक्षित होती है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दीवानों की भांति ये चरित्र भी अपने-आपको राष्ट्रहित के लिए उत्सर्ग करने में गर्व का अनुभव करते थे।

इस युग के कथाकारों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि यद्यपि ये कथाकार किसी-न-किसी विशिष्ट विचारधारा से प्रभावित हैं, तथापि अधिकांश कथाकारों ने इस प्रभाव को रचना की कीमत पर ग्रहण नहीं किया। दूसरे शब्दों में उन्होंने रचना की कलात्मकता को नष्ट किए बिना विचारधारा के प्रभाव को ग्रहण किया। उदाहरणार्थ, जैनेन्द्र कुमार की कहानियां—'पत्नी', 'जाह्नवी', 'पाजेब', 'कः पन्थाः' और 'प्रियव्रत' आदि तथा अज्ञेय की कहानियां—'शत्रु', 'खितीन बाबू', 'मेजर चौधरी की वापसी', 'होलीबोनू की बत्तखें' आदि यद्यपि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं, किन्तु इससे कहानियों की कलात्मकता कहीं बाधित नहीं हुई है। दूसरी ओर, इलाचन्द जोशी की कहानियों—'प्लेंचेट,' तथा 'परित्यक्ता' में स्पष्ट दिखाई देता है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कहानी पर आरोपित किए गए हैं। लगभग यही स्थिति रामप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' की कुछ कहानियों में भी देखी जा सकती है।

इस युग में कहानीकारों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था, जो प्रेमचन्द युग के कथाकारों से कुछ भिन्न रहकर मनोविश्लेषण की पृष्ठभूमि पर रचना करता था। प्रेमचन्दीय मानसिकता से अलग हटकर लिखने का आग्रह इन

कहानीकारों में स्पष्ट है। 'प्रेमचन्द की परम्परा' की कहानी जिन-जिन सद्वृत्तियों को स्थापित करती है, उनसे बचकर निकलने का प्रयास करते दीखते हैं—यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द जोशी। बावजूद इसके ये कथाकार उस परम्परा से अलग इसलिए नहीं हो पाते कि इनके यहां विचार अराजक और अनिश्चित स्थितियों में है। शायद, यही वजह भी है कि 'व्यक्तिगत यथार्थ को ही' 'वास्तविक यथार्थ' मान लिया गया। यहां आकर ही हिन्दी कहानी का वह मोड़ सामने आता है, जहां प्रेमचन्द से अलग होने की जरूरत गम्भीरता से महसूस की जाने लगी थी। कहानी इस वक्त नितान्त नई जमीन मांग रही थी और कथाकार पूरी व्यग्रता से इसकी खोज कर रहे थे। यहां यथार्थ जीवन की समझ के साथ-साथ विद्रोह का स्वर प्रमुखता पर रहा था। कुल मिलाकर यह एक ऐसा दौर था, जहां आकर हिन्दी कहानी के स्वतन्त्र विकास को लेकर एक परिपक्व समझ तैयार हो रही थी।'[1] इस प्रकार प्रेमचन्द के प्रभाव से प्रेमचन्दोत्तर कहानीकार एकदम मुक्त तो नहीं हो गये; लेकिन उनकी मौलिकता और अस्तित्व की रक्षा एक भिन्न दिशा में जाकर ही सम्भव थी।

प्रेमचन्दोत्तर युग के कई कथाकार प्रेमचन्द और सुदर्शन की भांति उर्दू से हिन्दी में आए, जिनमें यशपाल और 'अश्क' इसी प्रकार के लेखक है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में उर्दू-साहित्य में 'अंगारा ग्रुप' अत्यन्त चर्चा में था। 'अंगारा ग्रुप' कुछ ऐसे उर्दू कथाकारों का संगठन था, जो तत्व यथार्थवाद का (जो कहीं-कहीं अश्लील भी था, तथा बाद में सरकार को कुछ ऐसी कहानियों को जब्त करना पड़ा था) चित्रण करता था। इसी अतियथार्थवादी प्रभाव के फलस्वरूप यशपाल की 'फूलों का कुर्ता' तथा 'उग्र' की 'बोझक की आग', 'चाकलेट'—जैसी कहानियां लिखी गई।

रायकृष्णदास, होमवती देवी कमला देवी चौधरी, जैनेन्द्र कुमार, भगवती-चरण वर्मा, आचार्य चतुरसेन तथा कुछ सीमा तक विश्व प्रभाकर की कहानियों में बंगला साहित्य का प्रभाव भी पड़ा। इन लेखकों ने अपने पात्रों में लगभग उसी प्रकार का मानसिक द्वन्द्व प्रस्तुत किया, जैसाकि शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अन्य पूर्ववर्ती बांग्ला कथाकारों में दिखाई देता है।

प्रेमचन्दोत्तर युग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इस युग में एक वर्ग महिला के बाद पहली बार महिला कथा-लेखिकाएं सामने आईं। मात्रा और गुणवत्ता, दोनों दृष्टियों से इन महिला कथाकारों का हिन्दी कहानी-साहित्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सुभद्राकुमारी चौहान, कमला देवी चौधरी, उषा देवी मित्रा, होमवती देवी इस युग की उल्लेखनीय लेखिकाएं

---

1. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी-कोश' : सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 6

है। यद्यपि हिन्दी कहानी के इतिहास में इन कथा-लेखिकाओं को सामान्यतः उपेक्षित किया गया है, तथापि मानव-मन की सूक्ष्म भावनाओं एवं रागात्मक सम्बन्धों का बड़ा सजीव चित्रण इन कथा-लेखिकाओं की कहानियों में देखने को मिलता है।

इसी युग में कई महत्त्वपूर्ण कवि भी कहानी के क्षेत्र में आए। निराला, पंत, अज्ञेय—जैसे युगप्रवर्त्तक समझे जाने वाले कवियों ने तो अपने रचनात्मक जीवन के प्रारम्भ में ही कहानियां लिखीं। महादेवी वर्मा ने भी परवर्ती काल में अनेक कथात्मक रचनाएं लिखीं। इस रूप में प्रेमचन्दोत्तर युग की कहानी में छायावाद एवं छायावादोत्तर हिन्दी कविता की अनेक विशेषताएं सम्मिलित हुईं। भाषा तथा शिल्प-विन्यास की दृष्टि से कुछ अलग रंग इन कवि-कथाकारों की रचनाओं में देखे जा सकते हैं।

प्रेमचन्दोत्तर काल हिन्दी कहानी का एक उल्लेखनीय दौर इसलिए भी है कि इस कालखण्ड में अनेकानेक विचारधाराओं, जीवनस्थितियों एवं साहित्यिक शिल्पों का जो प्रभाव हिन्दी कहानी ने आत्मसात् किया, सम्भवतः किसी अन्य दौर में इतना व्यापक प्रभाव नहीं दिखाई देता। 'स्वतन्त्रता से पूर्व हिन्दी कहानीकार युग के बदलते मूल्यों के प्रति बहुत सतर्क था। विविध विषयों और बौद्धिक चेतना ने हिन्दी कहानी को ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था, जहां व्यक्ति को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित किया जा सके जिसकी कमी को आगामी कथा-साहित्य ने पूरा किया।'[1]

कहानी के इतिहास में यह व्यापक, बाहरी सामाजिक सम्पर्क की दुनिया से संकीर्ण व्यक्तिमन की भीतरी एकान्तिक दुनिया में लौटने का इतिहास है। प्रेमचन्द के यहां जहां व्यक्ति समाज के भीतर अपनी सार्थकता ग्रहण करता था, वहां जैनेन्द्र में समाज व्यक्ति के अन्तर्मन तक सीमित हो गया यानी कहानी के केन्द्र में व्यक्ति आ गया और उसी की जरूरतों के मुताबिक समाज अस्तित्व में आता-जाता था। इस तरह व्यक्तिमन की अंतर्गुत्थियों का ऊहापोह कहानी का मुख्य विषय बन गया। इसी सूक्ष्म मनोविश्लेषणवाद के आग्रहों के कारण इन कहानीकारों ने मनोविज्ञान और सैक्स के पतनशील प्रतिमानों का उपयोग भी जगह-जगह अपनी कहानियों में किया।

प्रेमचन्दोत्तर कहानीकारों की रचनात्मकता व सम्भावनाओं के सन्दर्भ में गुण व दोष, दोनों के साथ उनका विवेचनात्मक तथा तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए डॉ० शिवशंकर पाण्डेय लिखते हैं—'प्रेमचन्द के बाद कथा-साहित्य में

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : गिरीश रस्तोगी, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 10

जो प्रतिभाएं जन्मीं, उनमें यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि से बड़ी उम्मीदें थीं। प्रारम्भ में इन लोगों ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया भी, किन्तु धीरे-धीरे इनके लेखन में स्थिरता आती गई। इसका कारण था, इनमें प्रेमचन्द-जैसी न कलात्मक प्रतिभा थी, न सम्पन्न-समृद्ध जीवन-दृष्टि और न जन-जीवन के यथार्थ-चित्रण के प्रति वैसा आग्रह ही। परिणाम यह हुआ कि ये कथाकार अपने बनाए गए कृत्रिम घेरों में बन्द होते गए। ''इतने पर भी इन कथाकारों की कहानियों में प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने की सारी सम्भावनाएं पाई जाती हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इनकी उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता।'' स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी-साहित्य की कलात्मक सम्भावनाओं के अंकुर प्रेमचन्दोत्तर कथा-पीढ़ी की रचनाओं में ही उगे हैं, उनके लिए कहीं अलग से जमीन नहीं तैयार की गई। नई कहानी के झण्डाबरदारों का प्रेमचन्द की परम्परा से सीधा जुड़ना और बीच की पीढ़ी की शक्ति, सीमाओं और सम्भावनाओं को सरेआम नकार देना तर्कसंगत नहीं लगता।'[1]

हिन्दी कहानी के इस विकासमान युग को लेकर डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रकट किए इन विचारों से सम्भवतः सभी एकमत होंगे कि 'कुल मिलाकर हिन्दी कहानी के विकास की दृष्टि से विवेच्यकाल का उल्लेखनीय महत्व है।''' इस युग में हिन्दी कहानी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं को पार कर वहां पहुंच गई जहां से हमें उसके श्रेष्ठ रूप के दर्शन होने लगते हैं।'[2]

प्रेमचन्दोत्तर युग से पूर्व न वस्तु के स्तर पर और न ही शैली के स्तर पर कोई प्रयोग या उतनी विविधता दिखाई देती है, जो सम्पूर्ण हिन्दी कहानी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस युग की कहानी की देन कही जा सके। 'इस युग के कथाकारों ने स्वतन्त्रता के बाद की कहानी को अपने कथ्यगत वैविध्य ही नहीं, शिल्पगत प्रयोगों के द्वारा भी प्रभावित किया है— विशेषकर अज्ञेय और यशपाल की कहानियों के कथ्य और शिल्प का क्रमोन्मेष प्रभाव बाद के कथा-साहित्य पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में देखा जा सकता है। जैनेन्द्र ने उसे विचार (आइडिया) के धरातल पर प्रभावित किया है, तो यशपाल ने शिल्पगत प्रयोगों से कथा-साहित्य का दिशा-निर्देश किया है। इनकी कुछ विशिष्ट उपलब्धियां रही हैं, जिनसे स्वतन्त्रता के बाद की कहानी—नई कहानी, संचेतन कहानी और

---

1. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प' : डॉ० शिवशंकर पाण्डेय, पृ० 40-41
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 594

अकहानी—को शक्ति मिली है।'[1]

(अ) स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य

विगत तीन दशकों में हिन्दी कथा-साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों, आलोचकों द्वारा 1947 में मिली आजादी को हिन्दी कहानी की विभाजक रेखा माना गया है। इस सन्दर्भ में पर्याप्त विवाद भी चला है कि क्या सचमुच भारतीय आजादी ने हिन्दी कहानी की संवेदना को परिवर्तित या प्रभावित किया है। कई विद्वानों ने 1947 में प्राप्त स्वतन्त्रता को 'अधूरी आजादी' की संज्ञा दी है तथा यह माना है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी उन्हीं अवरोधों में है, जहां वह आजादी से पूर्व था, किन्तु 1947 के बाद, विशेष रूप से पांचवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों से ही कहानियों में कथ्य, संवेदना, भाषा तथा रूपबन्ध की दृष्टि से जो परिवर्तन दिखाई देने लगा था, उसे देखते हुए इस बात को नहीं नकारा जा सकता कि आजादी के बाद का साहित्य स्वतन्त्रता पूर्व-कथा-साहित्य से भिन्न भावभूमि वाला था। एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि स्वतन्त्रता के बाद लिखी गई कहानियों के लिए ही 'आधुनिक कहानी', 'नई कहानी', 'सचेतन कहानी', जैसे नवीन बोध से जुड़े विशेषण प्रयोग किये जाने लगे। इतना अर्थ यह भी लिया जाने लगा कि आजादी से पूर्व की कहानी 'पुरानी कहानी' और आजादी के बाद की कहानी उससे उलट 'नई' या 'आधुनिक कहानी' है।

'नया' या आधुनिक' शब्द एक समय-सापेक्ष-शब्द है, जिसका अर्थ है कि जो आज नया है, वह कल पुराना हो जाएगा तथा आज जो पुराना दिखाई दे रहा है, वह कभी नया था। इसी प्रकार जिसे हम आज आधुनिक कहते हैं, कभी वह पुरातन माना जाने लगेगा। अतः इस प्रकार के शब्दों को प्रवृत्तिबोधक संज्ञा नहीं बनाया जा सकता। आधुनिकता को कमलेश्वर एक प्रक्रिया के रूप में ही मानते हैं—'आधुनिकता निरन्तरता में विकसित होती हुई एक प्रक्रिया है, जो वर्तमान सन्दर्भों को गहनता और नवापन देती है, तथा नई चेतना को हमेशा अपनी ओर आकर्षित करती और नया संस्कार देती है।'[2] उदाहरण के लिए जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के साहित्य को 'आधुनिक काल' की संज्ञा दी थी तो उस समय लिखा जा रहा साहित्य शुक्ल जी के लिए नया अथवा आधुनिक था, लेकिन आज हम

---

1. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प' : डॉ० शिवशंकर पाण्डेय, पृ० 42
2. 'नयी कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 104

भारतेन्दु मण्डल द्वारा लिखे गये साहित्य को आधुनिक साहित्य नहीं कह सकते।

कमलेश्वर की दृष्टि में आधुनिकता पश्चिमी जीवन-मूल्यों और विदेशी प्रभाव के ग्रहण-मात्र में नहीं है—'आधुनिकता वही है, जो अपने ऐतिहासिक क्रम और सामाजिक सन्दर्भों में प्रस्फुटित हुई है—जो प्रभावों को ग्रहण तो करती है, पर अपने आन्तरिक और बाह्य प्रारूपों में नितान्त जातीय और राष्ट्रीय है।'[1] उन्होंने 'आधुनिकता' को 'समकालीनता' से अलग माना है, 'समकालीन जीवन-मूल्य या विचार आधुनिक हो, यह आवश्यक नहीं है।'[2] आधुनिकता को परम्परा-विरोधी भी नहीं कहा जा सकता है। 'यह एक ऐसा मूल्य है, जो बीते हुए को सार्थक रूप में भविष्य से जोड़ता है''वस्तुतः आधुनिकता एक ऐसी मानसिक-बौद्धिक स्थिति है, जो अपने परिवेश और समाज की गहनतर समस्याओं से उद्भूत होती है और समकालीन जीवन को संस्कार देती है। मुख्य-मुख्य मानव-मूल्यों में सर्वव्यापी और सार्वजनिक होते हुए भी आधुनिकता का स्वरूप अपने जातीय स्वरूप से अलग नहीं होता।'[3]

सम्भवतः आजादी के बाद के कथा-साहित्य के लिए जब 'नया' अथवा 'आधुनिक' विशेषणों का प्रयोग किया जाने लगा, तो उस नयी संवेदना या संवेदना के नये स्वरूप के सन्दर्भ में हो, जो आजादी के बाद देखने में आई थी। इससे पहले कि हम स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्दों—'नई कहानी', 'आधुनिक कहानी', 'आंचलिक कहानी', 'सचेतन कहानी' आदि पर विचार करें, यह जान लेना आवश्यक होगा कि वह कौन-सी नवीन भावभूमि थी, जिसके कारण हम आजादी को हिन्दी कहानी की विभाजक रेखा स्वीकार करते हैं।

स्वतन्त्रता के बाद से लेकर अब तक के भारतीय समाज को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहला वर्ग वह था, जो स्वतन्त्रता के आस-पास सोचने के स्तर पर पर्याप्त प्रौढ़ हो चुका था तथा जिसे आजाद भारत के नियोजक के रूप में नये भारत का निर्माण करना था। इस वर्ग में वे सभी बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ और व्यवसायी आ जाते हैं, जिन्होंने स्वतन्त्रता से पूर्व के भारत को देखा था और भविष्य की अनेक आकांक्षाएं जिनके मस्तिष्क में विद्यमान थीं। दूसरा वर्ग वह है, जो स्वतन्त्रता के बाद अस्तित्व में आया और जिसके लिए आजादी से पूर्व का भारत पुस्तकों में पढ़ा जाने वाला विवरण तथा इतिहास की अनुभूति था। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में भी इसी प्रकार दो पीढ़ियां एक

1. 'नयी कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 77
2. वही, पृ० 81
3. वही, पृ० 84

साथ रचना-रत दिखाई देती हैं--एक पीढ़ी वह, जो आजादी से पूर्व लिख रही और दूसरी जिसने आजादी के बाद ही लिखना आरम्भ किया। यद्यपि ये दोनों प्रकार की कहानियां आजादी के बाद ही लिखी गई, किन्तु इनमें से 'नई' अथवा 'आधुनिक कहानी' उसे ही कहा गया, जिसे स्वतन्त्रता के बाद के कहानीकारों द्वारा लिखा गया।

राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी भारतीय समाज में स्वतन्त्रता के बाद व्यापक परिवर्तन आए, जिनसे स्वाभाविक रूप से एक नये भारतीय समाज का निर्माण हुआ। लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली, पंचवर्षीय योजनाएं, संविधान में वर्गभेद की समाप्ति, अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण, नये और आदर्श ग्रामों का जन्म, हर भारतीय नागरिक की राष्ट्र के संचालन में सीधी भागीदारी, यातायात एवं संचार व्यवस्था का विस्तार, महिलाओं के कल्याण सम्बन्धी विभिन्न योजनाएं··ये अनेक कारण ऐसे थे, जिन्होंने हिन्दी कहानीकार को एक नई अछूती पृष्ठभूमि प्रदान की। एक नए प्रकार का नगरीय परिवेश बना, जिसमें से स्पष्टतः नये सम्बन्धों एवं आपसी सरोकारों का उदय हुआ। गांव कस्बों के रूप में बदले और कस्बों में महानगरीय संस्कृति के बीज अंकुरित होने लगे। राजनीति का सीधा हस्तक्षेप ग्रामीण जीवन-प्रणाली के ऊपर हुआ; जिसके फलस्वरूप ग्रामीण जीवन की कहानी 'आंचलिक कहानी' के रूप में एक नये तेवर के साथ उभरी।

नयी प्रकार की सामाजिक विसंगतियों का जन्म भी हुआ। भ्रष्टाचार एवं सामाजिक विद्रूपताओं के नये-नये रूप उभरकर सामने आए, वोटों की राजनीति तथा तुष्टीकरण की नीति ने एक विचित्र प्रकार के सिद्धान्तहीन खोखले वर्ग को जन्म दिया, जिससे हिन्दी कहानी में तीखी, धारदार व्यंग्य कहानियों का सूत्रपात हुआ।

इस प्रकार स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में विविध क्षेत्रों में अलग-अलग स्तरों पर जो भी परिवर्तन हुए, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी उन सबको लेकर आगे चली है। हिन्दी कहानी का यह काल अपने साथ अनेकानेक आन्दोलनों और नामों की शृंखला-सी समाता गया है। अब कहानी अपने-आपमें स्वतन्त्र न होकर, किसी-न-किसी आन्दोलन से सम्बद्ध करके देखी जाने लगी। 'स्वतन्त्रता से पूर्व जो हिन्दी कहानी मात्र कहानी नाम से जानी जाती थी, वह आजादी के बाद दलबन्दियों में फंसकर कभी 'नई कहानी' बनी, तो कभी 'आंचलिक', कभी उसे 'सचेतन' कहा गया, कभी साहित्यिक···तो कभी 'कहानी की मृत्यु' के नाम पर 'अकहानी' का जेहाद बोला गया।'[1]

1. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी', ('प्रकर, भारतीय साहित्य', 25 वर्ष, मई-जून 1973, संयुक्तांक) डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ० 53

आन्दोलनों के नाम पर हिन्दी कहानी में जो मनमानापन हावी हो गया, तथा उसी के बहाने अपने तथा अपने लोगों को स्थापित करने की जो मुहिम चलाई गई, उसी को लक्ष्य करते हुए 'समांतर कहानी आन्दोलन के प्रवर्त्तक कमलेश्वर कहते हैं कि यह एक मनोरंजक स्थिति है कि आज कहानी के क्षेत्र में कुछ ऐसी विकृतियों को भी आन्दोलन का नाम दिया जा रहा है, जो रचनाओं की पीठिका से न उभरकर, व्यक्तियों की कुण्ठाओं से उभर रही हैं।'[1] साहित्यिक आन्दोलनों के उन्मेष के सम्बन्ध में उनका कहना है कि—'किसी भी विधा में जब कुछ विशेष लक्षण परिलक्षित होते हैं – बौद्धिक तथा संवेदनात्मक स्तर पर— और जब वे स्वीकृत-घोषित मूल्यों पर दबाव डालते हैं और उन मूल्यों के लिए एक चुनौती बन जाते हैं तब रचनाकार के सामने खुलकर मूल्यों को अंगीकार करने की समस्या आती है। और जब रचनाकार अपने सृजन द्वारा उस अंगीकृत सत्य को एक सार्थक अभिव्यक्ति देता रहता है, तब वह साहित्यिक आन्दोलन का रूप लेता है।'[2]

'नई कहानी' के आन्दोलन की पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में मोहन राकेश का मत है कि 'नई कहानी' के आन्दोलन की शुरुआत सन् पचास के लगभग हुई—'नई कहानी' यह नाम तो उसे सन् पचपन-छप्पन के बाद से दिया जाने लगा। आन्दोलनों के जन्म क्यों, कब और कैसे होते हैं, उसके पीछे कौन-से कारण होते हैं, इस पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि—'एक नई चेतना को लेकर कोई आन्दोलन नहीं उठता; आन्दोलन किन्हीं विश्वासों या अविश्वासों को लेकर उठता है। साहित्य में एक नये युग की शुरुआत तब तक नहीं होती; जब तक कि उस युग की चेतना किन्हीं विश्वासों या अविश्वासों में परिणत नहीं होती। जब तक कुछ बने हुए विश्वास चेतना को अनुप्राणित करते हैं, तब तक पिछले युग के बीतने की अवधि समाप्त नहीं होती। विभाजन के बाद के वर्षों में बीतने और आने वाले दो युगों का निरन्तर संघर्ष दिखाई देता है—एक ओर विश्वासों को जन्म देने वाली नई चेतना थी और दूसरी ओर चेतना को शासित करने वाले पुराने विश्वास।'[3]

यही वह धरातल है जिस पर 'नई कहानी' का आन्दोलन अपने पैर जमाने लगता है। कमलेश्वर के अनुसार—'इसी ऐतिहासिक नेपथ्य में परिपाटीबद्ध रूढ़ अर्थों में कहानी को अस्वीकार किया गया और कहानी के 'फार्म' तथा कथ्य—

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 38
2. वही
3. 'हिन्दी कहानी : पहचान और परख,' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 31-32

दोनों स्तरों पर एक नवीन दिशा की खोज की गई।'[1]

'हिन्दी कहानी : फिलहाल' पुस्तक में आन्दोलनों की अपरिहार्यता व प्रासंगिकता के सन्दर्भ में बहुत ही संक्षेप व सटीक शब्दावली में कहा गया है कि —'आन्दोलन की जरूरत तब होती है जब साहित्यिक संवेदना और जीवन के बीच फासला दिखाई देता है। प्रत्येक आन्दोलन इस फासले पर सेतु बनाने का संकल्प लेकर आता है।'[2]

राजेन्द्र यादव 'नई कहानी' की उद्भावना के सम्बन्ध में अपने विचारों को नितान्त सीधे-सादे शब्दों में रखते हुए कहते हैं, 'सन् 50 के आस-पास से वैचारिक और एप्रोचगत, परिणामतः स्वरूप के स्तर पर एक नितान्त नई तरह की कहानी हिन्दी में आने लगी थी—भले ही उसका नामकरण दो-चार वर्ष बाद हुआ हो। तब से आज तक की कहानी को हम 'नई कहानी' के ही रूप में जानते हैं।'[3]

'कहानी नवयुगांक'-1956 का हिन्दी-जगत में ऐतिहासिक महत्त्व है और हिन्दी में कहानी की वास्तविक चर्चा, बहस 'कहानी' पत्रिका के पुनर्प्रकाशन के बाद ही प्रारम्भ होता है। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार—'कहानी नवयुगांक-1956 - इसलिए भी उल्लेखनीय है कि इसी में पहली बार स्पष्टतः प्रश्न के रूप में 'नई कहानी' की बात उठाई गई।'[4] 'कहानी' पत्रिका के अतिरिक्त 'कल्पना', 'विनोद', 'लहर', 'ज्ञानोदय' 'नई कहानियां' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों ने भी 'नई कहानी' की चर्चा और उसके उन्मेष में पर्याप्त योग दिया। कथन-गोष्ठियों और कथा-समारोहों की भी इसके प्रचार में काफी सकारात्मक भूमिका रही। मोहन राकेश के कहानी-संग्रह 'नये बादल' और राजेन्द्र यादव के कहानी-संग्रह 'जहां लक्ष्मी कैद है' की भूमिकाएं कहानी सम्बन्धी नयी समीक्षा-दृष्टि को व्यक्त करती हैं। ये सम्पादक के रूप में भैरवप्रसाद गुप्त और समीक्षक के रूप में नामवर सिंह शुरू से ही कहानी सम्बन्धी चर्चा के केन्द्र में रहे हैं।

'नयी कहानी' के अस्तित्व का प्रश्न 1956 में उठाया गया था और 1957 में प्रयाग में होने वाले 'साहित्यकार सम्मेलन' तक 'नयी कहानी' अभिधान को लगभग स्वीकृति मिल गई थी। इस सम्मेलन में पढ़े गये शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई और मोहन राकेश तीनों के निबन्धों की शुरुआत ही 'नयी

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 40
2. 'हिन्दी कहानी : फिलहाल' : डॉ० चन्द्रभान रावत, डॉ० रामकुमार खण्डेलवाल, पृ० 35
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 44
4. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 180

कहानी' शब्द के प्रयोग द्वारा हुई थी। इस प्रकार इस दशक के अन्त तक यानी 1960-61 तक आते-आते कहानी को लेकर जो इतनी चर्चाएं हुईं, व उनके माध्यम से उसे जो सम्मान या प्रमुखता दी जाने लगी, उसके फलस्वरूप 'नयी' विशेषण न रहकर, संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा, किन्तु कमलेश्वर का इस सन्दर्भ में अपना भिन्न दृष्टिकोण है। उनका मानना है कि 'स्वयं अपने में से (यानी सर्जनात्मक साहित्य में से) भी व्यर्थ को छांटते जाने की दृष्टि ही नयी कहानी की वास्तविक प्रक्रिया को जन्म देती है, इसीलिए नया शब्द न विशेषण है और न संज्ञा, यह मात्र उस प्रक्रिया का द्योतक है, जो सतत प्रवहमान है और हर बार नई होती चलती है।'[1]

इस प्रकार कमलेश्वर की दृष्टि में नई कहानी महज एक आन्दोलन नहीं, नये के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने की प्रक्रिया है। इसीलिए उसका कोई स्थिर स्वरूप भी नहीं है। 'नये कहानीकार के लिए स्वयं अपनी या अपने समकालीनों की भी कोई रचना सांचा नहीं है'''और न है 'नयी कहानी' का कोई कटा-छंटा तराशा हुआ कीर्तिमान; क्योंकि जब तक किसी एक लेखक की कोई कहानी किसी नयी दृष्टि से कथ्य को उठाती है, और उस पर विचार-विमर्श होता है, तब तक किसी और लेखक की कोई और कहानी प्रयोग की ताजगी लेकर आ जाती है।'[2]

कमलेश्वर की ही भांति राजेन्द्र यादव भी 'नई कहानी' के नित्य परिवर्तित होते जाने के ही पक्षधर रहे हैं और उसी की वकालत करते हुए कहते हैं, 'वस्तुतः उसके पीछे किसी सुनिश्चित दर्शन या सिद्धान्त की अपेक्षा बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप एक दृष्टि की तलाश ही अधिक थी—इसलिए साहित्य की यह प्रवृत्ति अपने को नित्य नया बनाते जाने की प्रक्रिया के रूप में ही अधिक आयी और जब तक भारतीय समाज में स्वतन्त्रता-प्राप्ति जैसा कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आयेगा, तब तक यह प्रक्रिया निर्बाध रूप में चलेगी—ऊपरी नाम उसके चाहे जो भी दिये जाते रहें। इसलिए 'नई कहानी' का इतिहास इस प्रक्रिया, इसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों और धरातलों की खोज का ही इतिहास है।'[3]

डॉ० नामवर सिंह 'नई कहानी' में निहित सर्जनात्मकता को ही उसके अस्तित्व में आने का कारण घोषित करते हैं— 'नई कहानी' की आवाज वस्तुतः एक रचनात्मक सम्भावना को देखकर उठी थी, जो आज भी नई पीढ़ी के कहानीकारों की पहली कृतियों में साफ झलकती है। ये कृतियां आज भी ताजा मालूम होती हैं; क्योंकि इनके मूल में सर्जनात्मक प्रयास है। लम्बे अवकाश के

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 49
2. वही, पृ० 50-51
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 44-45

बाद हिन्दी कहानी में जीते-जागते आदमी दिखाई पड़े, तो लगा कि कहानी में एक रचनात्मक खोज की शुरुआत हो गई।'[1]

'नई कहानी' आन्दोलन का सम्बन्ध 'नई कविता' के आन्दोलन से प्रायः किसी-न-किसी रूप में जोड़ा जाता रहा है। हालांकि 'नई कहानी' अपने प्रयोग में 'नई कविता' से भिन्न है। यह कविता की भांति रचना की एक शैली नहीं, बल्कि एक ही तरह की मानसिकता के धरातल पर अवस्थित होने के बावजूद नई पीढ़ी के कहानीकारों की अभिव्यक्ति में अन्तर होने के कारण उन सबके अपने अलग-अलग वैशिष्ट्य से युक्त है। अभिव्यक्ति की यही विशिष्टता, भिन्नता उन्हें एक स्वतन्त्र 'आइडेंटिटी' के रूप में स्थापित करती है। कमलेश्वर के विचार में समकालीन साहित्य की असमर्थता की प्रतिक्रियास्वरूप 'नई कविता' आन्दोलन का जन्म हुआ और उसी के आस-पास ही 'नई कहानी' की गतिवान प्रक्रिया भी शुरू होती है और 'नई कहानी'···मानव-मानव के नये उभरते और शक्ल लेते या टूटते सम्बन्धों को रेखांकित करने के साथ ही अपने को जीवन से प्रतिबद्ध मानती है, मत-मतांतरों, फैशनों या वादों से आक्रांत नहीं।'[2]

राजेन्द्र यादव ने स्वीकारा है कि 'नई कहानी' का नामकरण 'नई कविता' की तरह पिछली परम्परा से अलगाने के लिए हुआ है, न कि कविता की नकल पर। वो नई कविता के नई कहानी से पहले साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में स्थापित हो चुकने के प्रति सन्देह प्रकट करते हैं।[3] राजेन्द्र यादव के विचारों के विपरीत मोहन राकेश का अपना मत है कि 'नई कविता' का आन्दोलन 'नई कहानी' से पूर्व अस्तित्व में था, जिन अनिवार्य परिस्थितियों ने इस आन्दोलन को जन्म दिया, उनका नई कविता के आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। 'नई कविता' का आन्दोलन तब तक अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर एक निश्चित रूप और अर्थ ग्रहण कर चुका था।[4]

नई कहानी को नई कविता से भिन्न एवं विशिष्ट बताते हुए डॉ० कार्ष्णेय ने ठीक ही लिखा है कि—'मुक्तमानस से अलग होते ही उपन्यास और कहानी अंतिम सांस लेने लगेगी—समाज सापेक्षता तो उपन्यास और कहानी का प्राण है। कविता के बारे में यह बात ज्यों-की-त्यों नहीं कही जा सकती। जीवन कविता के पीछे रहता है, लेकिन कहानी के आगे रहता है। जिस दिन कहानी जीवन

1. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 182
2. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 17
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 43
4. 'भाष्यम की खोज : नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना', सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 65

को आगे करके नहीं चलेगी, उस दिन वह मर जायेगी। जीवन के इतने अधिक नैकट्य के कारण ही उसकी शिल्पविधि में विविधता आती है। वह नाटक और कविता की भांति नियमों और सिद्धान्तों के जटिल बन्धनों में अपने को बांध नहीं पाती; बांध नहीं सकती। कविता की तरह कहानी आत्मपरक भी नहीं होती।'[1] इसलिए नई कहानी को नई कविता के वजन पर तोलना असंगत व अवैज्ञानिक है।

'नई कहानी' को परिभाषित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है; क्योंकि उसमें कथ्य और शिल्प की विविधता तो है ही, परिवेशगत विस्तार भी अपार है। राजेन्द्र यादव ने 'नई कहानी' के सन्दर्भ में परिवेश व व्यक्ति की अन्योन्याश्रितता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—'चूंकि नई कहानी परिवेश के माध्यम से व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से परिवेश को पाने की एक प्रक्रिया है और हर कथाकार ने इस प्रक्रिया को अपने ढंग से ग्रहण किया है, इसलिए उसकी विविधता और अलगपने ने बहुत लोगों को संकट में डाल दिया है और वे उसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं कर पाते।'[2] आगे वे इसी बात पर जोर देते हुए कहते हैं कि 'परिभाषाओं से साहित्य को समझने वालों के लिए यह सचमुच ही एक दुखद और विकट स्थिति है, जिसका सामना उन्होंने शायद कभी नहीं किया। हर कहानीकार का कथन और उसके निर्वाह का ढंग तो अलग है ही, परिवेश भी इतना विस्तृत है कि बहुतों की निगाह धुंधला जाती है। इसमें जहां फणीश्वरनाथ 'रेणु' की आंचलिकता और मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, अवधनारायण सिंह के ग्राम हैं, वहीं दूसरी ओर उषा प्रियंवदा, निर्मल वर्मा, विजय चौहान की अन्तर्राष्ट्रीयता भी—एक ओर नवर-संकुल सभ्यता कमलेश्वर, मोहन राकेश, कृष्ण बलदेव वैद, भीष्म साहनी, अमरकान्त, रमेश बक्षी, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, गिरिराजकिशोर, मन्नू भण्डारी, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी में आई है, तो दूसरी ओर बस्तर के आदिवासियों और कुमाऊं इत्यादि के पहाड़ी जीवन को शानी, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी, शिवानी, पानू खोलिया ने चित्रित किया है।'[3]

कमलेश्वर भी 'नई कहानी' के अपरिभाषित बने रहने के पक्षधर हैं—'परिभाषा का यह मोह नयी आलोचना को छोड़ना पड़ेगा और अब उसे सिद्धान्तों की रचना करने की जगह आस्वाद का नया धरातल ही स्थापित करना होगा। यहीं पर आलोचना भी एक रचनात्मक रूप में बदल जाती है और यह मांग

1. 'आधुनिक कहानी का परिपार्श्व' : डॉ० वार्ष्णेय, पृ० 85
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 45-46
3. 'कहानी : स्वरूप एवं संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 46

करती है कि लेखक की तरह ही आलोचक भी परिवेश के यथार्थ को झेले; क्योंकि अनुभव की प्रामाणिकता का विश्लेषण परिभाषाओं और सिद्धान्तों के ढांचे से नहीं होगा—उसका विश्लेषण अनुभव के धरातल पर ही हो सकता है। क्योंकि नयी कहानी निरन्तर नये होते रहने की प्रवहमान प्रक्रिया है, अतः आलोचना को भी लेखकों और उनके नामों से हटाकर कहानी की अनवरत धारा पर ही केन्द्रित करना होगा।'[1]

वास्तव में 'नई कहानी' को एक अलग ही कोण से परिभाषित करने की आवश्यकता है; क्योंकि 'अब यथार्थ की कसौटी पर भी कहानी को परख सकना नामुमकिन होता जा रहा है। सामाजिकता, सोद्देश्यता, प्रयोजनशीलता, जीवनपरकता, आदर्शवादिता या निराशावादिता जैसे शब्द भी पाप-पुण्य, सुख-दुःख, अच्छा-बुरा—जैसे पुराने शब्दों की तरह ही अर्थहीन हो गए हैं। यह और इस जैसे तमाम शब्द नई कहानी की ध्वनि और परिणति को अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ हो गए हैं।'[2] आज वह पुरानों-निकषों (कथानक, विषयवस्तु, शैली, शिल्प, चरमबिन्दु आदि) में हो नहीं, पुष-बोझ, जीवन-बोध, समष्टि-व्यष्टि के दायरे में भी नहीं अंट पा रही है।[3] और ऐसा इसलिए है कि 'कहानी अब स्वयं में एक सम्पूर्ण 'उपस्थिति' है—वह न जीवन का विश्लेषण है न समस्याओं का सम्प्रेषण और न गुह्य रहस्यों का अन्वेषण। वह अपने में सर्वांश या आंशिक वस्तु-सत्य या भाव-सत्य का साक्षात्कार है। नई कहानी 'मूड' के बीच से नहीं, सच्चाई और प्रामाणिकता के बीच से गुजरने की अनुभूतिपरक प्रक्रिया है।'[4]

हिन्दी कहानी में 'नई कहानी' और 'नई कविता' के प्रश्न पर विचार करने और उसे परिभाषित करने के संकट के साथ ही साथ 'नई-पुरानी' को लेकर भी काफी द्वन्द्व रहा है, काफी बहसें हुई हैं। जैसा कि पहले भी कहा, स्वतन्त्रता से पूर्व कहानी मात्र कहानी थी, परन्तु अब उसके कई नाम प्रचलित हो गए हैं, उसे जन आन्दोलनों, प्रवृत्तियों ही नहीं, दशकों में भी बांटकर देखा जाने लगा है। 'नई' संज्ञा को लेकर काफी मतभेद रहा है। कुछ समीक्षक, आलोचक, कहानीकार उसे संगत मानते हैं तो कई उसके विरोध में खड़े दिखाई देते हैं। रमेश बक्षी इस सन्दर्भ में अपने विचार रखते हुए 'नई कहानी' संज्ञा को नितान्त प्रासंगिक ठहराते हैं और उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'कहानी तो कहानी पर वक्त ने उसे जो तब्दीली दी, इस कारण वह पुरानी से अलग 'नई कहानी'

---

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 142
2. वही, पृ० 103
3. वही,
4. वही, पृ० 103-104

बन गई है। 'नई कहानी' हिन्दी कहानी के सम्पन्नतर अधुनातन स्वरूप के लिए एक सर्वथा उपयुक्त संज्ञा है।···एक आदमी चपरासी था, मास्टर बना, फिर प्रोफेसर, फिर कलेक्टर वह चपरासी था, यह विगत है उसका, पर अब आज कलेक्टर है तो क्या उसे भूतपूर्व चपरासी के नाम से ही पुकारियेगा? नहीं न? तो फिर आज की कहानी को 'नई कहानी' के नाम से अभिहित किये जाने पर व्यर्थ आपत्ति क्यों? पुरानी कहानी में सब-कुछ था; नई दिशा की सम्भावना भी थी, पर वह बंध गई थी। यूं कहें कि तत्त्वों की वेशभूषा में वह रीति रूढ़ हो गई थी। 'नई कहानी' ने बन्धन तोड़े, उसे हाथों की संकीर्णता से मुक्त किया स्थूल से वह सूक्ष्म की ओर बढ़ी, वह मनोरंजन भर ही नहीं रह गई। भावों का कोई स्पन्दन ऐसा नहीं, जो नई कहानी में न आ सके, शिल्प की ऐसी कोई दिशा नहीं, जो उससे अनदेखी रही हो।'[1]

यों ऊपरी तौर पर देखने में तो रमेश बक्षी द्वारा नई कहानी-पुरानी कहानी के सम्बन्ध में दिया गया उदाहरण बेहद सटीक लगता है लेकिन नई कहानी की दलील पेश करते वक्त पुरानी कहानी को चपरासी और नई कहानी को कलेक्टर की संज्ञा से विभूषित करना अतिरंजनापूर्ण ही नहीं, बल्कि हास्यास्पद हो गया है। इससे तो यही ध्वनि निकलती है कि जैसे प्रेमचन्द, प्रसाद, सुदर्शन, कौशिक, गुलेरी, अज्ञेय, यशपाल, अश्क वगैरह की कहानियां नई कहानियों की तुलना में अत्यन्त निकृष्ट, तुच्छ और गौण हैं, जब कि वास्तविकता यह है कि इनका महत्त्व आज भी बना हुआ है।

पुरानी और नई कहानी के बीच के अन्तर को भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के कहानी-साहित्य में अन्तर्निहित मानते हुए दूधनाथ सिंह भी इस सम्बन्ध में अपना विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के साथ ही कहीं-न-कहीं नई कहानी से प्रभावित व पुरानी कहानी की तुलना में नई कहानी को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, पुरानी कहानी मनुष्य को, जीवन को, समाज को, इतिहास और व्यक्तित्व की एक 'व्याख्या' प्रस्तुत करती है, एक 'इंटरप्रिटेशन' देती है: चाहे वह चेखव हों, या मोपासां, 'ओ हेनरी हों, या मॉम या पो अथवा कैथरीन मैंसफील्ड, या बालजाक, प्रेमचन्द हों, या शरत्, ताराशंकर, गंगाधर गाडगिल या जैनेन्द्र कुमार और यशपाल। नई कहानी मनुष्य को, जीवन को, समाज को, और ऐतिहासिक सन्दर्भ को 'झेलती' और 'महसूस' करती है।[2]

इसी अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वे उसकी प्रक्रिया सम्बन्धी भिन्नता को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि दरअसल 'कहानी बनाने और

1. 'नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना': सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 306
2. वही, पृ० 320

कहानी का अपने बाप कथाकार के हाथों से 'घटित होने' का अन्तर ही पुराने और नए का अन्तर है।'[1]

आगे अपनी कही हुई बात को ही विस्तार देते हुए दूधनाथ सिंह नये और पुराने कथाकारों की कहानी-सम्बन्धी एप्रोच, ढंग या शैलीगत भिन्नता को अपने अति चर्चित जुमले के द्वारा व्याख्यायित करने का प्रयास है, पहले का कहानीकार कहता था—'यह आदमी सुखी लग रहा है। इसे सुखी दिखाया जा सकता है। ···यह आदमी बीमार लग रहा है; इसे बीमार बनाया जा सकता है।' आज का कहानीकार कहता है—'यह आदमी सुखी है—यह आदमी बीमार है।'[2]

'नई कहानी' की यह झेलने और महसूस करने की वास्तविकता—मनुष्य और उसकी सामाजिक परिचालना, उसके आचरण, व्यवहार और संघर्ष की रचना के लिए प्रथम अनिवार्य वस्तु मानती है। इसीलिए 'वस्तु' के यथार्थ से परे आज लेखन का कोई दर्शन नहीं हो सकता।[3]

'नई कहानी और उसकी प्रकृति लेख में पुरानी कहानी से 'नई कहानी' की प्रकृति को इस अर्थ में भिन्न बताया गया है कि—'वह वास्तव को—उस वास्तव को जो प्रामाणिक है और जिसे प्रामाणिकता के साथ झेला जा रहा है—सम्प्रेषण देने के आग्रह से जुड़ी हुई है···'[4]

राजेन्द्र यादव भी नई कहानी के स्वरूप-निर्धारण में प्रामाणिकता की अनिवार्यता को महत्त्व देते हैं—'अप्रामाणिकताओं के विरोध तथा अनुभूति, व्यक्ति और परिवेश की अपनी और इनके आपसी सम्बन्धों की प्रामाणिकता की खोज से ही नई कहानी का स्वरूप निर्धारित होना प्रारम्भ हुआ था।'[5]

जैनेन्द्र नई-पुरानी कहानियों को लेकर किसी भी तरह के बहस के पक्ष में नहीं है···'मेरी यह प्रतीति है कि जितनी इस सम्बन्ध में चर्चा-मीमांसा हुई है, उतनी ही कथा के उत्कर्ष में बाधा पड़ी है।'[6] जैनेन्द्र की ही भांति अमृतराय की भी यही राय है कि—नये कहानीकारों ने जितना 'नई' कहानियों के बारे में लिखा है, उसका दसवां हिस्सा अगर नई कहानियां लिखी होतीं, तो 'नई कहानी' की चर्चा करते समय उन्हें सदा दस-पन्द्रह बरस पुरानी कहानियों का नाम न जपना पड़ता, और शायद अपनी बात को मनवाने में भी आसानी होती। यानी

---

1. 'नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना, सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 320
2. वही, पृ० 321
3. वही, पृ० 321-322
4. 'नई कहानी : प्रकृति और पाठ' : सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 9।
5. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 57
6. 'नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना' : सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 258

कि अगर उनके पास ऐसी कोई बात थी और है।[1]

'नयी कहानी के निर्माण में परिवेश एक अत्यन्त अपरिहार्य व महत्त्वपूर्ण कारक-सी है ही, भाषा-शिल्प सम्बन्धी नवाचार व वस्तु के चुनाव की दृष्टि भी गौण नहीं है। जिसे हम 'नयी कहानी' कहते हैं, वह नये मनुष्य के परिवर्तित परिवेश और अनुभूतियों का परिणाम तो है ही, इस परिणाम की अभिव्यक्ति ने शिल्प और आस्वाद की दृष्टि से भी उसे 'पुरानी कहानी' से अलग कर दिया है··· नयी कहानी ने अपने कथ्य के दबाव से कहानी के सम्पूर्ण 'स्ट्रक्चर' को ही बदलने का सामूहिक और क्रमबद्ध प्रयत्न प्रारम्भ किया।'[2]

हालांकि 'नयी कहानी' से पहले भी हिन्दी कहानी में सांकेतिकता का प्रयोग दृष्टिगत होता है, जो कहानी की मूलभूत संवेदना या कथ्य को पाठक तक सम्प्रेषित करता था, परन्तु आज की नयी कहानी में वह इतने प्रचुर तथा व्यापक रूप में उपलब्ध होता है कि उसे देखते हुए डॉ० नामवर सिंह का कथन कहाँ तक युक्तिसंगत माना जा सकता है, कहना कठिन है; क्योंकि इसमें अन्तर्विरोध स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार—'नयी कहानी का समूचा रूप-गठन (स्ट्रक्चर) और शब्द-गठन (टेक्सचर) ही सांकेतिक है। कहानी के दौरान लेखक जगह-जगह संकेत देता चलता है और ये सभी संकेत एक-दूसरे से इस तरह जुड़े रहते हैं कि एक संकेत प्रायः किसी पूर्ववर्ती संकेत की ओर संकेत करता जाता है, इस प्रकार आधारभूत विचार द्रवीभूत होकर सम्पूर्ण कहानी के शरीर में भर उठता है, कहीं एक जगह स्थिर नहीं रहता। देह में जैसे रक्त अथवा प्राण। शास्त्रीय भाषा में चाहे तो इसे भाव और रूप की अन्तिसंगति भी कह सकते हैं।··· 'प्रभावान्विति' कहानी भी उतनी पुरानी है, जितनी स्वयं आधुनिक कहानी। किन्तु प्रभाव की सम्पूर्ण अन्विति को सांकेतिक बनाने का श्रेय एकदम नयी कहानी को है। नयी कहानी संकेत करती नहीं, बल्कि स्वयं संकेत है।'[3]

'कहानी : स्वरूप और संवेदना' नामक पुस्तक में भी नयी कहानी की सांकेतिकता को कथ्य का अनिवार्य और अन्तर्भुक्त अंग ही माना गया है।[4]

यहां तक पहुंचकर कहानी कथावस्तु, संवाद शैली, चरित्र-चित्रण जैसे सवालों के रूप में न देखी जाकर नये सन्दर्भों में अनुभव की जाने लगी। कथावस्तु, संवाद-शैली, चरित्र-चित्रण वगैरह जो कभी कहानी के मूल्यांकन के लिए पर्याप्त समझे जाते थे, समय-परिवेश तथा मनःस्थिति में आए बदलाव के कारण न केवल

---

1. 'नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना' : सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 281
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 46
3. 'कहानी : नयी कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 32-33
4. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 101

अपर्याप्त बल्कि प्रासंगिक भी नहीं रह गए थे। उनकी अर्थवत्ता वातावरण-सृष्टि तथा बिम्ब-योजना के रूप में तलाशी जाने लगी।

अभीष्ट विचार या भाव को सांकेतिकता प्रदान करने के लिए नये कथाकारों ने प्राय: कथानक और चरित्र के स्थूल उपादानों से ध्यान हटाकर 'वातावरण' पर दृष्टि केन्द्रित की है।···किन्तु नयी कहानी में वातावरण अलंकरण-मात्र नहीं है, बल्कि अन्त:करण है। वातावरण-निर्माण में नये कहानीकार प्राय: बिम्ब-विधान का सहारा लेते हैं।···बिम्ब वस्तुत: आधुनिक युग की कलात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम हो गया है। तथाकथित आंचलिक कहानियों की जीवन्तता मुख्यत: बिम्बों द्वारा निर्मित वातावरण से ही उत्पन्न हुई। शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार', शिवप्रसाद सिंह की 'दीनू के साथ एक सुबह', राजेन्द्र यादव की 'नया मकान और प्रश्नवाचक पेड़', मोहन राकेश की 'आर्द्रा' तथा निर्मल वर्मा की 'तीसरा गवाह' कहानी में बिम्ब-विधान तथा वातावरण के सार्थक प्रयोग को देखा जा सकता है।[1]

'मलबे का मालिक', 'खोई हुई दिशाएं', 'फ्रेन्च के इधर-उधर' या 'आद्रसवर्ग' जैसी दर्जनों कहानियां इन प्रतीकों के कारण ही विशिष्ट हो उठी हैं। प्रतीक संकेत ही नहीं, भाषा की सम्पूर्ण सांकेतिकता और लाक्षणिकता तो इन प्रयोगों के हाशिये थे ही···भाषा से लेकर स्ट्रक्चर तक यही अकुलाहट कहानी को आमूल बदल रही थी।[2]

अब कहानी में घटना आदि की उपस्थिति उतनी प्रमुख नहीं रह गई मात्र किसी मन:स्थिति को लेकर भी आज कहानी लिखी ही नहीं जाने लगी, वरन् सफल भी हुई है। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' में कहानी की नायिका की मन:स्थिति का ही चित्र बड़ी खूबसूरती से प्रस्तुत हुआ है। बदलते जीवन की प्रक्रिया के प्रति इस दृष्टिकोण, अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता के आग्रह ने नयी कहानी को आज न तो इतना इकहरा रहने दिया है, न कटा-छंटा। स्थिति को उसके जीवन्त रेशों के साथ, उसकी सम्पूर्णता में पकड़ने के आग्रह के कारण आज कहानी ध्वनियों, संकेत, प्रतीकों और बिम्बों के अनेक स्तरों पर एक साथ चलती है, भाषा को अधिक प्रभावोत्पादक और अर्थ-गम्भीर बनाती है। घटना या स्थूल परिस्थिति को या तो बहुत लापरवाही से जिक्र-भर के लिए लेती है, या बहुत ही अमूर्तता के साथ।'[3]

कमलेश्वर भी कहानी के लिए घटना या वस्तु को उतनी प्रमुखता नहीं देते,

1. 'कहानी : नयी कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 31
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 98
3. वही, पृ० 66

बल्कि एक अनुभव के रूप में उसकी सफलता व सार्थकता स्वीकार करते हैं— 'आज की कहानी घटनाओं का संपुंजन या कथानक का मनोवैज्ञानिक विकास-भर नहीं है—उसकी यात्रा घटनाओं या संयोगों में से न होकर प्रसंगों की आंतरिक प्रतिक्रियाओं के बीच होती है और संवेदना के सूक्ष्म तन्तुओं पर धीरे-धीरे आघात करती हुई वह एक सम्पूर्ण अनुभव से गुजर जाती है, इसीलिए वह कथा-यात्रा नहीं, पाठक के उस अनुभव से स्वयं की यात्रा हो जाती है। नयी कहानी की यही आंतरिक उपलब्धि है कि वह अनुभव के धरातल पर सार्थक होती है, वर्णन या कहानी के धरातल पर नहीं।'[1]

प्रेमचन्दोत्तर युग के कहानीकार जैनेन्द्र, अज्ञेय वगैरह ने वैयक्तिक दृष्टि से व्यक्तिवादी चरित्रों की सृष्टि की और उसी को अपनी पूरी संवेदना सौंपी। परन्तु नये कहानीकारों ने प्रेमचन्द युग की भांति कहानी को पुनः सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने-उठाने की यात्रा प्रारम्भ की, जिसका विरोध भी हुआ, 'नयी कहानी ने 'व्यक्ति' को उसकी सामाजिक पीठिका और परिवेश में रखकर देखा था और सामाजिक यथार्थ के बीच एक व्यक्ति को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की थी। 'समाज' शब्द व्यक्तिवादियों के लिए सबसे बड़ा हौवा था, इसलिए वे नयी कहानी का ही विरोध कर रहे थे।'[2]

'नयी कहानी' का नायक अतीतजीवी होता है, वह स्थानों से नहीं स्मृतियों से आक्रांत है, वर्तमान में कभी आता भी है, तो एकदम निरीह रूप में और जीवन-शून्य बनकर या कभी अतीत की स्मृतियों को खोसने के निमित्त। उदाहरण के लिए 'नयी कहानी' की ऐसी कई कहानियों को लिया जा सकता है जो अतीत में जीने की विवशता के कारण 'उसने कहा था' कहानी की तरह प्रायः 'फ्लैश बैक' शैली में लिखी गयी है : 'खेल-खिलौने', 'बादलों के घेरे', 'हंसा जाइ अकेला', 'राजा निरबंसिया', 'डिप्टी कलक्टरी', 'मिस पाल', 'यहां लक्ष्मी कैद है', 'जानवर और जानवर', 'कोसी का घटवार', 'तीसरी कसम', निर्मल वर्मा की कुछ कहानियां और प्रयाग नारायण शुक्ल की प्रायः सभी कहानियां, वही पंख नोचा जाता वर्तमान, वही घुटा-रोता-सा वातावरण, वही भुतहा मकान में भंडराते चमगादड़ों-सा अतीत...[3]

जिस प्रकार संकेत, उसी प्रकार यथार्थ भी कहानी में नयी कहानी से पहले भी विद्यमान रहता था, परन्तु आज कहानी में निहित यथार्थ अपनी प्रस्तुति के ढंग से अलग ही अस्तित्व ग्रहण कर चुका है। यथार्थ के प्रति नया लेखक पर्याप्त

1. 'नयी कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 72-73
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 45
3. वही, पृ० 134

सजग है।

राजेन्द्र यादव के अनुसार—'नयी कहानी' आग्रहों की कहानी नहीं है, प्रवृत्तियों की हो सकती है और उसका मूल स्रोत है—जीवन का यथार्थ-बोध।··· उसने जीवन को विभिन्न स्तरों पर वहन करने वाले केन्द्रीय पात्रों की तलाश की थी · यथार्थ की तलाश की थी, जिसकी साक्षी है वे सभी कहानियां, जो इस दौर में लिखी गईं—'पराया सुख', 'गदल', 'धरती अब भी घूम रही है', 'जानवर और जानवर', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'दोपहर का भोजन', 'चीफ की दावत', 'गुलकी बन्नो', 'शुतुरमुर्ग', 'बदबू', 'हवा आई अकेला', 'नन्हों', 'चौदह कोसी पंचायत', 'पंखाकुली', 'भैंस का कट्या', 'तीसरी कसम', 'लन्दन की एक रात', 'रेखा', 'यही सच है', 'गुलाब के फूल और कांटे', 'हिरन की आंखें', 'सिक्का बदल गया', 'कस्तूरी मृग', 'समय', 'जमीन-आसमान', 'खत्तपात', 'फ्रेंस के इधर-उधर', 'एक पति के नोट्स' आदि। कहानियां और भी हैं और यह भी सही है कि उपरोक्त कहानियों के लेखकों ने सभी कहानियां नयी नहीं लिखी हैं, पर यही आज की कहानी की सशक्त धारा है।[1]

प्रख्यात कथा-आलोचक डॉ० इन्द्रनाथ मदान यथार्थ को वर्गकों के अनुसार श्रेणीबद्ध रूप में प्रस्तुत करते हुए कहानीकारों की दृष्टि में आते गये, बदलाव को भी रेखांकित करने की कोशिश करते हैं।

सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० देवीशंकर अवस्थी का कथन है कि—'चौथे-पांचवें दशकों के लेखक 'यथार्थ का सृजन' करते थे, तो पचास के लेखक 'यथार्थ को अभिव्यक्त' करते थे, पर एकदम नया समकालीन कहानीकार 'यथार्थ को खोजता' है।··· विभाजन का यथार्थ, उपेक्षित अंचलों का यथार्थ; उपेक्षित पात्रों का यथार्थ, उपेक्षित गलियों का यथार्थ, इन्हें नये कहानीकार व्यक्त कर सके हैं। 'रसप्रिया' हो या 'गुलकी बन्नो', 'प्रतीक्षा' हो, या 'राजा निरबंसिया', 'मिथिला का अंचल' हो, या 'बस्ती' का', या 'पोंडवाने' का—मूल दृष्टि यही बनी रही। फिर नयी कहानी इसमें यथार्थ के नाम से छोंक देती रही, सामाजिकता की, मानवता की, समस्याओं की यानी कि रूप बदले प्रगतिवाद की।'[2]

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि 'नयी कहानी' के आन्दोलन ने कहानी के क्षेत्र में पहली बार एक ऐसी बहस उपस्थित की, जिसका दायरा बहुत व्यापक है।

'जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय हिन्दी के तीनों लेखक, किसी भी विचारसूक्ति,

---

1. 'नयी कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 75-76
2. 'हिन्दी कहानी : पहचान और परख' : सम्पा० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 165

दर्शन-सूत्र या आइडिया के अनुसार पात्र या घटना की कल्पना कर लेते थे और एक विशेष द्वन्द्व तथा क्लाइमेक्स के बाद चमत्कार या झटके से पूर्व-निश्चित आइडिया का उद्घाटन कर देते थे।...नयी कहानी ने सबसे पहले घटना, देश, काल, पात्रों की इस सीमाहीन छूट का विरोध किया—क्योंकि यह छूट तो कहानी को प्रामाणिक रहने देती थी, न विश्वसनीय। पात्र और परिवेश सभी कुछ अपना और परिचित होना चाहिए—क्योंकि आज वही सबसे अधिक प्रामाणिक है।... विचार के अनुसार अनुभव और घटनाएं तलाश कर लेना, एक उधार का जामा ओढ़ लेने-जैसा है, क्योंकि वह ली हुई स्थापना और विचार अपने ही जीवन से उद्भूत नहीं होते। स्वानुभूति की प्रामाणिकता से गुजरकर अगर हम किसी विचार, अर्थ, दृष्टि या दर्शन तक पहुंचते हैं, तो वह हमारी अपनी उपलब्धि होती है। यही कारण है कि आज की कहानी में एक भी ऐतिहासिक या अनजिए विदेश की कहानी नहीं है, प्रायः वे स्थितियां भी नहीं हैं, जो लेखकीय परिवेश का अंग नहीं बन पाईं।'[1]

ऊपर के उद्धरण से भी एक बात सिद्ध होती अवश्य है कि 'नयी कहानी' के आन्दोलन को एक व्यापक तथा प्रभावी स्वरूप देने का काम सुनियोजित ही नहीं, बल्कि सुसंगत रूप में हुआ। असहमति हो सकती है, लेकिन इतना निश्चित है कि कहानी सम्बन्धी बहस को एक पूरा प्रवाह मिला। 'नयी कहानी' आन्दोलन के प्रमुख प्रवक्ता तथा सुप्रसिद्ध कहानीकार राजेन्द्र यादव के अनुसार—

'वस्तुतः नयी कहानी आज के जीवन, जिसे आधुनिकता, समकालीनता, कुछ भी कह लीजिए, को जीने, उसे विभिन्न स्तरों पर समझने, उसके अर्थ तलाश करने, सार्थकता-निरर्थकता खोजने की कहानी है। इस प्रक्रिया में कहानी के स्वरूप, शिल्प, भाषा और स्वयं जीवन, उसके आपसी सम्बन्धों के इतने अधिक रूप और उनकी छायाओं को वाणी मिली है कि लगता है, आज शायद साहित्य की कोई दूसरी विधा इतनी सम्पन्न नहीं है। एक साथ इतनी अधिक समर्थ और सम्भावना-पूर्ण प्रतिभाओं का उदय, जीवन के इतने विविध और विशद पक्षों का अंकन, कलात्मक स्तर-साहित्य की किसी भी एक ही विधा में बहुत दिनों बाद देखने को मिले हैं।'[2]

इसी समय कुछ कवियों को कहानी-लेखन के प्रति रुझान को ही लक्ष्य करते हुए राजेन्द्र यादव आगे कहते हैं कि—'यह नई कहानी की शक्ति और युग-बोध के स्वर को सम्पूर्णता और प्रभाव के साथ अभिव्यक्ति देने की क्षमता ही थी जिसने धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल, श्रीकान्त

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 55-56
2. वही, पृ० 46

वर्मा—जैसे सप्तकों के सनदयाफ्ता कवियों को अपनी ओर आने का प्रलोभन दिया है। कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानियों का श्रेय भी इन लेखकों को प्राप्त है। लेकिन शायद ही किसी ने कहानीकार के रूप में स्थापित हो चुकने पर कविता की तरफ इस तरह की रुचि दिखाई हो।'[1]

ऐसा नहीं है कि 'नई कहानी' ने एकाएक इतना सब-कुछ सिर्फ अपने बूते पर उपलब्ध कर लिया हो, उसने बहुत-कुछ परम्परा से भी लिया है, भले ही अपने ढंग और आवश्यकतानुसार उसका इस्तेमाल किया हो। हां, यह अवश्य है कि इन लेखकों की यह भरसक कोशिश रही है कि वो अपने अनुभव-क्षेत्र में आये को ही कहानी का विषय बनाते हैं, 'नई कहानी' विकास की प्रक्रिया से गुजरी है, जिसके बस्तु-बीज प्रेमचन्द, प्रसाद और यशपाल में हैं।

'नई कहानी' आन्दोलन के दूसरे प्रमुख कहानीकार कमलेश्वर के अनुसार—'नयी कहानी ने उत्तराधिकार में जो कुछ पाया, उस सबको बिना सोचे-समझे ग्रहण नहीं किया—प्राप्त मूल्यों में से जिसकी सगति उसकी आन्तरिक प्रक्रिया की प्रकृति और अपने जीवनबोध के साथ बैठती थी, उसे ही ग्रहण किया है। और हर लेखक ने अपने अनुभूत जीवन की निरंतरता में से जीवनखण्डों को उठाकर अभिव्यक्ति दी है। 'रेणु' राकेश, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, हरिशंकर परसाई, अमरकान्त, रमेश बक्षी, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, मन्नू भण्डारी, शैलेश मटियानी, उषा प्रियंवदा, मधुकर गंगाधर, राजेन्द्र अवस्थी, शानी, शरद जोशी जैसे सशक्त लेखकों ने 'नयी कहानी' को जीवन्तता और विविधता दी है। कुछ अन्तराल से आने वालों में, प्रयाग शुक्ल, विजय चौहान, रामनारायण शुक्ल, प्रबोधकुमार, महेन्द्र भल्ला, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन, सुशीलकुमार, विमल, देवेन गुप्त, अनीता औलक, योगेश गुप्त, अवध-नारायण सिंह, प्रेम कपूर, गिरिराजकिशोर आदि ने और भी नये आयामों की ओर यात्रा आरम्भ की है।'[2]

कथ्य एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से 'नई कहानी' को समृद्ध करने वाले कहानीकारों में मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर की तिकड़ी के अतिरिक्त, 'रेणु', शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, अमरकान्त, शेखर जोशी, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, लक्ष्मीनारायण लाल, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रमेश बक्षी, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, शानी, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती आदि प्रमुख हैं। डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार लगभग 1959-60 तक इस कहानी-दशक में

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 46
2. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 41-42

उभरने वाले नये कहानीकारों ने अपने अपेक्षाकृत नये सर्जनात्मक कृतित्व से हिन्दी कहानी को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह तो नई कहानी के विरोधी भी स्वीकार करते हैं कि अकेले इस दशक में हिन्दी में जितनी अच्छी कहानियां लिखी गईं, वह अपने-आपमें एक मिसाल हैं। हिन्दी की जो नई प्रतिभाएं पहले कविता की ओर मुड़ आया करती थी, वे तथा वैसी अन्य अनेक प्रतिभाएं इस दशक में प्रायः कहानी के क्षेत्र में आ गईं। सभी नए कहानीकारों में समान रूप से नये सृजन की चेतना चले ही न रही हो, किन्तु इस कहानी-दशक की मुख्य प्रवृत्ति नए सृजन की थी।'[1]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी को हम मोटे तौर पर चार भागों में बांटकर देख सकते हैं—

(क) नगरीय भाव-बोध की कहानियां
(ख) कस्बाई भाव-बोध की कहानियां
(ग) आंचलिक कहानियां
(घ) व्यंग्य-प्रधान कहानियां

नगरों तथा महानगरों की स्थिति में स्वतन्त्रता के बाद जो बदलाव परिलक्षित होता है, उसका असर महानगरों में रहने वाले व्यक्ति की मानसिकता पर भी होता है और इस प्रकार नगरीय तथा महानगरीय-बोध से युक्त व्यक्ति का चित्रण स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों का मुख्य विषय है।

'आज की कहानी मुख्यतः महानगर-बोध की कहानी है। हो सकता है, यह अनुभूत को लिखने की जिद की वजह से ही हुआ हो कि आज की कहानियां ज्यादातर महानगर की मानसिकता को उठाती चलती हैं···अकेलेपन और असहायता का जो स्वर इस दौर की कहानियों का मुख्य स्वर है, उसका गहरा अहसास महानगर में ही होता है। महानगर की वजह से वह स्वर था, या उस स्वर की वजह से बार-बार महानगर को ही उठाया गया, यह तो हर लेखक के साथ अलग-अलग तरीके से ही बीता होगा।···महानगर-बोध को एक फार्मूले की तरह भी अक्सर इस्तेमाल किया गया है। ऐसे लेखक, जो गांव और कस्बे की चेतना से ओत-प्रोत थे और उस पर ही ज्यादा प्रामाणिक ढंग से लिख सकते थे, वे भी महानगर के लोभ का संवरण मुश्किल से कर पाते हैं।'[2]

'महानगर का लोभ संवरण नहीं कर पाने के जिस खतरे की ओर संकेत स्वयं महानगरीय तथा कस्बाई जीवन की कहानियां लिखने वाले सुप्रसिद्ध कहानीकार गोविन्द मिश्र ने किया है, वह कोई एकांगी मत नहीं है।

---

1. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 189
2. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 27

'समकालीन कहानीकारों ने भावात्मक सम्बन्धों के द्वन्द्व, यथार्थ की अपेक्षा महानगरीय सन्दर्भों में सम्बन्धों और स्थितियों के तनाव और त्रास को तरजीह दी है और उन्हें अस्तित्व-संकट की मानवीय स्थितियों से भी जोड़ने की कोशिश की है। इन कहानियों के सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि महानगर के जिन सन्दर्भों को लेकर कहानी की नींव रखी गई है, वे वास्तविक भी हैं, या नहीं। अक्सर होता यह है कि लेखक महानगर का एक 'फेक' या कल्पित संसार रच लेते हैं, जिनका महानगर के वास्तविक सन्दर्भों से कोई वास्ता नहीं होता। ऐसी कहानियों में लेखक का कस्बाई-बोध और ग्राम्य-संस्कार हावी रहता है। शहरी यथार्थ का एहसास कराने के लिए तटस्थ और निर्मम दृष्टि जरूरी है, जो नगर-जीवन और नगर-संस्कृति की विविध प्रक्रियाओं की गहरी समझ और बोध पर आधृत हो। शहर में रह रहे व्यक्ति की चेतना पर दोहरे-तिहरे दबाव हैं। इन दबावों से तनाव उत्पन्न हुए हैं और विसंगतियां या 'एब्सर्ड' स्थितियां पैदा हुई हैं। नगरीकरण और औद्योगीकरण के कारण जीवन-पद्धतियों में एक व्यापक धरातल पर उलट-फेर हुए हैं और यंत्र-सभ्यता के दबावों को हर संवेदनशील व्यक्ति महसूस कर रहा है।'[1]

महानगरीय बोध के प्रमुख कहानीकार हैं—निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कृष्ण बलदेव वैद, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, भीष्म साहनी, रघुवीरसहाय, रमेश बक्षी, रामकुमार, श्रीकान्त वर्मा, गोविन्द मिश्र, गिरिराज किशोर इत्यादि। महानगरों के अकेलेपन एवं अजनबीपन को निर्मल वर्मा तथा मोहन राकेश ने सबसे पहले अपनी कहानियों में उठाया। 'लन्दन की एक रात', 'लवर्स', 'पराये शहर में', 'डेढ़ इंच ऊपर', 'अन्तर', 'पहाड़' आदि निर्मल वर्मा की इस मनोवृत्ति की श्रेष्ठ कहानियां हैं। नगरों तथा महानगरों की ओर बढ़ते हुए व्यक्ति के अकेलेपन की मन्त्रणा को मोहन राकेश ने 'मिस पाल', 'आर्द्रा', 'काला रोजगार', 'अपरिचित' 'फौलाद का आकाश' तथा मुख्य रूप से 'एक और जिन्दगी' कहानी में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है। राजेन्द्र यादव की 'टूटना', 'प्रतीक्षा', कृष्ण बलदेव वैद की 'बीच का दरवाजा', 'अजनबी' 'भगवान के नाम सिफारिशी की चिट्ठी', मन्नू भण्डारी की 'क्षय', 'सजा', 'मैं हार गई', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', 'मछलियां', कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे', 'यारों के यार' रामकुमार की 'सेलर', 'लो पर रखी हथेली', 'खाली कैनवास', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', 'पटरियां', 'इन्द्रजाल' रघुवीर सहाय की 'विजेता', 'प्रेमिका', 'मेरे और नंगी औरत के बीच', 'सेब',

1. 'हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा' : सम्पा० डॉ० रामदरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन, पृ० 36

रमेश बक्षी की 'आया गीत गा रही थी', 'धर्मस में कैद कुनकुना पानी', 'अलग-अलग कोण', 'किस्सा : एक लुतरमुर्ग का' तथा श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा', 'झाड़ी', 'टूयूमर', गोविन्द मिश्र की 'अकरामाला' व गिरिराज किशोर की 'चिमनी' आदि कहानियां महानगरीय जीवन के सहज स्वाभाविक चित्रण से युक्त हैं। 'महानगरीय' प्रत्यय में 'नगर' भी समाहित है।[1]

'नये कहानीकारों ने नगर ग्राम के समान ही कस्बाई मनोवृत्ति का सूक्ष्म चित्रण किया है।—इन कहानीकारों ने कस्बाई मनोवृत्ति की विभिन्न दशाओं को अपनी कहानियों का आधार बनाया है। कहीं पर इन्होंने कस्बाई वातावरण को चित्रित किया है, कहीं पात्रों की मनोवृत्तियों को उजागर किया है। कहीं जाति या स्थान की भावनाओं और विशेषताओं को व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। कहीं पर ईश्वर में आस्था-अनास्था को लेकर भी इन्होंने अपनी कहानियों में स्थान दिया है। नगरबोध और कस्बाई मनोवृत्ति के संघर्ष एवं सम्पर्क द्वारा भी इन कहानीकारों ने कस्बे के लोगों की मनोवृत्ति का चित्रण किया है।'

दूसरे प्रकार की कहानियां कस्बाई मनोवृत्ति पर आधारित हैं, या कस्बों के जीवन पर लिखी गई हैं। आजादी के बाद भारतीय ग्रामों का शहरीकरण हुआ। इस प्रकार, कई गांव जो शहर बनने की प्रक्रिया में थे, गांव और शहर की संस्कृतियों के मिश्रण बन गए। इन स्थानों को कस्बा कहा जाता है। इस मनोवृत्ति के प्रमुख कहानीकार हैं—कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह, शेखर जोशी, ज्ञानी, अमरकान्त, हृदयेश, अमृत राय तथा महीप सिंह आदि। कहीं कस्बे का जीवन-परिवेश ही कहानी की पृष्ठभूमि के रूप में है, तो कहीं महानगरीय जीवन के समानान्तर कस्बे के जीवन को कहानी में चित्रित किया गया है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विकसित इन कस्बों पर आधारित कहानियां बेहद कलापूर्ण हैं और सफल रही हैं। कस्बाई मनोवृत्ति को लेकर लिखने वाले पहले लेखक अमरकान्त है। इन मनोवृत्ति की प्रमुख कहानियां हैं—'मुरदों की दुनिया', 'जांगर', 'राजा निरबंसिया', 'नीली झील', 'खोई हुई दिशाएं', 'कस्बे का आदमी', 'सीखचे' (कमलेश्वर), 'मित्रो मरजानी', 'यारों के यार' (कृष्णा सोबती), 'धुवां', 'हरिनाकुस का बेटा', 'कुलटा', 'अगला अवतार', 'गुलकी बन्नो', (धर्मवीर भारती) 'मुर्दाराय', (शिवप्रसाद सिंह) 'कोसी का घटवार', (शेखर जोशी) 'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी कलक्टरी', 'गगनबिहारी', (अमरकान्त), 'सभाएं', 'डेकोरेशन पीस', (हृदयेश), 'डाली नहीं फूलती', 'एक नाव के यात्री', (ज्ञानी), 'कस्बे का एक दिन' (अमृत राय), 'सीधी रेखाओं का वृत्त', (महीप सिंह) इत्यादि। अमरकान्त तथा

1. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृ० 145

कमलेश्वर की कहानियों में स्वाभाविक मनोदशाओं के साथ ही उस जीवन की अच्छाइयां तथा बुराइयां भी चित्रित हैं।'[1]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में 'नई कहानी' की भांति 'आंचलिक कहानी' ने भी एक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया था। 'आंचलिक' शब्द के विषय में पाठकों-समीक्षकों में पर्याप्त भ्रम व्याप्त है। कुछ समीक्षकों के मत में 'आंचलिक' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'किसी क्षेत्र-विशेष से सम्बन्धित' और कुछ की दृष्टि में केवल ग्रामीण जीवन पर आधारित कहानियां ही आंचलिक हैं। हिन्दी कथा-साहित्य में 'आंचलिक साहित्य' की स्वतन्त्र चर्चा तथा प्रस्थापना का क्रम 'मैला आंचल' से प्रारम्भ होता है। और इस प्रकार आंचलिकता की विशिष्टता के रेखांकन का श्रेय फणीश्वरनाथ रेणु को ही है। डॉ० देवशंकर अवतरे के अनुसार—'देश के किसी अंचल का सार्थक चित्र उपस्थित करना इसकी सैद्धान्तिक दृष्टि है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए लोकगीत, लोकगाथा, लोकाचार, लोकभाषा आदि की रंगत अपनानी पड़ती है। आंचलिक जीवन की परम्परागत पद्धति, तत्कालीन राजनीतिक मान्यताओं के प्रति जनजीवन की प्रतिक्रिया और सामाजिक जीवन की यथार्थपरक झांकी उपस्थित करना इस प्रयोग की प्रक्रिया है।'[2]...'किसी क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित' अर्थ को यदि आंचलिकता की कसौटी बनाया जाय तो उसे केवल गांवों तक ही सीमित कर देना असंगत होगा। हालांकि हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिक कहानियों की श्रेणी में वे ही कहानियां चर्चित हुईं, जिनका सम्बन्ध ग्रामीण जनजीवन से था।

चूंकि आंचलिक कहानियों में प्रायः ग्रामीण जनजीवन का ही अंकन हुआ है, अतः अक्सर गांव की कहानियों को भी आंचलिक कहानियों के अन्तर्गत मान लिये जाने का भ्रम निर्मित होता है, लेकिन इन ग्राम-कहानियों में विशिष्ट क्षेत्र की संस्कृति का विशद् रूप में वर्णन न होकर, आंचलिकता के किसी अंग का साधन-रूप में इस्तेमाल किया जाता है। ग्राम और आंचलिक कहानियों का अन्तर स्पष्ट करने के साथ ही, डॉ० शिवप्रसाद सिंह ग्राम कथाओं को ज्यादा विशिष्ट मानते हैं—'ग्राम कथा ज्यादा व्यापक और उपयुक्त शब्द है। आंचलिकता एक प्रवृत्ति मात्र है, ग्रामकथाएं सभी आंचलिक नहीं होतीं।'[3]

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय ग्रामों की बदलती हुई स्थिति और नई चेतना को आंचलिक कहानियों में वृहद रूप से उठाया गया है। 'इसके पहले गांव अपने

1. 'हिन्दी कहानी : 15 पग चिह्न' : सम्पा० प्रो० महेन्द्र प्रताप बटरोही, पृ० 42
2. 'हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग' : डॉ० देवशंकर अवतरे, पृ० 184
3. 'सारिका' फरवरी, 62, पृ० 93

परिपार्श्व में पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाए थे।'[1] फणीश्वरनाथ 'रेणु', शैलेश मटियानी, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, मधुकर सिंह, राजेन्द्र अवस्थी, मधुकर गंगाधर तथा हिमांशु जोशी आदि सभी कहानीकारों ने अपने-अपने परिवेश से सम्बन्धित जीवन के स्पन्दन को अपनी कहानियों का विषय बनाया, परन्तु रोमांटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयता-पूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है। वे आदिम रस-गन्धों के कथाकार हैं। गांव की धूल-माटी, आंगन की धूप, बैलों की घंटियां धान की झुकी हुई बालियां, गमकता चावल, मेला-ठेला, हसी-ठिठोली आदि के वर्णन में गांव के ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। 'तीसरी कसम' और 'लाल पान की बेगम' इस दृष्टि की विशेष रूप से उल्लेखनीय कहानियां हैं। आंचलिक बोध से सम्पन्न अन्य प्रमुख कहानियां हैं—'आदिम रात्रि की महक', 'तीन बिंदियां' (रेणु), 'दो दुखों का एक सुख', 'माता', 'प्रेतमुक्ति', 'सुहागिनी' (शैलेश मटियानी), 'इन्हें भी इन्तजार है', 'बिन्दा महाराज', 'मुरदा सराय', 'कर्मनाशा की हार' (शिवप्रसाद सिंह), 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान', 'माई', (मार्कण्डेय) 'दाज्यू', 'कोसी का घटवार', (शेखर जोशी), 'विभाजन', 'पीढ़ियां', (राजेन्द्र अवस्थी), 'आधार' 'कलंक', 'डिबरी', (मधुकर सिंह), 'एक बटवृक्ष था', 'एक समुद्र भी' तथा 'परती और परदेश' (हिमांशु जोशी) इत्यादि। ये कहानियां अनुभव के अनछुए पहलुओं का उद्घाटन करती हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने आंचलिकता के विभिन्न आयामों को अपनी कहानियों में उभारा है। 'इनकी कहानियों में आंचलिकता कई रूपों में व्यक्त होती है। कहीं तो इन कहानियों का वातावरण आंचलिक बनाकर आंचलिकता उभारी गई है, कहीं उपेक्षित जनजीवन को कथ्य बनाकर, कहीं आंचलिक भावों के माध्यम से, कहीं आंचलिक 'लघु मानव' चरित्रों के द्वारा, कहीं गांवों की नवीन स्थितियों की ओर संकेत करते हुए आंचलिकता अंकित की गई है और कहीं यह आंचलिकता नगरों से गांवों में आकर देखी तथा कभी गांवों से नगर जाकर देखी गई प्रतीत होती है। कहीं व्यंग्यों के सहारे, कहीं आर्थिक विपन्नता के माध्यम से तथा कहीं नगर-बोध और आंचलिकता के बीच संघर्ष चित्रित करके आंचलिकता उभारने की चेष्टाएं की गई हैं।'[2]

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के गांवों में घटित परिवर्तनों की अपेक्षा आंचलिक कहानीकारों ने आंचलिकता के उद्घाटन में अपनी रुचि अधिक दिखलाई है। इसी ओर संकेत करते हुए डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम का कहना है कि, 'स्वतन्त्रता के

1. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 690
2. 'नई कहानी : कथ्य और शिल्प' : डॉ० संतवक्ष्य सिंह, पृ० 155

पश्चात् भारत में, भारत के भावों में, अनेक परिवर्तन आए हैं। औद्योगीकरण के साथ-साथ नये, विकासमान और पुराने, परम्परागत मूल्यों में संघर्ष छिड़ा है; संक्रमण की स्थिति पैदा हुई है, नई स्थितियों ने जन्म लिया है परन्तु आंचलिक कथाकारों ने उन्हें देखने की कोशिश नहीं की।'[1] प्रख्यात कथाकार राजेन्द्र यादव की दृष्टि में—वहां नये क्षितिज खोलने का प्रयत्न कम है।[2] हालांकि कहानियों की सिद्धि तथ्यों अथवा विषयों के स्तर पर नये क्षितिज खोलने में नहीं, बल्कि दृष्टि और संवेदन के स्तर पर नये प्रभाव उत्पन्न करने में भी होगी और 'आंचलिक' कही गई कहानियां भी इसी कसौटी पर देखी जायेंगी।

राजेन्द्र यादव आंचलिक कहानियों के रूप में वस्तु या विषय के व्यापक परिदृश्यों की उपस्थिति का जिक्र तो करते हैं, लेकिन इन्हें हिन्दी कहानी में 'नये क्षितिज' खोलना नहीं मानते। 'प्रामाणिकता के आग्रह से ही जिस भी भूमिखण्ड और समाज से लेखक का परिचय है, उसने उसे ही अपनी कथा का घटना-स्थल (लोकेल) बनाया है—नागार्जुन और रेणु ने बिहार की 'परती' (बेस्ट-सेल्ड ?) 'मैले आंचल' की कुमरी गायी है, मधुकर गंगाधर ने 'तीन रंग तेरह चित्रों' में उसकी काली-उजली शक्तिशाली तस्वीरें दी हैं—शानी और राजेन्द्र अवस्थी ने छत्तर के आदिवासियों की जिन्दगी को केन्द्र बनाया है—शैलेश मटियानी, शिवानी और पानू खोलिया ने कुमाऊं के पहाड़ी मोड़ों में जीवन की धूप-छांह देखी है—मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह और अवधनारायण सिंह ने उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल की प्रेमबन्दीय जमीन पकड़ी है—रमेश बक्षी के पास मालवा की सांस्कृतिक सुरभि है—कृष्णा सोबती, बलवन्त सिंह, अमृता प्रीतम ने पंजाबी किसानों और मध्यवर्गीय परिवारों की हलचल-भरी जिन्दगी को उठाया है।'[3]

आंचलिकता को परिभाषित करते हुए राजेन्द्र अवस्थी ने लिखा है—'अंचल का सीधा-साधा अर्थ है 'जनपद' या क्षेत्र। जिस कथाकृति में किसी विशिष्ट जनपद या क्षेत्र के जनजीवन का समग्र चित्रण वहां की भाषा, वेशभूषा, धर्म, जीवन, समाज, संस्कृति और आर्थिक तथा राजनीतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभर आए, वह आंचलिक कृति होगी।'[4]

कहानी में आंचलिकता के प्रयोग से हिन्दी कहानी (हिन्दी साहित्य) अपने शब्द-भण्डार, मुहावरे आदि में समृद्ध ही हुई है, इस बात को अनेक आलोचकों

---

1. 'आधुनिक हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रवृत्ति-चेतना' : डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ० 380
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 137
3. 'एक दुनिया समानान्तर' : सम्पा० राजेन्द्र यादव, पृ० 41
4. 'एक प्यास पहेली' : राजेन्द्र अवस्थी, पृ० 20

ने स्वीकार किया है।

'आंचलिक कहानी का यह रूप अधिक उल्लेखनीय इसलिए भी है कि इन कहानियों में ग्रामीण व्यक्तियों को उनके अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उन्हीं की भाषा तथा शिल्प का सहारा लेकर प्रस्तुत किया गया। इन प्रयोगों के माध्यम से कई ग्रामीण शब्द साहित्य में आए और उनका प्रयोग पर्याप्त खुलकर होने लगा।'[1]

तब कहा जा सकता है कि हिन्दी कथा साहित्य में आंचलिक कहानियों के लेखन के दौर को नये क्षितिज खोलने में विफल नहीं माना जा सकेगा; क्योंकि रेणु की कहानियां, हिन्दी कहानी के क्षेत्र में अपने आप में एक 'आविष्कार' भी हैं। शायद, इसी से कहने का आधार बना कि—

'अनुभव की प्रामाणिकता को केवल शहरी सन्दर्भों तक सीमित रखने वाले नए कहानीकार के लिए ये कहानियां बहुत बड़ी चुनौती हैं।'[2]

आंचलिक कही गई कहानियों में, कुल मिलाकर, ऐसी पचासों कहानियां है, जो हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों की कतार में रखी जा सकती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आंचलिक कहानियों में मुख्यतः ग्रामीण परिवेश को आधार बना कर, उसके परिवेशगत अथवा आंचलिक तत्त्वों का उद्घाटन किया गया, लेकिन यह उद्घाटन सिर्फ भाषा अथवा शिल्प के प्रयोगों के स्तर पर ही नहीं है। अकेले रेणु के उदाहरण से भी कहा जा सकता है कि—आंचलिक कहानियों में वस्तु ही नहीं, बल्कि दृष्टि और संवेदन के स्तर पर भी विस्तार देखा जा सकता है। रेणु की 'रसप्रिया', 'पंचलैट' अथवा 'सिरपंचमी का सगुन' प्रेमचन्द की कथाभूमि में दृष्टि और संवेदन के विस्तार की ही सूचक हैं।

आंचलिक कहानियां अपने में कोई 'स्वतन्त्र' विधा नहीं, बल्कि हिन्दी कहानी की एक परम्परागत शाखा ही कही जा सकती हैं और 'नई कहानी' को 'अपरिभाषेय' करार देने वालों के सामने एक संकट यह भी रहा है कि महानगरी और रूमानी प्रवृत्ति की कहानियों के समानान्तर आंचलिक कहानियों की विराट उपस्थिति का क्या करें; क्योंकि जब ये 'नये क्षितिज' नहीं खोलतीं, तब 'नई कहानी' में शुमार कैसे होगा?

डॉ० रामदरश मिश्र आंचलिक कहानी को हिन्दी कहानी के आभ्यंतर विस्तार में ही देखते हैं। उनके अनुसार—'आज की कहानी आज के जीवन को बड़ी तीखी यथार्थ-चेतना है। हर कहानीकार अपने-अपने अनुभव के अनुसार

1. 'हिन्दी कहानी : 15 पक्षचिह्न' : सम्पा० प्रो० महेन्द्रप्रताप, बटरोही, पृ० 40-41
2. 'आधुनिकता और समकालीन रचनासंदर्भ' : डा० नरेन्द्रमोहन, पृ० 80

शहर, कस्बे, गांव, पिछड़े हुए वन्य या पहाड़ी आंचल के जीवन के सत्यों को और टूटते हुए जीवन-मूल्यों को रूपायित कर रहा है। कहा जा सकता है कि आज का कहानीकार अपने प्रति और जीवन के प्रति बेहद ईमानदार है।'[1]

महानगरीय और कस्बाई, ग्राम्य या आंचलिक—ये दरअसल एक ही उपस्थिति के दो छोर हैं। दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण तथा आपस में गुथे हुए। सुप्रसिद्ध कहानीकार गोविन्द मिश्र और विख्यात आलोचक तथा कहानीकार डॉ० रामदरश मिश्र, दोनों इस मामले में 'सामाजिक उपस्थिति' के इसी विस्तार की बात करते हैं।

'यह युग शहर से लेकर गांव तक फैला हुआ है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् अपने-अपने परिवेश में शहर और गांव दोनों के सम्बन्ध बदले हैं, मूल्य टूटे हैं, संक्रांतियां आई हैं, दृष्टियां बदली हैं, बौद्धिकता ने अनेक विश्वास तोड़े हैं और परिस्थितियां तथा जीवन-पद्धतियों में काफी अन्तर आया है। किन्तु कुल मिलाकर अभी गांव गांव हैं, कस्बे कस्बे हैं, नगर नगर हैं और महानगर महानगर। यह निश्चित कि 'सावित्री नं० दो', 'एक और जिन्दगी', 'मिस पाल', 'छोई हुई दिशाएं', 'डेढ़ इंच ऊपर' आदि कहानियां गांव की कहानियां नहीं हो सकतीं, इसी प्रकार 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम', 'अंधेरा हंसता है', 'एक औरत एक जिन्दगी', 'प्रेतमुक्ति', 'मेले का ठाकुर' का जीवन शहर का जीवन नहीं हो सकता। यदि इनमें कोई समानता है तो इसी बात में कि ये दोनों प्रकार की कहानियां अपने-अपने से सम्बद्ध जीवन को आधुनिक काल के बदले हुए परिवेश में देख रही हैं।'[2]

'परिवेश की यह नई पहचान अब गांव-कस्बा, महानगर के खेमों में अलग-अलग बांटकर नहीं रखी जा सकती, क्योंकि परिवेश से मतलब अब सिर्फ कहानी की पृष्ठभूमि का नहीं है, आज की मानसिकता से है। यह मानसिकता अभिभाज्य है; गांव-कस्बे और महानगर सभी को इसने खुद में लपेट लिया है'''ग्रामीण अंचल, कस्बाई चेतना जैसी शब्दावली आज की किसी कहानी को पूरी तरह परिभाषित नहीं कर सकती। अगर वे ग्राम या कस्बे या महानगर की हैं तो सिर्फ डिटेल्स को लेकर'''बाकी जिस परिवेश को वे उठाती हैं वह एक सम्पूर्ण और बृहत् परिवेश है।'[3]

स्वातन्त्र्योत्तर जीवन की जो तस्वीर सामने आई वह भारतवासियों की कल्पना के अनुरूप न होकर विविध विद्रूपताओं, विसंगतियों और विरूपताओं से

---

1. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 60-61
2. वही
3. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 72

युक्त थी, फलतः वे विक्षुब्ध हो उठे। स्वतन्त्रता पश्चात् उभरी इन्हीं विसंगतियों को अपनी कहानियों का विषय बनाकर अनेक व्यंग्य लेखकों ने कहानियां लिखीं। यह स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी की उपलब्धि मानी जाएगी कि इन व्यंग्यात्मक कहानियों की रचना में ऐसे लेखक सामने आए, जिन्होंने वर्तमान समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनेकानेक समस्याओं, विगड़ते सम्बन्धों, दिखावे व अन्याय के खिलाफ अपने विक्षोभ को आवाज दी और व्यंग्य के क्षेत्र में पहली बार अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित किया। इन कहानीकारों ने व्यंग्य को सतही तौर पर इस्तेमाल नहीं किया है, बल्कि व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों-विडम्बनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास करने के साथ ही उन पर करारी चोट भी की। हरिशंकर परसाई व्यंग्य-लेखक हैं जिन्होंने हास्य-व्यंग्यपूर्ण सफल कहानियां लिखी है। 'हरिशंकर परसाई की कहानियां व्यंग्य की विशिष्टता के कारण अपनी अलग पहचान रखती हैं। मात्र उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्यंग्यकार कहकर कहानियों से अलग कर देना उनके सही रचना-व्यक्तित्व पर परदा डालना है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की निर्धन और बांझ बनती व्यंग्यविधा को सम्पन्न एवं सशक्त बनाया।'[1]

प्रेम जनमेजय के अनुसार—'इस व्यंग्यकार ने सही समय में व्यंग्य की आवश्यकता को अनुभव किया और अपने सही दिशापूर्ण लेखन के द्वारा उसे इतना सशक्त बना दिया कि व्यंग्य का आज साहित्य की सभी विधाओं में क्षिप्रगति से प्रवेश हो रहा है।'[2] 'भोलाराम का जीव' इनकी अत्यन्त सफल और प्रभावशाली है। इस कहानी में आज की लाल फीताशाही पर करारा व्यंग्य किया गया है। इनकी अन्य व्यंग्य कहानियां 'चावल से हीरे तक', 'तोता हीरा हैराइगा कचरे में', 'एक बेकार घाव', 'सड़क बन रही है', 'पोस्टरी एकता', 'भाइयो और—(बहिनो)', 'निठल्ले की डायरी', 'एक फरिश्ते की कथा' आदि हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हास्य-व्यंग्य लेखकों में अन्य महत्त्वपूर्ण नाम हैं—शरद जोशी ('रोटी और घंटी का सम्बन्ध', 'मेरे क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण पति : एक सर्वेक्षण', 'बेकारी बोध', 'टिच्च'), श्रीलाल शुक्ल ('मैंने सिल पहुंचाई' में संग्रहीत कहानियां) तथा रवीन्द्रनाथ त्यागी ('पुनर्जन्म : एक सम्भावना', 'सारथि की खोज', 'सच्चा इन्द्रजाल उर्फ भारतीय बचपन', 'हिदायतनामा खाविंद', 'हमारी वेशभूषा') आदि। इन सभी लेखकों ने सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के

1. 'नई कहानी' (आलोचना विशेषांक) : सम्पा०-सतीश जमाली, पृ० 33
2. 'हरिशंकर परसाई का साहित्य' : 'व्यंग्यम्' (अंक-6), सम्पा० प्रेम जनमेजय, पृ० ■

अत्यन्त सजीव चित्र अपनी कहानियों में प्रस्तुत किए। परसाई के अधिकांश व्यंग्य राजनीति सम्बन्धी कथानकों पर आधारित हैं तथा समस्त व्यंग्य लेखकों में एक उन्हीं का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से मूल्यांकित किया जा सकता है।

व्यंग्य प्रधान, या व्यंग्याद्भुत, कहानियों का क्षेत्र 'आंचलिक कहानियों' की तरह विस्तृत नहीं हो पाया। व्यंग्य कहानीकारों या व्यंग्य प्रधान कहानियों की संख्या सीमित होने से, यह किसी 'आन्दोलन' या 'प्रवाह' का रूप भी नहीं ले पाया। इसमें हरिशंकर परसाई, शरद जोशी और श्रीलाल शुक्ल के अलावा कोई लेखक बड़े स्तर पर स्थापित नहीं हो पाया। इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी के कहानी आन्दोलनों के क्षेत्र में व्यंग्य कहानियों की कोई प्रभावी भूमिका बन नहीं पाई। इसका स्वरूप 'विशेषीकृत' ही रह गया। परिणामतः 'नई कहानी' का आन्दोलन ही, छाया रहा और बाद के अन्य कहानी आन्दोलन इसकी प्रतिक्रिया में ही सामने आये। वो भी तब, जबकि 'नयी कहानी आन्दोलन' की गुटबन्दी ने एक ऐसी किलेबन्दी की शक्ल ले ली, जिसमें सिर्फ उन्हें ही मान्यता मिल सकती थी, जिन्हें इसके सूत्रधार देना चाहें। इस गुटबन्दी के कारण ही अन्ततः 'नई कहानी' आन्दोलन का दायरा संकीर्ण होता गया और एक समय व्यक्तिवादिता का विरोध करने व सामाजिकता का समर्थन देने वाली 'नई कहानी' अपने 'अन्तिम काल' में स्वयं घोर व्यक्तिवादिता के घेरे में फंस गई। यह विग्रह आखिर यहां तक पहुंच गया कि निर्मल वर्मा ने 'कहानी' और कमलेश्वर ने 'नई कहानी' की मृत्यु-घोषणा कर दी। इसे सिवाय विडम्बना के क्या कहा जाय कि 'नई कहानी' ने जिन रूढ़ियों और स्थापित मान्यताओं से विद्रोह किया था, वह स्वयं ही एक दशक के अन्दर वैसी ही रूढ़ियों और मान्यताओं के गुंजलक में फंस गई। 1960 तक आते-आते उसमें एक प्रकार की जड़ता आ गई। इसी जड़ता के विरोध में सन् 60 के पश्चात् एक पूरी कथापीढ़ी यथार्थ को उसकी पूर्ण भयावहता, तुर्शी और तिक्तता में प्रस्तुत करने की दृष्टि लेकर आती है।'[1]

डॉ० पुष्पपाल सिंह का कथन 'नई कहानी' के आन्दोलन में क्रमशः आते गये विघटन की ही सूचना देता है, किन्तु सन्देह नहीं कि इसने कई अन्य कथा आन्दोलनों को भी जन्म दिया।

सन् 1977 के बाद हिन्दी कहानी में जो तब्दीलियां आईं, उसने जो नये तेवर बदले, नये मुहावरे उभे-पनपे और कथाकार ने बदले हुए परिवेश के प्रति जिन नई प्रतिबद्धताओं का अनुभव किया, उन सबको सामूहिक रूप से 'नई कहानी' नाम दिया जाता है। इस तब्दीली का पहला दौर सन् 1960 तक

1. 'कमलेश्वर : कहानी का सन्दर्भ' (भूमिका) : डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ० 11

चलता है। उसके बाद इस धारा से कट जाने के लिए अपनी नई अस्मिता प्रमाणित करने के लिए साठोत्तर युवा लेखकों की पीढ़ी व्याकुल हो उठती है। अपनी इस पहचान को इस पीढ़ी ने कई नाम भी दिये—'अकहानी', 'साठ के बाद की कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अचेतन कहानी', 'समान्तर', 'कथांतर' आदि।[1]

'समांतर' आन्दोलन तो स्वयं नई कहानी आन्दोलन के 'तीन तिलंगे' घोषित कहानीकारों में से एक कमलेश्वर ने ही शुरू किया और इसी के लिए उन्हें 'नई कहानी' के मर चुके होने की घोषणा भी जरूरी लगी।

'सन् साठ तक आते-आते नई कहानी रूढ़ सांचों में, बंधे-बंधाए रूढ़-पैटर्नों में ढलने लगी थी। जीवन-यथार्थ का एक बिलकुल भिन्न रूप सामने था और नई जीवन-स्थितियां लेखकों के लिए चुनौती बन गई थी। इस चुनौती का सामना कहानी और सचेतन कहानी ने अपने-अपने ढंग से किया।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक समय अन्य सारे कथा आन्दोलनों की चुनौती बनी 'नई कहानी' आन्दोलन अपने ही सूत्रधारों के लिए ही व्यर्थ होने लगा।

'नई कहानी' के बाद की कहानियों के सम्बन्ध में गोविन्द मिश्र की टिप्पणी है कि—'आज की कहानी से हमारा मतलब आज लिखी जाने वाली हर कहानी से न होकर, सिर्फ उन कहानियों से होता है जिनमें 'नई कहानी' के बाद की संवेदना परिलक्षित होती है। इस संवेदना का दावा कई तरफ से और कई नामों से किया गया, जैसे 'सचेतन कहानी', 'साठ के बाद की कहानी', 'समकालीन कहानी', 'समांतर', 'कथांतर' कहानी आदि। कुछ नामों को ओढ़ने के पीछे अगर नई कहानी से आन्दोलन के स्तर पर भिड़ने की बात थी तो कुछ के पीछे नई कहानी को ही नया नाम देकर पेश करने की बात थी। आगे चलकर नामों की जगह किसी राजनीतिक विचारधारा से जुड़ने का भी फैशन चला। यह सब इतना हुआ कि आन्दोलन शब्द एक साहित्यिक अलंकार के बजाय अवसरवादिता का पर्याय बन गया, आज की कहानी के वे सारे ओढ़े हुए नाम बड़ी जल्दी आये-गए, जो चल रहे हैं, उनका हश्र भी भिन्न नहीं होगा...'[3]

मधुरेश ने अपनी पुस्तक में एक जगह शामी का उद्धरण दिया है उसमें भी निरर्थक गुटबन्दियों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है—'इस बात से कौन

1. 'हिन्दी कहानी : फिलहाल' डॉ० चन्द्रभान रावत, डॉ० रामकुमार खण्डेलवाल, पृ० 28-29
2. 'आधुनिकता और समकालीन-रचना-संदर्भ' : डॉ० नरेन्द्र मोहन, पृ० 80
3. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 2-3

इंकार कर सकता है कि निचले स्तर की वाड़ेबन्दी से नुकसान ही होता है, साहित्य का ही नहीं, साहित्यकार का भी। दुर्भाग्यवश हमारी पीढ़ी में यह बहुत हो रहा है और इसके शिकार हम आप तक (जो दूर रहकर काम करते हैं) बन जाते हैं।'[1]

'आज की कहानी' की तरह 'समकालीन कहानी' का मुहावरा भी हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रचलन में रहा है और इसकी शुरुआत भी 'नई कहानी' के बाद मानी जाती है।

'समकालीन कालखण्ड' में जो आन्दोलन जन्म लेते हैं, उस शृंखला में 'सचेतन कहानी', 'अकहानी', 'समांतर कहानी' आदि आते हैं। 'नई कहानी ने मूल्यों की जिस अस्थिरता के बीच अपनी जीवन-दृष्टि प्राप्त करनी चाही थी उनकी विशृंखलता, अव्यवस्था और भी बढ़ गई और मात्र व्यक्ति की प्रमुखता के साथ स्थापित मानदण्ड भी डगमगाने लगे और जन्म लिया एक नई सचेतना ने जिसका आभास सन् 1959-60 में हुआ, और बड़ी तेजी से उस आभास ने आन्दोलन का रूप ले लिया।'[2] 'सचेतनता एक बुद्धि है; वह दृष्टि, जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है।'[3]

'नई कहानी' अपने विकास के अन्तिम चरण में जिस तरह विभ्रमित और विशृंखलित हो गयी थी, उसी को लक्ष्य करते हुए डॉ० मदान लिखते हैं—'सचेतन कहानी ने फिर से मनुष्य के 'टोटल सेल्फ' को स्थापित करने का प्रयत्न किया और जीवन को स्वीकारने का स्वर बुलन्द किया। सचेतन कहानी मनुष्य और जीवन के तनाव का ही चित्रण नहीं बल्कि उसके संघर्ष को भी समर्पित है, कथा-साहित्य जीवन से पलायन के बजाय जीवन की ओर अग्रसर होने लगा।'[4]

अपने कहानी-संग्रह 'चिराग' की भूमिका में डॉ० महीप सिंह लिखते हैं: 'सचेतन कहानी का दूसरा महत्व (अस्तित्ववादी दर्शन का विरोध और मनुष्य की, सार्थकता की खोज, यह पहला महत्व था) इस बात में है कि इस आन्दोलन से पहले हिन्दी कहानी के साथ कुल तीन-चार नाम इस तरह जुड़ गए थे कि उनके बाहर कहानी, यानी हिन्दी कहानी को देख पाना, सम्भव ही नहीं रह गया था। सचेतन आन्दोलन के कारण वह जकड़ा समाप्त हो गई और हिन्दी कहानी अपने मुक्त वातावरण में सांस लेने लगी।'[5]

---

1. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 103
2. 'समकालीन कहानी : समांतर कहानी' : डॉ० विनय, पृ० 10
3. 'हिन्दी कहानी पहचान और परख' : सम्पा० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 88
4. वही
5. 'चिराग' (भूमिका) : महीप सिंह, पृ० 9

निश्चय ही, डॉ० महीप सिंह (जो कि 'सचेतन' आन्दोलन के प्रायोजक रहे) का इंगित मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की गुटबन्दी की ओर था। किन्तु डॉ० रामदरश मिश्र के कथनानुसार—'नयी कहानी की अपेक्षा नई पीढ़ी में कुछ ऐसे लोग रहे जो नयी कहानी के वैविध्य में लीन होकर भी अपनी पृथक् सत्ता का आभास देते रहे। उन लोगों ने इस प्रतिक्रिया के अवसर पर अपनी पृथक् सत्ता को स्पष्ट उजागर कर तथा संगठित होकर 'सचेतन' कहानी के नाम से एक आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। यह देखा जा सकता है कि इस आन्दोलन के पीछे एक दृष्टि थी, एक नया आधार था, किन्तु चूंकि इसका प्रारम्भ एक आन्दोलन के रूप में हुआ इसलिए अवसर का लाभ उठाकर बहुत-सी असन्तुष्ट आत्माएं जुलूस में आ मिलीं। इस जुलूस में इन आत्माओं का सम्मिलन किसी दृष्टि, किसी सिद्धान्त या किसी अनुभव के आधार पर नहीं था—शुद्ध अवसरवाद के आधार पर था।'[1]

डॉ० रामदरश मिश्र की दृष्टि में—'सचेतनता का अर्थ यही है कि लेखक व्यक्ति और उसके परिवेश की विसंगति, तनाव और जटिलता को पहचानता हुआ, भोगता हुआ उसे चित्रित करते समय एक अर्थ देना चाहता है।'[2]

'साठ के बाद की अनेक अश्लील कहानियों की भीड़ में एक सामूहिक स्वर में रचनात्मक स्तर पर उनका प्रतिवाद करने का प्रयास 'सचेतन' कहानी को एक ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करता है।'[3] सचेतन कहानी के तहत काम सम्बन्धों को लेकर ढेरों कहानियां लिखी तो गईं, किन्तु वे 'अकहानी' की तरह सेक्स की अन्धी गली में गुम नहीं हुईं। इस दौर में लिखी गई कहानियों में, डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार—मुख्य रूप से दो बातें स्पष्ट लक्षित की जा सकती हैं—'एक तो यह कि 'सचेतन' कहानी ने यथार्थ के नाम पर एक ही किस्म की बातें कहने के स्थान पर विविध जीवन-सम्बन्धों को उद्घाटित किया है, और दूसरे यौन-सम्बन्धों को उनकी समूची गहनता और सन्दर्भ सापेक्षता के साथ उभार कर उन्हें गहन मानवीय पीड़ा और बेबसी की छटपटाहट से भर दिया है।'[4]

महीप सिंह की 'कील', रामकुमार 'भ्रमर' की 'लौ पर रखी हथेली' और आनन्द प्रकाश जैन की 'लिपिस्टिक' इसी दृष्टि से लिखी गई खुद रूप से यौन-सन्दर्भों पर आधारित कहानियां हैं। सामाजिक मूल्यों के संक्रमण की चर्चा करते

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 104
2. वही
3. वही, पृ० 108-109
4. वही, पृ० 109

वाली कहानियां भी कम नहीं हैं। सचेतन कहानी का कथ्य बहुआयामी है। सामाजिक यथार्थ के भिन्न-भिन्न पहलुओं को अनुभव के धरातल पर उभारने वाली कहानियों में बेद राही की 'दरार' नरेन्द्र कोहली की 'अटल' सुखबीर की 'दीवारें और उड़ने वाला घोड़ा', योगेश गुप्त की 'सीट' मनहर चौहान की 'बीस सुबहों के बाद', कुलदीप वर्मा की 'जड़ता' आदि प्रमुख कहानियां हैं।

'यथार्थ, सहजता और जीवन्त प्रतिक्रिया ये तीन अलग-अलग बिन्दु नहीं हैं बल्कि आपस में जुड़े हुए एक सत्य के तीन आयाम हैं। इसलिए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति के रूप में सचेतन कहानी ने अपने समय की हिन्दी कहानी को एक स्वस्थ दिशा की ओर उन्मुख किया है।'[1]

उपरोक्त उद्धरणों की रोशनी में इस बात को स्पष्ट देखा जा सकता है कि, 'नई कहानी' की ही भांति, 'सचेतन कहानी' को सैद्धान्तिक आधार निर्मित करने की भी पूरी चेष्टाएं की गईं।

सचेतन दृष्टि सम्पन्न कहानीकारों में महीप सिंह, मनहर चौहान, रामकुमार 'भ्रमर', बलराज पण्डित, सुखबीर, कुलभूषण, वेद राही, धर्मेन्द्र गुप्त, कमल जोशी, आनन्द प्रकाश जैन, जगदीश चतुर्वेदी, मधुकर सिंह, श्याम परमार, हृदयेश, हिमांशु जोशी, ममता अग्रवाल (कालिया) आदि को गिनाया जा सकता है। इन सभी कहानीकारों ने 'नई कहानी' की मूल्यहीनता का विरोध किया है; क्योंकि उस कहानी में व्यक्तिगत कुण्ठा, पराजय, आत्मविकृतियों की अभिव्यक्ति अधिक है; किन्तु यही जीवन का सत्य नहीं है, और यह स्पष्ट है कि 'सचेतन कहानी' का आन्दोलन कहानी में सामाजिक चेतना की पुनर्प्रतिष्ठा का आन्दोलन है, जो प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और यशपाल की सामाजिकता से बिलकुल अलग और नये सन्दर्भों की सामाजिकता है।'[2]

डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार—'सचेतन कहानी की स्थिति कुछ दोहरी है। अर्थात् उसमें सहज विकास क्रम और आयोजित आन्दोलन का मिला-जुला रूप है। उसकी चेतना तो सहज विकास-क्रम में आती है, किन्तु उसे एक अलग नाम देकर दलबद्ध रूप में आगे ठेलने की चेष्टा योजनाबद्ध है। 'सचेतन' कहानी में जिन लक्षणों और विशेषताओं की खोज की गई है, वे आन्दोलन का परिणाम नहीं है।'[3]

इस प्रकार डॉ० रामदरश मिश्र ने भी पहले नाम रखकर, तब सैद्धान्तिक आधार खोजने की उसी प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है, जो 'आन्दोलन की नकल

1. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 114
2. 'समकालीन कहानी : सचेतन कहानी' : डॉ० विनय, पृ० 11
3. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 103

में आन्दोलन' की सूचक होती है।

'अकहानी' आन्दोलन का सम्बन्ध डॉ० नामवर सिंह निर्मल वर्मा से जोड़ते हुए कहते हैं कि—'यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी कहानी में 1959-60 के आस-पास कहानीकारों की जो नई पीढ़ी उभरकर सामने आई है, वह अपनी शुरुआत का नाता निर्मल वर्मा की 'एक शुरुआत' से जोड़ना पसन्द करती है। राकेश-यादव-कमलेश्वर द्वारा विज्ञापित 'नई कहानी' के विरुद्ध इस पीढ़ी के मन में कितना अधिक विद्रोह है, यह इसी से स्पष्ट है कि इन्होंने कहानी-मात्र को अस्वीकार करके हिन्दी में अकहानी की आवाज उठा दी।'[1]

यदि एक ओर निर्मल वर्मा कहते है, 'कहानी की मृत्यु से चर्चा आरम्भ करनी चाहिए।'[2] तो दूसरी ओर रवीन्द्र कालिया का भी यही कहना है कि 'मुझे कहानी के उस स्वीकृत रूप से घोर वितृष्णा है, जिस अर्थ में वह आज कहानी के नाम से जानी जाती है।'[3] 'कहानी' आन्दोलन के प्रमुख प्रवक्ता डॉ० गंगा प्रसाद विमल के अनुसार—'वस्तुतः, अकहानी कथा के स्वीकृत आधारों का निषेध तथा किसी तरह के मूल्य-स्थापन का अस्वीकार है।'[4] वे इसे आन्दोलन-धर्मी दृष्टि से अलगाते हुए कहते हैं कि—'अकहानी' किसी आन्दोलन या किसी मंच विशेष से सम्बद्ध नहीं है। यह कोई विशेषता भी नहीं है। 'अकहानी' का नामकरण मूल्यांकन की दृष्टि से पिछली कथा-परम्परा से अलगाने की सुविधा के लिए भी नहीं किया गया, बल्कि यह 'कथा-रचना' की विश्व व्यापी आधारभूमि में एक रचनात्मक संगति है।'''विश्वव्यापी आधारभूमि 'कथा-आन्दोलनों जैसी आधारभूमि नहीं है, बल्कि वैचारिक, रचनात्मक संगति की आधारभूमि है जिसमें 'कहानी' का पुराना स्वरूप टूटे हुए रूप में भी दृष्टिगत नहीं होता।'[5]

'अकहानी' न तो रचना का वैशिष्ट्य है, न मात्र 'रूप-विधान' ही, जीवन का समग्र अस्वीकार एवं विद्रोह उसका आधार है, इसलिए उसे कहानी-जैसी सुविधा की संज्ञा के अतिरिक्त भी 'कुछ' नाम दिया जा सकता है।'[6]

'अकानी' अंग्रेजी की 'एंटी-स्टोरी' का हिन्दी रूपान्तर है। डॉ० रामदरश

1. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 194
2. 'नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : सम्पा० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 179
3. 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना' : सम्पा० सुरेन्द्र, पृ० 333
4. 'हिन्दी कहानी पहचान और परख' : सम्पा० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 93-94
5. वही
6. 'समकालीन कहानी का रचना विधान' : डॉ० गंगाप्रसाद विमल, पृ० 6

मिश्र के अनुसार—'यह आन्दोलन पश्चिमी अर्थ में अतिवादी नहीं है, इसलिए इसने नई कहानी की संरचना या कथावादी कहानी की संरचना का विरोध चाहे कितना भी किया हो, व्यवहार में वह बहुत दूर तक उससे जुड़ी है।'[1]

डॉ० गंगाप्रसाद विमल 'अकहानी' आन्दोलन को अपरिभाषेय स्वीकार करते हुए लिखते हैं, 'वस्तुतः जिसे हम अकहानी कहते हैं, उसकी कहानी की तरह हमारे पास कोई परिभाषा नहीं है, परन्तु कहानी के विरोध में या कहानी के निषेध में उसके किसी अर्थ को ध्वनित मान लेने के स्वीकार को हम ठीक नहीं मानते। अकहानी को इस रूप में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।'[2] इसके बावजूद इसकी व्याख्या के प्रयास जारी रहे। विश्वेश्वर ने इसे साठोत्तर कहानी की संज्ञा देते हुए स्वतन्त्रता के बाद प्रकाश में आने वाली पीढ़ी से इसे जोड़ा है—'साठोत्तर' या 'अकहानी' की आवाज पुरानी पड़ती जा रही पीढ़ी के 'भोगे हुए यथार्थ,' 'अनुभव की प्रामाणिकता', 'प्रतिबद्धता',—जैसे खोखले नारों के खिलाफ एक सशक्त कार्यवाही थी। इस आवाज ने 'नयी कहानी' के झण्डाबरदारों को उनके पुराने पड़ जाने का एहसास कराया। और उन्हें बिलकुल उसी तरह बौखला दिया, जैसे अपने जमाने में उन्होंने जैनेन्द्र-अज्ञेय आदि को बौखलाया था।'[3]

'अकहानी' सातवें दशक की कहानी-परम्परा में एक विशिष्ट कथा-सृष्टि का सूचक है। इस आन्दोलन को प्रमाणित-प्रतिष्ठित करने वालों में जहां गंगाप्रसाद विमल, डॉ० नामवर सिंह, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', हैं वहीं 'नई कहानी' के शीर्षस्थ कहानीकार राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर भी उसके अस्तित्व को स्वीकारते हुए दिखाई पड़ते हैं। यदि यादव 'कुछ वर्षों से कहानी-रचना का एक नया रूप उभर रहा है' कहकर उसकी वकालत करते हैं, तो कमलेश्वर भी प्रकारान्तर से बिना अकहानी संज्ञा का प्रयोग किये, सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'इस (सातवें दशक के) लेखकों ने बड़े दायित्व से कथ्यों के चुनाव किये हैं और कथात्मक लगने वाले सन्दर्भों को उठाकर ऐसा ढब दिया कि कहानी कहानी-सी नहीं रह गई है। फिर भी वह कहानी के अलावा और कुछ नहीं है। विधागत यह विशिष्टता उत्पन्न कर लेना एक बड़ी उपलब्धि है कि कहानी आपको कहानी न लगे, और कहानी के अलावा वह और कुछ नहीं।'[4]

हिन्दी साहित्य में कहानी को कथा-हीनता या कथात्मक की गौणता की ओर

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 101
2. 'हिन्दी कहानी : पहचान और परख' : सम्पा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 100
3. 'मंच' 1973, सम्पा० राकेश वत्स, पृ० 167-168
4. 'बयान तथा अन्य कहानियां' (भूमिका) : कमलेश्वर, पृ० 11

ले जाने का प्रयास पहले दरअसल जैनेन्द्र ने किया। जैनेन्द्र द्वारा प्रवर्तित कथा-हीनता वाली कहानी का विकास ही आगे चलकर भी देखने को मिलता है। कुछ कहानियां तो केवल किसी मूड, किसी स्थिति, किसी मनःस्थिति का चित्रण करती हैं, कथा-तत्त्व का उनमें प्रायः लोप ही रहता है। रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, और कुंवरनारायण की कहानियां, रेणु की कहानियां (उनमें कथा तो है, परन्तु सीधे न होकर परिवेश में डूबी हुई है) और निर्मल वर्मा की कई कहानियां अपने-अपने ढंग से कथाहीनता का अहसास दिलाती हैं। 'इसीलिए जब कोई आलोचक या अकहानी लेखक यह दावा करता है कि 'अकहानी' ने सर्वथा एक नया शिल्प आविष्कृत किया है, और वह नई कहानी को कथा कहने की पारम्परिकता से ग्रस्त कहानी कहता है, तो लगता है कि या तो वह परम्परा को समझता नहीं है, या मसीहाई अन्दाज में जान-बूझकर एक सत्य को अनदेखा कर रहा है और वह 'अकहानी' को वह श्रेय देना चाहता है, जिसका पूरा हकदार वह नहीं है। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि 'अकहानी' के सूत्र परम्परा में ही हैं, हां उसने उस सूत्र को ही प्रमुखता देकर केन्द्र में स्थिर कर दिया। 'अकहानी' 'कथा' की विरोधी है, वह कोई कथा नहीं गढ़ती, बल्कि रोजमर्रा की जिन्दगी के कुछ सहज घटित सन्दर्भों और संवेदनों को पकड़कर प्रस्तुत कर देती है।'[1]

'अकहानी, का 'अ' शब्द निषेध का सूचक है, इससे यह ज्ञात होता है कि ये लेखक जो लिख रहे हैं, वह कहानी नहीं है. कुछ और है, किन्तु शब्दार्थ के स्तर पर 'अकहानी' का तात्पर्य नहीं खुल सकता। वास्तव में है तो यह भी कहानी ही, किन्तु यह कहानी के स्वीकृत स्वरूप के प्रति निषेधात्मक रुख अख्तियार करती हुई, उसे सहज जीवन सन्दर्भों में अधिक खुलापन, अधिक अनौपचारिकता देने की समर्थक जान पड़ती है।'[2] इसी से साम्य रखता डॉ० श्याम परमार का कथन भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है—' 'अ' उपसर्ग निषेधात्मक होने के साथ-साथ पूर्व पीढ़ी से अर्थात् नई कहानी से साठोत्तर कहानी को अलग करने का काम भी करता है। यही कार्य इस उपसर्ग ने कविता के क्षेत्र में भी किया।'[3]

'रचनागत मूल्यों का, प्रचलित कथा-धारणाओं का और अभिव्यक्ति को जड़ीभूत करने वाली तकनीकों का या फार्मूलों का निर्मम अस्वीकार 'अकहानी' में देखा जा सकता है।'[4] गंगाप्रसाद विमल के अनुसार ' 'अकहानी' कहानी की

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 99-100
2. वही, पृ० 97-98
3. 'अकविता और कला सन्दर्भ' : डॉ० श्याम परमार, पृ० 13
4. 'हिन्दी कहानी : फिलहाल' : डॉ० चन्द्रभान रावत, डॉ० रामकुमार खण्डेलवाल, पृ० 34

धारणागत प्रतीक से अलग एक अवस्थापित कथाधारा है, जो कहानी के सभी वर्गीकरणों, मूल्यांकन के आधारों और पूर्व समीक्षाओं को अस्वीकार करती है।'[1]

'अकहानी' के 'अ' ने वस्तु और मूल्य के स्तर पर भी निषेध का स्वर मुखर किया, बल्कि 'साहित्य में मूल्य का अस्तित्व है' इस सत्य का निषेध कर दिया।'[2]

'समकालीन जीवन के यौन-सन्दर्भों तथा यौनेतर सन्दर्भों की सम्बन्धहीनता, व्यर्थता, अयाचहता, विसंगतिबोध, मूल्यहीनता आदि को कथाहीन शिल्प से अभिव्यक्ति देने वाली कुछ अच्छी कहानियां हैं—'त्रिकोण', 'नीला अंधेरा', 'ऋण', (कृष्ण बलदेव वैद), 'शबरी', 'पिता-दर-पिता' (रमेश बक्षी), 'रिश्ता' (गिरिराज किशोर) 'बिजेता', 'सुखांत' (दूधनाथ सिंह), 'अन्धेरें की आंखें' (श्रवण कुमार), 'नौ साल छोटी पत्नी', 'एक डरी हुई औरत', (रवीन्द्र कालिया), 'हत्वी के दांत', 'सड़क दुर्घटना', (सुदर्शन चोपड़ा), 'दीवारें-ही-दीवारें', (भीमसेन त्यागी), 'खलल', 'समय-व्यथा', (प्रियदर्शी प्रकाश), 'लेप होते हुए', 'पिता', 'छलांग', (ज्ञानरंजन), 'यादों के स्तूप', 'दर्द के आईने', 'चोर और चोर', 'अभयदान' (से० रा० यात्री) आदि।'[3]

अकहानी के प्रमुख लेखकों में दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, गिरिराजकिशोर, गंगाप्रसाद विमल, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, प्रबोध कुमार, प्रयाग शुक्ल, काशीनाथ सिंह, सुधा अरोड़ा, से० रा० यात्री, अवधनारायण सिंह, विजयमोहन सिंह, ममता कालिया, जितेन्द्र भाटिया, आदि उल्लेखनीय हैं।

'अकहानी' को यदि आन्दोलन के रूप में न लें, तो हम पाएंगे कि यह कहानी संरचना में नयी कहानी का ही सहज विकास है और चेतना में काफी दूर तक मूल्यहीन हो गए समकालीन मध्यवर्गीय समाज की सशक्त वास्तविकता से जुड़ी हुई है।

समांतर-1 (1972) के प्रकाशन से समांतर कथा आन्दोलन का प्रारम्भ माना जा सकता है। बाद में 'सारिका' के भी समांतर कहानी-विशेषांक निकले। युवा कहानीकारों के एक वर्ग ने 'कमलेश्वर' का साथ देकर इसे स्थापित करने में पूरा योगदान दिया। कामतानाथ, से० रा० यात्री, राम अरोड़ा, जितेन्द्र भाटिया, सुधा अरोड़ा, मधुकर सिंह, इब्राहीम शरीफ, विनेश पालीवाल, हिमांशु जोशी, मिथिलेश्वर आदि के अतिरिक्त भीष्म साहनी जैसे वरिष्ठ कहानीकारों का समर्थन इस आन्दोलन को मिला, लेकिन इन सब कोशिशों के बावजूद 'समांतर कहानी'

1. 'समकालीन कहानी का रचना-विधान' : पृ० 65
2. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 101
3. वही, पृ० 103

महज एक नारा बनकर रह गई।

'समांतर कहानी' आन्दोलन का केन्द्रबिन्दु 'आम आदमी' बताया गया। समांतर कहानियां 'आम आदमी के आस-पास की कहानियां' कही गई। 'समांतर कथा-आन्दोलन' से सम्बद्ध कहानीकारों और आलोचकों ने 'आम आदमी' को ही इस कहानी का नायक माना। डॉ० विनय ने कहा—'एक पूरी पीढ़ी नई रचनात्मक शक्ति से 'आम आदमी' के नायकत्व को स्थापित कर भ्रष्ट राजनीति और चालाक पूंजीवादी संस्थाओं से संघर्ष के स्तर पर आमने-सामने आ गई। परिणामस्वरूप समांतर साहित्य की नई संवेदना रूपायित हुई।'[1] वो अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'वस्तुतः यह कहानी मानवीय द्वन्द्वों-अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण के माध्यम से समय की भयानकता से जूझते संघर्षरत मानव की जिजीविषा का संकेत करती है।'[2]

से० रा० यात्री ने भी राजेन्द्र यादव और गोविन्द मिश्र के साथ एक परिसंवाद में समांतर के विषय में ऐसे ही विचार व्यक्त किये—'लेखक साधारण आदमी से स्वयं को अलग मानकर ही प्रतिबद्धता की बात कर सकता है। यदि वह उनमें से एक है, तो फिर प्रतिबद्ध नहीं, सम्बद्ध होगा। समांतर कथा-लेखन सम्बद्धता का ही लेखन है।'[3] ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि इस आन्दोलन के अन्य कहानीकारों व आलोचकों ने कमलेश्वर के विचार-सूत्रों को ही अपनाया और दोहराया।[4]

'समांतर कहानी विशेषांक-1' में कमलेश्वर ने इन कहानियों के कथ्य को इस प्रकार रेखांकित किया—'ये कहानियां साहित्य की तरफ से साथ देने का औपचारिक प्रस्ताव नहीं, बल्कि बड़े पैमाने पर चल रही यथार्थ की लड़ाई में शामिल कहानियां हैं। लड़ाई के दौरान लिये जाने वाले निर्णयों को यदि कोई कहानी कहना चाहे तो कह ले, लेकिन ये 'कहानी' नहीं हैं। नाम की सुविधा के लिए हम इन्हें कहानी कह लेते हैं। ये मुजस्सिम आदमी की बदलती हुई धारणाओं, उसके प्रश्नों और चिन्ताओं की लिखित तहरीर ही नहीं, बल्कि समय में लिए गए उसके फैसलों की यथार्थ प्रतिलिपियां भी हैं।'[5] इन समय-सापेक्ष कहानियों की व्याख्या में वे आगे कहते हैं—'ये समांतर कहानियां सामान्य जन की अपराजेय परम्परा की कहानियां हैं। कहानी की समांतर वैचारिकता ने

---

1. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 103
2. 'सारिका' (जुलाई 1975) सम्पा० कमलेश्वर (लेख-'समांतर साहित्य)
3. वही
4. वही (परिसंवाद)
5. 'सारिका' : अक्टूबर 1974 (समांतर कहानी विशेषांक) सम्पा० कमलेश्वर

साहित्यिकता को अस्वीकार करके समय को पूरी तरह से स्वीकार किया है। ये कहानियां आम आदमी के समय-सन्दर्भों में जन्म लेने वाले जलते प्रश्नों के यथार्थ-मूलक द्विधारहित कदम हैं।'[1] इस आन्दोलन के सम्बन्ध में एक राय यह बनी—'समांतर कथा-आन्दोलन नई सामाजिकता की चेतना को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। वह सही अर्थों में विस्तार है, संकोच नहीं।'[2]

इस आन्दोलन को लेकर जो प्रतिक्रियाएं हुई, वे परस्पर विरोधी हैं। एक तरफ कमलेश्वर और उनके गुट के लोग इसे 'उपलब्धि' के रूप में घोषित करते हैं, दूसरी तरफ शैलेश मटियानी के विचार में, समांतर आन्दोलन हिन्दी कहानी के समकालीन दौर का सर्वाधिक हास्यास्पद और हानिकर आन्दोलन सिद्ध हुआ है।'[3]

'समांतर' कहानी-आन्दोलन में 'आम आदमी' या 'सामान्य आदमी' की जो जोर-शोर से चर्चा की गई है, उससे तो यही स्पष्ट होता है कि जैसे इससे पूर्व हिन्दी-कहानी में 'आम आदमी' को लेकर कुछ लिखा ही नहीं गया। जबकि प्रेमचन्द की परवर्ती कहानियां—'पूस की रात', और 'कफन' (जिन्हें नई कहानी का प्रस्थान-बिन्दु कहा गया) से लेकर 'नई कहानी', 'साठोत्तरी कहानी', 'अकहानी' आदि सभी में यह आम आदमी कथ्य के केन्द्र में लगातार मौजूद है। गोविन्द मिश्र ने भी 'आम आदमी' के सम्बन्ध में अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें भी यही स्वर प्रकट होता है—'प्रेमचन्द के युग में भी आम आदमी को सामने रखा जाता था ''प्रगतिशीलों ने भी इसे लेकर नारा बुलन्द किया था—नई कहानी में भी आम आदमी को याद किया गया, लेकिन यह आम आदमी हमें लेखक की ढाल ही बनता रहा है, इसके अलावा मैं यह भी कहना चाहूंगा कि आम आदमी की तस्वीर ही अलग से कहां बाकी रह गई है। उसका वजूद तो परिवेश के साथ 'डायल्यूट' हो गया है—इन स्थितियों में समांतर महज एक नारा लगता है।'[4]

'समांतर' के कमलेश्वर ने आम आदमी के सम्बन्ध में जो विभिन्न वक्तव्य दिये, लगभग वही सब-कुछ 'नई कहानी' के लिए कमलेश्वर ने कहा था। अपनी 'नई कहानी की भूमिका' में वह कहते हैं : 'स्वतन्त्रता के बाद पहली बार नई कहानी ने आदमी को आदमी के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है; शाश्वत मूल्यों की दुहाई देकर नहीं, बल्कि उसी आदमी को उसके परिवेश में सही आदमी या साबुत

---

1. 'सारिका' : अक्टूबर 1974 (समांतर कहानी विशेषांक) सम्पा० कमलेश्वर
2. 'समकालीन कहानी : समांतर कहानी' : डॉ० विनय, पृ० 12
3. 'आया' : नवम्बर 1976 (मेरी कथायात्रा), पृ० 64
4. 'सारिका' : जुलाई 1975

आदमी के रूप में अभिव्यक्ति देकर।'[1]

'नई कहानी में मात्र सामान्य मनुष्य ही अवतरित हुआ है, अपनी सारी खूबियों, कमियों और अच्छाइयों के सन्दर्भ में।'[2]

'नयी कहानी का व्यक्ति (या मनुष्य) इन सब विविध अनुभवों के सन्दर्भ में ज्यादा प्रौढ़ और संयत है, ज्यादा सही और सच्चा आदमी है।'[3]

इन समस्त कथनों और विभिन्न कहानी-संग्रहों की भूमिकाओं को 'समांतर' की घोषणाओं से मिलाकर देखने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि 'समांतर' का 'आम आदमी' कहानी में नया नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'समांतर' में नया कुछ भी नहीं है, यह मात्र एक नारा है। आज कहानी से सम्बद्ध अधिकांश लेखक यही स्वीकार करते हैं कि 'समांतर कथा-आन्दोलन' एक तरह से अधिक कुछ नहीं है।[4]

'जनवादी कहानी' का अभ्युदय सातवें दशक के अन्तिम चरण में ही हो गया था, लेकिन उसका समुचित विकास आठवें दशक में देखने को मिलता है। डॉ० राजकुमार शर्मा (उत्तरगाथा-2) के अनुसार—'नयी कहानी' से लेकर 'अकहानी' तक 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'अद्वितीयता' का जो दौर हिन्दी में चला था, उसने एक खास किस्म के अनुभववाद के तहत गलत अनुभवों का ऐसा जाल रचने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया, जो यथार्थ के केन्द्र में सामान्य को हटाकर 'असामान्य' को प्रतिष्ठित और गौरवान्वित कर रही थीं।'[5] जनवादी कहानी इसी मानसिकता के विरोध में उभरी। इसका उद्देश्य सामाजिक यथार्थ को प्रगतिशील दृष्टिकोण से देखना था। यह स्पष्ट रूप में वामपंथी विचारधारा से सम्पन्न है। विद्याधर शुक्ल 'जनवादी कहानी की भूमिका' नामक अपने लेख की शुरुआत में ही जनवादी कहानियों के सृजन का श्रेय प्रेमचन्द को देते हुए, लिखते हैं—'दलितों, पीड़ितों की जबर्दस्त वकालत करने वाले प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम लेखकीय दायित्व को जनवाद से जोड़ा। प्रेमचन्द कहानी के पिता ही नहीं, हिन्दी साहित्य में जनवादिता के जनक भी हैं।'[6] यहां जनवाद से तात्पर्य परिपक्व मार्क्सवादी समीक्षकों के जनवाद से न होकर भारतीय जीवन पर आधारित

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 71
2. वही, पृ० 169
3. वही, पृ० 172
4. 'कादम्बिनी' (अगस्त 1977 परिचर्चा, सम्पा० राजेन्द्र अवस्थी
5. 'नयी कहानी' (आलोचना विशेषांक, सितम्बर 1979), सं० सतीश जमाली, पृ० 24
6. 'लहर' (दिसम्बर 1978) : सं० प्रकाश जैन, मनमोहिनी, पृ० 54-55

'जनवादी सौन्दर्यशास्त्र' से है। सन् 1972 के बाद से जनवादी कहानी का उत्तरोत्तर विकास होता दिखाई देता है। जनवादी कहानीकार स्वयं को प्रेमचन्द की परम्परा का विकास मानते है। डॉ० कर्णसिंह चौहान के अनुसार—'पिछले दो दशक में कहानी फिर से व्यापक यथार्थ के बीच गई है और अपना जनवादी स्वरूप गढ़ रही है। उसने पुनः अपने को प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ा है और प्रेमचन्द की परम्परा से जुड़ने का अर्थ प्रेमचन्द की कहानी में लौट आना नहीं, बल्कि प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाना है।'[1]

साहित्य में 'जनवाद', 'प्रतिवाद' का नया संस्करण है। जनवादी कहानी को केवल मजदूरों या किसानों की नहीं कहा जा सकता। जनचेता कहानीकारों की ज्यों-ज्यो समझ विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों उनकी कहानियां उत्तरोत्तर दृष्टि सम्पन्नता और संघर्षशीलता की ओर बढ़ती जाती हैं। अर्थात् जन कहानीकार ऊर्ध्वमुखी होता है।

जनवादी कहानी का सारा जोर वर्गसंघर्ष के अंकन में है। टूटन, थकन, संत्रास युक्त कहानियों की प्रतिक्रियास्वरूप इन जुझारू किस्म की कहानियों का जन्म होता है।

'नयी कहानी' काल के जनवादी कहानीकारों को यदि सक्रिय नहीं, तो निष्क्रिय भी नहीं कहा जा सकता। वे पिछले मोर्चे पर जमे रहे। जिससे अग्रिम मोर्चे पर आये जनवादी कहानीकारों को बहुत बल मिला और वे जातीय परम्परा और अपनी ऐतिहासिक समझ के बल पर इस हमले का मुकाबला करते रहे हैं, प्रेमचन्द की शुरू की गई लड़ाई को निरन्तर आगे बढ़ा रहे हैं।'[2] इन संघर्षशील कहानीकारों में इसराइल, कालीनाथ सिंह, मधुकर सिंह, सतीश जमाली, रमेश उपाध्याय आदि प्रमुख है। इधर कुछ वर्षों से क्रियाशील हुए लेखकों में असगर वजाहत, नमिता सिंह, प्रदीप मांडव, नीरज सिंह, हेतु भारद्वाज, सूरज पालीवाल, श्रीहर्ष, स्वयंप्रकाश, अरविन्द गुप्त, विजयकान्त आदि हैं। जनवादी कहानीकारों की चर्चा करते हुए डॉ० ब्रजमोहन शर्मा ने 'उत्तरवाद' (पांचवां अंक) में लिखा है कि 'नयी सम्भावनाओं के जनवादी कथाकार जीवनमूल्यों के संघर्ष में अग्रणी भूमिका निभाने के लिए अग्रसर हैं।'

यह मानना होगा कि 'नयी कहानी' आन्दोलन के बाद अगर कोई और कहानी आन्दोलन पूरी सक्रियता और योजनाबद्धता के रूप में सामने आया, तो

1. 'नयी कहानी' (आलोचना विशेषांक, सितम्बर 1979), सं० सतीश जमाली, पृ० 33
2. वही, पृ० 38

जनवादी कहानी का ही। ऐसा जनवादी लेखक संघ के संगठित प्रयासों से सम्भव हो पाया और 'जनवादी कहानी' की भी बहस का एक सिलसिला बना।

'जनवादी कहानियों को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि 'समांतर कहानी' की तरह वह निम्न वर्ग को केन्द्र में रखने का आग्रह करती है। इस तरह वह एक विशाल जनसमुदाय के हितों से जुड़ जाती है। 'समांतर कहानी' की कुछ कहानियां जहां गढ़ी हुई लगती थीं, वहीं जनवादी कहानियां प्रत्यक्ष अनुभव और बौद्धिक समझदारी के तालमेल को सूचित करती हैं। मुख्यतया विचारों पर दृष्टि रहने से कुछ जनवादी कहानियां 'रपट' मात्र बनकर रह गईं, कलात्मकता का उनमें अभाव है। यह रूपवादी दृष्टिकोण की आत्यंतिक प्रतिक्रिया का फल है।'[1]

आन्दोलनों को लेकर कुछ उद्घोषणाएं भी की गईं, जो प्रायः आन्दोलनों के नकारात्मक पक्ष को ही उद्घाटित करती हैं—सचेतन आन्दोलन सृजनात्मक धरातल पर निहायत दीवालिया साबित हुआ।[2]—मैं दो टूक बात कह सकता हूं कि ये दोनों आन्दोलन (अकहानी और सचेतन) ऊपर से थोपे गए हैं, कहानियों में आई हुई तब्दीलियों के अन्दर से नहीं आये।[3] इन आन्दोलनों का योग तो यही है कि अच्छे सक्षम कहानीकार इनके चक्कर में पड़कर अपनी पटरी से रपट गए।[4]···इन आन्दोलनों का उद्देश्य था उद्देश्य होना और प्रभाव का यत्यावरोध।[5] ···ये आन्दोलन बुद्धिजीवियों की बुद्धिहीनता के प्रमाण हैं।[6] तात्पर्य यह कि कुल मिलाकर आन्दोलनों का परिणाम निराशाजनक ही रहा।

'नयी कहानी से अलगाव के फौरन बाद कहानीकारों ने पारम्परिक सम्बन्धों, आग्रहों और मूल्यों पर निर्ममता से चोट करना शुरू किया। अस्वीकार की आवाज करीब-करीब हर कहानी में काफी तेज होकर उभरी है लेकिन यह भी सही है कि कहानी-दर-कहानी में एक ही तस्वीर बार-बार उभरती है और वह है एक हारे हुए, हताश, तंत्र के खिलाफ असहाय-से दीखते हुए मनुष्य की।'[7]

'साठ के बाद यथार्थ की जो तस्वीर कहानियों में मिलती है, उसका असली रंग करीब-करीब एक-सा है। साठ के फौरन बाद ही कहानियों और सत्तर की कहानियों को सामने-सामने रखा जाये तो वे करीब-करीब एक-सा बोलती और

1. 'नयी कहानी' (सितम्बर 1979), सं० सतीश जमाली, पृ० 38
2. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तर्यात्रा' : वेदप्रकाश अमिताभ, पृ० 74-75
3. 'राष्ट्रवाणी' (अप्रैल-मई 1970) में मधुरेश का लेख
4. 'लहर' (वर्ष 15), सम्पा० प्रकाश जैन, मनमोहिनी
5. वही
6. वही
7. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 26-31

पढ़ती हैं। तस्वीर के रंग एक ही हैं—ऊब, अकेलापन, संत्रास, कुण्ठा, अस्तित्व का संकट, जड़ता, निष्क्रियता, असहायता, उदासीनता। इन कहानियों का मुख्य स्वर एक तरह की वितृष्णा या रेजिग्नेशन है— लेखक जिस समाज में है, उसमें स्वयं को उखड़ा-उखड़ा-सा पाता है और उसी उखड़ेपन पर स्वभावतः बार-बार आता है।'[1]

'आज की कहानी पिछली कहानी से जिन मानों में भिन्न है, उनमें से एक इसकी मूल संवेदना और रचना-प्रयोग का स्तर भी है, 'सेन्सिटिव आर्ट' की पहचान अलग है।' वस्तुतः अब अलग जिन्दगी और कहानी को दो भिन्न स्तरों पर नहीं जिया जा रहा है।···लेखक जो कुछ कहना चाहता है, उसका अपना जो अनुभव-संसार है, वह रचनाशीलता से नहीं 'यवनं' होता, बल्कि इनके माध्यम से रचनाशीलता की खोज की जाती है।[2]

'असुन्दर, शिवराव, अकेलापन, संत्रास, विद्रोह अगर इसमें है तो इसलिए नहीं कि कहानी इसी से बनती है, बल्कि यह जीवन के साथ है। कहानी और जीवन का संघर्ष एक ही है। काशीनाथ सिंह की 'अपने देश के लोग', रामनारायण शुक्ल की 'नाइट शो', प्रयाग शुक्ल की 'आदमी' उदाहरण के लिए ली जा सकती है।'[3]

'आज की कहानी की यह एक विशिष्टता है कि कथा-स्थिति का यथार्थ उसी से उद्भूत नहीं है जैसा कि अक्सर होता रहा है। यथार्थ अब वह नहीं है जो कहानी में यथार्थ बनता है, बल्कि यथार्थ से ही कहानी बनती है।'[4] 'कभी-कभी यह निस्संगता इस हद की भी होती है कि लगता है लेखक सिर्फ फोटोग्राफी कर रहा है।' 23-24 'स्थितियां रेखांकित'।

सन् साठ के आस-पास कहानी का तेवर बदलने लग जाता है। ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, महेन्द्र भल्ला जैसे कहानीकारों में नयी कहानी से समकालीन कहानी या आज की कहानी के अलगाव को देखा जा सकता है।

'यथार्थ से जुड़ने की कोशिश में जहां आदर्शीकरण छिलता रह गया था और अतिरिक्त संवेदनशीलता और रूमानियत पिछले दरवाजे से घुस आई थी, उससे एक बार फिर भिड़ने की कोशिश शुरू हुई। यथार्थ को एकदम सीधा देखने के आग्रह में जहां एक तरफ आदर्शीकरण, रूमानी संस्कारों, प्रतीक और भाषाई

---

1. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 26-31
2. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह, पृ० 115, 117, 118
3. वही
4. वही

शृंगार-जैसी चीजों से मुक्ति पाई गई, वहीं अपने एक ही तरह के अनुभवों पर वितृष्णा से गुजरते हुए कहानी जीने का भी सिलसिला शुरू हुआ। नयी कहानी के रूमानीपन को झटककर फेंक देने में जो लेखकीय दृष्टि उभरकर आई, वह पत्थर होने की हद तक निर्मम थी।[1]

ज्ञानरंजन की 'सम्बन्ध' कहानी इस सन्दर्भ में ली जा सकती है—'मेरी मां मर गई होती, तो बहुत-सी बेहूदा स्थितियों से मेरा भी बचाव हो जाता।''' बरअसल मैं तपाक से अपने भाई के बारे में सोचने पर मजबूर हो गया कि उस बेचारे को मर ही जाना चाहिए'''

'जब यह निर्मम दृष्टि सेक्स को उठाती है, तो हिचकिचाहट का सवाल ही नहीं है।'[2] महेन्द्र भल्ला की 'तीन-चार दिन', हृदयनाथ सिंह की 'खसपात', ज्ञानरंजन की 'छलांग' आदि कहानियां इसी प्रकार की हैं। निश्चय ही हिन्दी की आज की कहानी अधिक सच्ची संवेदनाओं और अधिक प्रामाणिक अनुभवों को अपनी थीम के रूप में चुनकर अधिक विश्वसनीय परिस्थितियों में उन्हें प्रस्तुत करती है।'[3] आज की कहानी में न केवल साफ बल्कि गहरे देखने का भी आग्रह उठता दिखता है। इसलिए कहानी ज्यादातर एक स्थिति को उठाकर चलती है और उसे उसकी सारी पेचीदगियों में देखने की कोशिश करती है।'''आज की कहानी छोटी और गहरी है और उसी मात्रा में सपाट होने की जगह सूक्ष्म और 'रिफ्लेक्टिव' ज्यादा हो गई है। बहुत-सी बातों की तरफ जिन्हें नयी कहानी फैलाये बिना मानती थी, इशारा-भर कर दिया जाता है और इसीलिए नयी कहानी के मुकाबले आज की कहानी में ज्यादा परिपक्वता दिखाई देती है।'[4]

डॉ० विनय का मानना है कि 'वस्तुतः आज की कहानी की सफलता और सार्थकता और प्रासंगिकता इसमें नहीं है कि वह कितने परिमाण में लिखी और पढ़ी जा रही है, बल्कि इस अवधारणा में है कि वह हमारे आज के जीवन और उसमें अन्तर्निहित व्यापक संघर्षरत मनस की वास्तविकता को किस सीमा तक व्यक्त करती है और किस बिन्दु से वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्बद्ध जीवन की व्याख्या करती है तथा सामाजिक परिवर्तन की जनचेतना को किस स्तर पर मुखरित करती हुई विराट संवेदनाओं का स्पर्श करती है।'[5]

डॉ० गंगाप्रसाद विमल भी नयी पीढ़ियों की दशकवादी प्रवृत्ति का

---

1. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 22
2. वही, पृ० 23
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 230
4. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा० गोविन्द मिश्र, पृ० 25
5. 'समकालीन कहानी : समांतर कहानी' : डॉ० विनय, पृ० 143

प्रतिनिधित्व करते हुए, यही निष्कर्ष देते हैं कि—'सातवें दशक का कहानीकार, इधर मानवीय सम्बन्धों के बीच जो कटुता और निर्ममता विद्यमान है, उसे लेकर नतो किसी प्रकार का आडम्बर रचता है और न ही उसकी अभिव्यक्ति में किसी प्रकार का संकोच या हिचकिचाहट अनुभव करता है; 'वस्तुतः समकालीन कथाधारा अथवा साठ के बाद की हिन्दी कहानी मानव-विश्वास की आदर्श कहानी नहीं है, अपितु वह मनुष्य-मस्तिष्क के भीषण संकट-बोध की यथार्थ प्रतीति की कहानी है, जो मानव पीड़न को इसलिए व्यक्त नहीं करती कि वह कोई प्रदर्शनीय प्रसंग है, अपितु, वह सिर्फ यथार्थ-बोध है।'[1]

स्वातन्त्र्योत्तर कथा-चिन्तन

स्वातन्त्र्योत्तर कथा-चिन्तन स्वतन्त्रता पूर्व के कथा-चिन्तन और हिन्दी कहानी के विकास से जुड़ा है। स्वतन्त्रता से पहले का कथा-चिन्तन प्रेमचन्द और उनके परवर्ती रचनाकारों, मसलन जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा आदि की कहानियों की प्रकृति तथा पश्चिमी रचनाकारों और आलोचकों से अधिक प्रभावित रहा है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वतन्त्रता के पूर्व के रचनाकारों ने कहानी के बारे में बहुत अधिक नहीं लिखा है। स्वयं प्रेमचन्द ने भी बहुत कम ही लिखा है। जैनेन्द्र की एक पुस्तक अवश्य है लेकिन वह हिन्दी कहानी के बारे में कहानी-सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण और दार्शनिक अभिरुचि को अधिक अभिव्यक्ति करती है। अज्ञेय का कथा-चिन्तन उनके कहानी संकलनों की भूमिकाओं में बहुत संक्षिप्त रूप में ही मिलता है। यशपाल, भगवती बाबू और अमृतलाल नागर द्वारा भी कोई व्यवस्थित प्रयत्न हिन्दी कहानी के इतिहास और स्वरूप को विवेचित करने की दृष्टि से नहीं पाया जाता। वस्तुतः स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी कहानी का विकास आन्दोलन रहित प्रक्रिया और सन्दर्भों में हुआ है, इसलिए कहानीकारों ने कहानियों के बारे में स्वयं बहुत कम लिखा है। तब कहानी सम्बन्धीगत विधायत चिन्तन अथवा विवेचन को आलोचकों का क्षेत्र मान लिया गया।

स्वतन्त्रता के बाद स्वतन्त्रता से उत्पन्न आकांक्षा तथा भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण जो नये लेखक 49-50 के आस-पास हिन्दी कहानी के क्षेत्र में सक्रिय हुए, उनका ध्यान सहसा गांवों, कस्बों और महानगरों में जीवन-यापन कर रहे लोगों की स्थिति, विवशता, घनीयता, संघर्ष करने की क्षमता और समाज-परिवार के भीतर बनते-बिगड़ते सम्बन्धों की ओर गया। 1950-51 से जो कहानियां हिन्दी में लिखी गईं उनके लिखने वाले लेखकों ने

1. 'धर्मयुग' (27 मई 1966), सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती

अपनी कहानियों को इससे पहले की कहानियों से कथ्य, भाषा-शिल्प, वस्तु और समाज को देखने की दृष्टि आदि के आधार पर न केवल भिन्न महसूस किया बल्कि उस भिन्नता को स्थापित करने के लिए कहानी-संकलनों की भूमिकाओं, लेखों, साक्षात्कारों और वाद-विवादों में 1950 के आस-पास लिखी जा रही कहानियों के लिए एक अस्त्र निर्मित करने का प्रयत्न भी किया। बाद में, इसे 'नयी कहानी' आन्दोलन का नाम दिया गया, हालांकि प्रगतिशील लेखक संघ के द्वारा प्रगतिवाद की धारा को काफी आगे बढ़ाया जा चुका था, लेकिन कहानीकारों के द्वारा स्वयं कथा-चिन्तन और बहस को एक संगठित स्वरूप नयी कहानी आन्दोलन के द्वारा ही मिला। आन्दोलनात्मक दृष्टि और साहित्य के क्षेत्र में अपनी कहानियों तथा व्यक्तित्व को स्थापित करने के प्रयत्न के कारण स्वतन्त्रता के बाद के कहानीकारों ने कहानियों को हर तरह से परिभाषित, मूल्यांकित, विवेचित करने का जो व्यापक प्रयत्न किया, वह सब नयी कहानी आन्दोलन से जुड़ गया और कहानी की आलोचना के क्षेत्र में एक विस्तार आता चला। आलोचकों का भी ध्यान इस ओर अपेक्षाकृत अधिक जाना स्वाभाविक ही था।

प्रसिद्ध कथा समीक्षक मधुरेश का कथन है कि—'प्रेमचन्द से लेकर आज तक हिन्दी कहानी भी बहुत-से मोड़ों और पड़ावों से गुजरी है। इन मोड़ों और पड़ावों के सन्दर्भ में ही उसे ठीक से समझा जा सकता है। किसी एक मोड़ पर आवश्यकता अधिक बल देना उसकी पूरी परम्परा के लिए नुकसानदेह भी हो सकता है क्योंकि इसके मूल में दुराग्रह की स्थिति होती है यानी एक की आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर दूसरे की आवश्यकता से कम महत्त्व देने की प्रवृत्ति। समकालीन कथा-समीक्षा का मूल स्वर ही यह रहा है और अब इस बात को दोहराना भी जरूरी नहीं रह गया है कि हिन्दी कहानी में सृजन और चर्चा के धरातल पर बहुविध बिखराव और विघटन का मूल कारण भी यही रहा है। यह ठीक है कि परम्परा के सारे मोड़ों और पड़ावों की विशेषताओं और उपलब्धियों को उनके पूरे महत्त्व के साथ देखना-परखना जरूरी है, लेकिन उसके भी हमारी दृष्टि हिन्दी कहानी की सम्पूर्ण विकासमान परम्परा ही होनी चाहिए।'[1] प्रसिद्ध कहानीकार और नए 'हंस' पत्रिका के सम्पादक राजेन्द्र यादव का मानना है कि—'स्वतन्त्रता के बाद के कथाकार का एक संसार वह है जो उसके चारों ओर है और जिससे उसे आन्तरिक घृणा है, बेहद नफरत है; लेकिन जिसमें रहने, टूटने और समझौता करने को वह बाध्य है। दूसरा संसार वह है, जिसे अपने भीतर से निकालकर उसने बाहर फैला दिया है, जिसका 'निर्माण'

1. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 104-105

उसने स्वयं किया है और जो उसके टूटने, घुटने और घिसटने की ओर भी घिनौनी तस्वीर को सामने रखता है, उसकी असामर्थ्य पराजय और हताशा का लेखा है—उसकी नियति है।'[1]

हिन्दी कहानी की विकास यात्रा से एक बात बहुत स्पष्ट रूप में सामने आती है कि आजादी के पूर्व जो हिन्दी कहानी सामाजिक चेतना के समानान्तर ऊर्ध्वोन्मुख थी, आजादी के बाद उसमें एक ठहराव आ गया। कहानीकारों में हर अगले युग में यथार्थ के प्रति अधिकाधिक आग्रह बढ़ा, शिल्प में सूक्ष्मता आई, कथाकारों द्वारा स्वयं को जनोन्मुखी प्रतिबद्धता के साथ जुड़ने की मंशा दिखाई दी, किन्तु आजादी से पूर्व के कथाकारों की भांति सामाजिक चेतनाशीलता की गति प्रदान करने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। कथाकार यथार्थ को उसके मूल अर्थ में, अर्थात् 'हू-ब-हू' चित्रण के रूप में देखने लगे। इस सन्दर्भ में रचनाकारों ने तर्क दिया कि साहित्य का काम सामाजिक कार्यकर्त्ता की भांति समाज में कोई प्रत्यक्ष क्रांति लाना नहीं है, उसका काम सामाजिक चेतनाशीलता एवं मानव-मन के अन्तर्विरोधों को रेखांकित करना है। कभी-कभार कहा जाने लगा कि रचनाकार का दायित्व यथास्थिति की ओर संकेत करना है, न कि यथास्थिति को बदलना। आठवें दशक तक आते-आते कथाकारों का एक वर्ग ऐसा अवश्य आया, जो साहित्य को क्रान्ति के एक हथियार के रूप में भी देखने लगा, किन्तु इस प्रकार के लेखन से वे सामाजिक क्रान्ति की कोई पृष्ठभूमि बना पाए हों, ऐसा नहीं दिखाई देता।

हिन्दी कहानी की लगभग नौ दशकों की रचना-यात्रा के बाद यह प्रश्न आज भी प्रासंगिक बना हुआ है कि कहानी किसके लिए है? किसके अन्तर्विरोधों के साथ वह जुड़ी है—मानव-मन के या समाज के? वह सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करती है, या मनुष्य का अध्ययन? हिन्दी-कहानी-साहित्य में सौभाग्य से ये दोनों प्रवृत्तियां दो स्वतन्त्र धाराओं के रूप में अपने आरम्भिक चरण से ही विकसित हुई हैं—प्रसाद और प्रेमचन्द की क्रमशः अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी धाराओं के रूप में। फिर भी यह तथ्य सुखद है कि एक सार्थक कहानी-परम्परा की भांति हिन्दी-कहानी-परम्परा में भी एक ऐसी परम्परा विकसित हुई जिसने उक्त दोनों प्रवृत्तियों को एक-साथ समेटते हुए कलात्मक एवं सार्थक कहानियां दीं।

यहां पर हिन्दी कहानी की इस विशिष्ट परम्परा की प्रत्येक युग की एक कहानी का उदाहरण देकर समझा जा सकता है। एक ही प्रकार के चरित्र अथवा समस्या को हर युग में किस प्रकार अपनी युगीन संवेदना के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित

---

1. 'एक दुनिया समानान्तर': सम्पादक राजेन्द्र यादव, पृ० 18-19

किया गया, इसे 'इन्दुमती'—(किशोरीलाल गोस्वामी—प्रेमचन्द-पूर्व-युग) 'पुरस्कार' की 'मधूलिका' (जयशंकर प्रसाद—प्रेमचन्द युग), 'रोज' की 'मालती' (अज्ञेय-प्रेमचन्दोत्तर युग) तथा 'यही सच है' की दीपा (मन्नू भण्डारी—स्वातन्त्र्योत्तर युग) में देखा जा सकता है।

चार अलग-अलग युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले उक्त चारों नारी-चरित्रों की केन्द्रीय समस्या लगभग एक (प्रेम) ही है। बाहरी तौर पर देखने पर ये सभी पात्र भावात्मक स्तर पर अन्तर्मुखी हैं। चारों की समस्या प्रेम में असफल होकर भी प्रेम को उसके महिमामय रूप में जीना है। लगभग सभी प्रेम को मन के स्वीकार के धरातल पर लेते हैं, इसलिए शारीरिक मिलन की स्थिति उनके लिए उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है; जितनी कि भावात्मक जुड़ाव की। प्रेम की यह अवधारणा मूलतः मध्ययुगीन है, किन्तु इन चारों कहानियों में यह अपने रचनाकार की युगीन संवेदना के परिप्रेक्ष्य में ही उभरी है। 'इन्दुमती' जो कि उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज की नारी है, सामाजिक वर्जनाओं के साथ एक पारम्परिक भारतीय युवती की भांति जुड़ी हुई है। अपने प्रेमी को वह तभी स्वीकार करती है, जब उसके पिता उसे अनुमति देते हैं। प्रेम-जैसी वैयक्तिक भावना उसके लिए पूरी तरह सामाजिक वस्तु है। समाज के आलोक में ही वह कथानक के साथ अपने भावात्मक सम्बन्ध जोड़ती है। लगभग, यही स्थिति कथानायक चन्द्रशेखर की भी है।

'पुरस्कार' कहानी में समाज सिमटकर परिवार बन गया है क्योंकि कथा-नायिका मधूलिका का द्वन्द्व ही यह है कि वह अपने पिता के हत्यारे अरुण को 'अंधेर है कि प्रेम भी करती है और घृणा भी।' इस कहानी में भी अंततः विजय प्रेम की ही होती है किन्तु इस निर्णय के साथ कि अपने पिता के हत्यारे प्रेमी के मृत्यु-दण्ड के साथ वह भी मृत्यु का वरण करती है।

'रोज' की मालती के प्रेम में समाज भी नहीं है, परिवार भी नहीं, केवल दाम्पत्य है। अपने पूर्व-प्रेमी के आगमन पर अपने पति के प्रति एक विरक्ति का-सा भाव उसमें दिखाई देता है और यही पति और प्रेमी दो परस्परविरोधी सम्बन्धों के रूप में उभरते हैं। भारतीय समाज में उभर रही यह नई मानसिकता का एक नया प्रस्थान भी कहा जा सकता है।

'यही सच है' की दीपा का प्रेम व्यक्ति-सापेक्ष नहीं, वह बहुत साफ ढंग से भावना-सापेक्ष रूप में उभरा है। संजय और निशीथ दीपा के दो प्रेमी हैं और दोनों में से जिसके साथ भी दीपा रहती है, वही उसे सच अनुभव होने लगता है अर्थात् यहां व्यक्ति स्वायत्त नहीं, प्रेम की भावना स्वायत्त है। निशीथ के साथ रहते हुए दीपा को प्रेम का वह रूप ही सत्य और स्वायत्त लगता है, जबकि उतनी ही तीव्रता से संजय के साथ रहते हुए भी। 'यही सच है' जैसा कि कुछ आलोचकों

का कहना है, खण्डित मानसिकता, या क्षणबोध की कहानी नहीं, हमारे अपने दौर में विकसित हुई प्रेम की नवीन अवधारणा की कहानी है।

हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में उक्त उदाहरण इस बात का परिचायक है कि इसकी एक समृद्ध परम्परा युगानुरूप नये विकसित होते चले गये समाज और मानव-मन के अनुरूप पूरी कलात्मकता के साथ विकसित होती चली गई है। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं—जो अपने युग की परिवर्तित संवेदना एवं युगीन अपेक्षाओं के अनुसार नये आयाम उद्घाटित करते है।

स्वातन्त्र्योत्तर रचनाकारों के कथा-चिन्तन का संक्षेप में अध्ययन करने के बाद उस अध्ययन के निष्कर्षों की स्वातन्त्र्योत्तर काल के रचनाकारों की कहानियों से तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी कथा-साहित्य स्वतन्त्रता-पूर्व के हिन्दी कथाकारों की समृद्ध परम्परा के कारण ही सम्भव हुआ। इस सन्दर्भ में लक्ष्मीनारायण लाल का यह कथन युक्तिसंगत लगता है—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी की शिल्पगत उपलब्धियां अनेक हैं, किन्तु उतनी विविध नहीं, जितनी कि जैनेन्द्र, यशपाल और इलाचन्द जोशी के काल की हैं। इसका एक निश्चित कारण यह है कि उस काल ने अपनी पूर्ण जागरूकता और कला-कौशल के साथ शिल्प के सफल प्रयोगों में अपना पूरा ध्यान दिया था। हम आज चाहे जितना अपने को उस शिल्पगत परम्परा और विरासत से मुक्त कहें, पर यह सत्य है कि नई कहानी जो अपने विचारगत-वस्तुगत तथ्यों में इतने प्रबल वेग से आज के पूरे इतिहास पर छा गई, उसका एक व्यावहारिक रहस्य यह था कि उसे शिल्प की एक बेशकीमती विरासत अपनी पिछली पीढ़ी से सहज ही प्राप्त हो गई थी। वस्तुतः पिछली पीढ़ी की तरह इस नई कहानी का आग्रह उस शिल्प पर था ही नहीं। सारा आग्रह था जीवन पर। इस तरह उसकी अभिव्यक्ति में शिल्प उसके अनुरूप सहज ही जैसे स्वयं निर्मित होने लगा।'[1]

निश्चय ही देवीशंकर अवस्थी के कथन से सहमत हुआ जा सकता है कि—'स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी-कहानी ने विचार, शिल्प और वस्तु आदि कई एक स्तरों से बहुत ही मूल्यवान उपलब्धियां की हैं। नये सन्दर्भ, नये प्रयोग पर इनका सबसे महत् सत्य है वही जीवन, और उसके प्रति रचनाकार की अपनी दृष्टि, जिसके अभाव में वह मात्र अपनी ही रची हुई रूढ़ियों में ग्रस्त होता है और अपने को क्रान्तिदर्शी, अति आधुनिक और आचार्य सिद्ध करने का मोह उसे वास्तविक रचना की मर्यादा से, उसकी अबाध प्रयोगशीलता से नीचे उतार लाता है और

1. 'नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : सम्पा० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 216

उस स्थिति में फिर वही रचनाशक्तियां उभरकर साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण विधा पर छा जाती है और जिनसे साहित्य और समाज, दोनों की बहुत बड़ी क्षति होती है।[1]

1. 'स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी कहानी' : उपलब्धियां और खामियां (लेख) लेखक डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 218

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कहानीकारों का कथा-चिन्तन (विविध आयाम)[1]

(क) दृष्टि और संवेदना

मनुष्य का कोई भी सृजन प्रयोजनरहित नहीं होता है। भले ही प्रयोजन अनेक बार, मनुष्य के प्रतिकूल हो क्यों नहीं पड़ता हो। हिन्दी के कथा-चिन्तन के क्षेत्र में भी इस वास्तविकता को देखा जा सकता है। कई बार कथा-चिंतन के पीछे वर्गगत या व्यक्तिगत प्रयोजन भी काम करते रहे हैं और इससे स्थापनाओं की विविधता के साथ-साथ, गुटबन्दी और पूर्वग्रहों को भी प्रसार मिला है। चिन्तन की प्रक्रिया में वैचारिक ही नहीं, बल्कि संवेदनिक अन्तर्विरोधों का भी होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और इसी द्वन्द्व में 'सृजन' की अवधारणाएं तथा स्थापनाएं और पारदर्शी रूप ग्रहण करती हैं। हिन्दी के कहानीकारों के 'सृजन' को भी उनके कथा-चिंतन की इसी रोशनी में देखा जा सकता है।

कहानी-सृजन भी एक सजग प्रक्रिया है, जो संवेदना के मानसिक व संरचनात्मक रूप ग्रहण का आभ्यंतरित बाह्य ही है। दृष्टि के बगैर संवेदना का कोई अर्थ नहीं, संवेदना के बिना दृष्टि का। ये दोनों परस्पर निबद्ध हैं। व्यक्ति, संवेदनशील होकर, सामूहिक और सामाजिक दोनों बनता है। सामूहिकता तो जानवर में भी होती है, सामाजिकता केवल आदमी में, जो उसके 'होमो' से तादात्म्य का भाव भी रख सकती है और वैपरीत्य का भी। मनुष्य की उपस्थिति और इसके परिणाम ही 'सृजन' का अवलम्ब बनते हैं। वस्तु को आकार, विस्तार और गहराई देने में संवेदना और दृष्टि की भूमिका ही मुख्य होती है। एक आश्चर्यजनक प्रकार की पारस्परिकता और अविनाभाव है, दोनों में।

स्वयं प्रेमचन्द का मानना है कि 'अब हिन्दी कहानी लेखकों में विषय, दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है—कहानी मानव जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं

है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। घटनाओं का स्वतन्त्र महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है'''खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है; जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।'[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द से पहले जो हिन्दी कहानी कौतूहल, मनोरंजन, कोरी काल्पनिकता के आधिक्य से परिपूर्ण थी, क्रमशः उस जाल से निकलकर यथार्थ की जमीन पर पांव रखते हुए, मनुष्य के दुःख-सुख, समस्याओं व उसके जीवन के प्रत्येक हिस्से से जुड़ती जा रही थी। कहानी में अब घटनाएं स्वतन्त्र रूप से घटित न होकर, कहानी के ही किन्हीं चरित्रों या पात्रों को मन:स्थितियों के चित्रण के रूप में प्रयुक्त होने लगीं। फलतः कहानी में घटनाओं की जगह अनुभूति की सघनता कहानी लिखने का मुख्य प्रेरक तत्त्व बन गई। कहानी की संरचनात्मक समग्रता का सवाल हिन्दी कहानी के क्षेत्र में मानना होगा कि प्रेमचन्द से ही शुरू होता है। निस्सन्देह उनके समवर्ती कहानीकारों का भी योगदान इसमें है कि हिन्दी कहानी का एक वातावरण निर्मित हो सका।

प्रेमचन्द के समवर्ती कहानीकार सुदर्शन का मानना है कि 'आदमी जो कुछ देखता है, उसी को संभालकर रखने और उसमें से निकालने की शक्ति रहने से ही आदमी को रोज कितनी ही कहानियों का प्लॉट मिल सकता है।'[2] हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 28वें अधिवेशन में व्याख्यान देते हुए, उन्होंने आगे दृष्टि की महत्ता पर जोर देते हुए कहा—'कहानी के लिए सबसे जरूरी चीज है, देखने की शक्ति। यदि हम किसी चीज को ध्यान से देख सकते हैं, उसके तथ्य को ग्रहण कर सकते हैं, तो हमारे लिए कहानी लिखना इतना कठिन नहीं है। और इस प्रकार के 'आब्जर्वर' के बाद जो कहानी लिखी जाएगी, उसमें वास्तविकता होगी और पढ़ने वाले को वह कल्पित नहीं जान पड़ेगी। यदि पाठक को कहानी कपोल-कल्पित जान पड़ी, तो वह कहानी बेकार है। उसका कोई महत्त्व नहीं।'''यदि लेखक में यह शक्ति है कि वह पाठक को पूरी कहानी पढ़ने के लिए बाध्य कर सके

.1 'साहित्य का उद्देश्य' : प्रेमचन्द, पृ० 52-53

2. 'कथ्यरूप' (जनवरी-मार्च 1991) सम्पा० अनिल श्रीवास्तव, पृ० 57

तो उसका कहानी लिखना यथार्थ है।'[1] सुदर्शन के उक्त विचारों से यही ध्वनि निकलती है कि यदि कहानीकार के पास प्रतिभा हो, ज्ञान हो, लिखने की क्षमता भी हो, लेकिन यदि वह दृष्टि नहीं हो, जो चीजों को उसके पूर्ण व उचित (सम्यक्) परिप्रेक्ष्य में देख सके, तो जो कहानी लिखी जाएगी वह पाठक को उतने गहरे तक स्पर्श नहीं कर पायेगी।

सुदर्शन और प्रेमचन्द में अन्तर यह है कि प्रेमचन्द लोककथा के तत्वों, उदाहरणार्थ—आकस्मिकता, मनोरंजन आदि को सोद्देश्यता से जोड़कर देखते हैं और सुदर्शन वस्तु को अथवा वस्तु-सम्बन्धों से निर्मित यथार्थ को उद्देश्य की तुलना में इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि वह पाठक को प्रामाणिक विश्वसनीयता और अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रख सके। सुदर्शन के लिए दृष्टि यथार्थ के अनुभव से प्राप्त संवेदना से जुड़ी है, साथ-ही-साथ, प्रेमचन्द की तरह पाठक को नैतिक दृष्टि से संवेदित करने के संकल्प से भी युक्त है।

जैनेन्द्र कुमार का कथन है कि—'दृष्टिकोण कितना भी स्थिर हो, नये आते हुए अनुभवों से संस्कार प्राप्त करता ही है। जीवन और जगत से आने वाला प्रभाव संवेदनों को मिलता है। वहां से स्वयं जिसे दृष्टिकोण कहा, उसमें रम-रम जाता है।'[2] अपने साहित्य-लेखन के प्रभाव के रूप में उनका कहना है कि—'कहानी-उपन्यास मेरे लिए केवल भावोद्गार नहीं है। उसमें दिशा होती है और वह विचार से आती है। विचार मनोदृष्टि या दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नहीं हुआ करता। मैं जानता हूं कि यदि उसके पीछे दृष्टि या विचार न हो, तो रचना में 'बहुत-कुछ भावात्मकता होकर भी अर्थ की उतनी गरिमा नहीं हो सकती।'[3] संवेदना को ही धर्म मान लेंगे, तो जीवन-पराक्रम का आधार खत्म हो जाएगा, सिर्फ थकना रह जाएगा।'[4] जैनेन्द्र कुमार के लिए कहानी शिल्प नहीं है। वह संवेदन और संवेद्य है। इस प्रकार 'उसमें सीखने-जानने को बहुत कम रह जाता है। या कहिए कि जो सीखा-जाना जाता है वह सब वहां उपकरण-भर रह जाता है, अर्थात् इष्ट नहीं आनुषंगिक होता है।'[5]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' सबसे महत्त्व की चीज 'वस्तु और देखने वाली दृष्टि'[6]

---

1. 'कथारूप' (जनवरी-मार्च 1991) सम्पा० अनिल श्रीवास्तव, पृ० 57
2. 'कहानी : अनुभव और शिल्प' : जैनेन्द्र कुमार, पृ० 48
3. वही
4. वही, पृ० 105
5. वही, पृ० 72-73
6. 'नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : सम्पा० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 54

को मानते हैं। देखना भी कई तरह का होता है। देखने का देखना ही संवेदना और रचना का कारण है। साहित्य मात्र देखने को देखना है। जैनेन्द्र से बिल्कुल भिन्न दृष्टि भीष्म साहनी की है। उनका विचार है कि—'प्रत्येक लेखक की अपनी जीवन-दृष्टि होती है और उस दृष्टि के बनने में उसके संस्कारों, अनुभवों, पठन-पाठन, मूल्यों, मान्यताओं सभी का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है और कहानी जहां जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है, वहां पढ़ने वाले को सोचने पर भी बाध्य करती है, उसे जीवन को देखने की एक दृष्टि देती है। विचारों से कटकर तो कहानी नहीं होती, लेकिन कहानी मुख्यतः कहानी ही होती है, विचार उसमें खपकर ही आता है; कथ्य की प्रामाणिकता ही उसमें निहित को विश्वसनीय बनाती है। इसलिए विचारधारा लेखक के लिए तभी सार्थक बन पाती है, जब उसकी दृष्टि का, उसके समूचे रचनात्मक व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनकर आये, न तो मनमाने ढंग से कहानी को विचारधारा का वाहक बनाया जा सकता है और न ही ऐसे उदाहरण गढ़े जा सकते हैं, जो किसी विचारधारा को प्रमाणित करते हुए जान पड़ें।'[1]

कहानी को विचारधारा के आग्रहों से मुक्त रखने की ऐसी चेतावनी, शायद, किसी अन्य विचारधारावादी कहानीकार ने नहीं दी है। भीष्म जी लेखक की परिवेश तथा अनुभवगत निजता की बात करते हैं। उनकी राय में—'लेखक का संवेदन संस्कार रूप में आने परिवेश को ग्रहण करता है, वह उसी में जीता और सांस लेता है। इसलिए किसी कालखण्ड में लिखी गई रचना पर उस काल और परिवेश का रंग तो रहता ही है; देश की स्वतन्त्रता से पहले की कहानियों और बीस-पच्चीस बरस बाद की कहानियों में निश्चय ही इस दृष्टि से अन्तर पाया जाता है। कहानी की यात्रा में इस तरह के पड़ाव या मील के पत्थर तो नहीं आते, कि हम कहें कि अमुक घटना के बाद कहानी ने अपना रूप और कथ्य बदल लिये, परम्परागत मूल्यों और मान्यताओं का प्रभाव एकाएक शिथिल पड़ गया। ऐसा नहीं होता। भले ही लेखक कितना परम्परा को नकारता रहे, वह किसी-न-किसी रूप में बनी रहती है और हमारे बदले हुए परिवेश में घुली-मिली रहती है। पर बदलते वक्त के साथ उनके प्रभाव में शिथिलता-सी आने लगती है। तब एक नयी दृष्टि, एक नयी पकड़ का भास होने लगता है।'[2] एक काल का साहित्य दूसरे काल के साहित्य से अलग नहीं हो जाता, उनके भीतर पाई जाने वाली गहरी मानवीय संवेदना उन्हें एक-दूसरे से जोड़े रहती

1. 'हिन्दी कहानी संग्रह' : सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 18
2. वही

है। यह मानवीयता ही साहित्य को कालेतर बनाती है।[1]

अभिव्यक्ति के स्तर पर संवेदना, दृष्टि के कारण, मूल्यपरक रूप ग्रहण कर लेती है। यह संवेदनगत रूप ग्रहण, सृजन प्रक्रिया के कारण, कहानी में सूत्रबद्ध होकर, घटना के प्रवाहक्रम में, संरचना का रूप ले लेता है। घटनाओं की क्रमिकता और उसके आंशिक अभिक्रम तथा विन्यास को संरचना कहा जाता है, जिसे कहानी की बनावट या ढांचा भी कह सकते हैं। वस्तु का सम्बन्ध भी संवेदना से है। रचना में संवेदना की बहुल भूमिका को लेकर विस्तार से तथा गहरे प्रश्नों व सरोकारों पर शैलेश मटियानी ने भी विचार किया है। मटियानी जी के अनुसार—'संवेदना जितनी गहरी, स्मृति और दृष्टि भी उतनी ही व्यापक होगी। उतनी ही दूर तक व्यक्ति घटित के कारणों पर सोच-विचार में भी समर्थ होगा।'[2] 'जिसकी वैचारिक पीठिका जितनी ठोस, उसकी संवेदना भी उतनी ही ठस जरूर होगी, अगर कि वह विचार को संवेदना से बड़ी वस्तु मानने के मुगालतों में मस्त और विचार व संवेदना की भूमिका के अभिज्ञान से शून्य हो।'[3] 'जो रचनाएं हमें अपनी स्मृति, संवेदना और अनुभूतियों के विस्तार में ले जाती हों, उन्हें हिकारत की नजर से देखना ठीक नहीं। यह खुद के संवेदन-जड़ होने का सबूत है।'[4] महाकाव्यात्मक संवेदना की पहचान ही यह है कि हमें देश, काल और समाज के विस्तारों की तरफ उछाल दे। आदमी का देश, काल तथा समाजबोध उसकी संवेदना के आयामों से जुड़ा है। श्रेष्ठ रचना संवेदना के घरातल पर के संघर्षों को भी प्रतिबिम्बित करती है और प्रतिकूल से विरुद्ध जूझने की जिजीविषा की गवाही देती है।'[5] घटित की प्रतिक्रिया सब पर होती है, लेकिन इसके रचना की हद तक जाने के सारे उपक्रम सिर्फ लिखने वाले के संवेदनतंत्र की धुरी पर चलते हैं। अपने प्रत्येक अनुभव (और इसकी मिट्टी ही नहीं, दक्षिक मिट्टी तक) को वह खुद के संवेदनतंत्र के चाक पर घुमाकर ही जांचता है। पानी और मिट्टी यहीं इकट्ठा होते हैं। संवेदन और वस्तु का सारा पारस्परिक संक्रमण और अन्तर्लयन इसी मुकाम पर घटित होता है।[6]

'संवेदना' को रचना-प्रक्रिया का मुख्य आधार मानते हुए अपने प्रकाश्य लेख

1. 'हिन्दी कहानी संग्रह' (भूमिका) : सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 11
2. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम', : सम्पा० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, पृ० 293
3. वही, पृ० 194
4. वही, पृ० 295
5. वही, पृ० 292
6. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' : भूमिका, पृ० 4

'कहानी कैसे बनती है' में मटियानी जी का कहना है कि—'संवेदना ही हमें इस अनुमान में ले जाती है कि वस्तु का स्वरूप पहले क्या रहा होगा; या कि आगे चलकर क्या होना है। संवेदना का विस्तार ही किसी लेखक को स्थान और काल के साहचर्य में ले जाता है।···संवेदना ही वस्तु को आदमी से जोड़ती है और आदमी को वस्तु से। वस्तु को आदमी और आदमी का वस्तु में प्रतिबिम्बन ही समस्त कला माध्यमों का उद्गम है। कहानी इस नियम का अपवाद नहीं। ···कला-मात्र की प्रासंगिकता वस्तु और आदमी के बीच के सम्बन्ध को तय करने में है। इसी में संवेदना की मुख्य भूमिका है। संवेदन के स्तर पर ही कोई लेखक अपने में उस प्रक्रिया को बरकरार रखता है, जो ताप को आर्द्रता में बदलता है।'

आगे इसी लेख में वो साहित्य में, संवेदना की जगह, सिर्फ वस्तु या रूप पर जोर देने के दुष्परिणाम की तरफ भी संकेत करते हैं। 'यह हर कहानीकार की अपनी संवेदनात्मक बनावट पर ही निर्भर हो सकता है कि कहानी कैसे बनेगी और कैसी। लेखक संवेदना से गुंथा होता है। उसके सारे अनुभव उसकी संवेदनात्मक बनावट की ही उपज होते हैं। अनुभव की सारी बनावट संवेदना के प्रकार और अनुपात से तय हो सकती है। जीवन हो कि कहानी, संवेदनात्मक बनावट का सवाल ही, शायद सबसे प्रासंगिक सवाल हो सकता है; क्योंकि जिसे हम रचनात्मक बुनावट कहेंगे, अर्थात् रूप या शिल्प, वह भी संवेदना से बाहर का सवाल नहीं है।'

राजेन्द्र यादव संवेदना और दृष्टि को ही कहानियों के एक विषय के बावजूद भिन्नता या नवीनता का कारण मानते हैं। उनका कहना है कि—'किसी भी लेखक के विषय, क्षेत्र, पात्र या व्यक्तिगत रचना-संसार बाद वालों के लिए अनुकरणीय होते हैं। जो चीज परम्परा और विरासत के रूप में विकसित होती है, वह है कथाकार की संवेदना और दृष्टि—उसके सरोकार और अपने कथ्य के साथ उसकी सम्बद्धताएं। यही वह कारण है, जो एक ही धर्म, पात्र या कथ्य पर लिखने वाले दो लेखकों को अलग कर देता है।'[1] उनका यह भी मानना है कि दृष्टि प्राप्त करना सामाजिक संस्कार प्राप्त करना है। वे मानते हैं कि 'आज की कहानी में पाठक किसी कटे-छंटे विचार को नहीं पाता, बल्कि उस वातावरण को अपने भीतर संजीव पाता है, जिसे अनुभव और अनुभूति का अंग बनाकर 'आइडिया' या विचार के लिए दृष्टि मिले···प्रामाणिकता का वाश्वासन और उस आश्वासन की सम्पूर्ण तन्मयता में किसी अनुभव से गुजरना, साथ ही उस गुजरने की जानकारी को इतिहास के सन्दर्भ में प्रस्तुत कर देना ही दृष्टि प्राप्त

1. 'प्रेमचन्द की विरासत' : राजेन्द्र यादव, पृ० 85

करना है, सामाजिक संस्कार पाना है।'[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहानी सम्बन्धी चिन्तन सबसे ज्यादा और गहरा राजेन्द्र यादव में ही मिलता है।

राजेन्द्र यादव के समान ही नई कहानी के लिए प्रतिष्ठित कमलेश्वर का मानना है कि—'एक अन्तर्द्वन्द्व हमेशा लेखक के मन में रहता है'''क्योंकि कोई भी विचार अन्तिम नहीं है; और बदलते परिवेश में, जहां मूल्यों का संकट हो, आस्था को फिर-फिर टटोलने की आवश्यकता हो, निराशा से ऊब-ऊबकर घबराने की स्थिति हो, वहां एक लेखक का काम बहुत नाजुक हो जाता है'''इस संक्रांति को धीरज से देखकर, अनुभव के स्तर पर जी कर संवेदनात्मक स्तर में कुछ कहना ही लेखकीय दायित्व है—और कहानियों की 'थीम' को चुनने की यही लेखक की दृष्टि भी है। इसलिए जीवन के प्रति प्रतिबद्ध होना लेखक की अनिवार्यता है।'[2] एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि—'वास्तविकता से भरा चित्रण कलात्मकता का आधार नहीं रह गया—यानी कहानी के 'फार्म' पर टिकी यथार्थवादी दृष्टि 'कथ्य के यथार्थ' पर संतरित हो गयी। यह संतरण ही स्वातन्त्र्योत्तर कहानी को पिछली कहानी से अलग करता है।'[3] 'नई कहानी की भूमिका' में दृष्टि और संवेदना सम्बन्धी पाये जाने वाले कमलेश्वर के प्रमुख विचार इस प्रकार हैं—'जीवन दृष्टि ही वह प्रमुख बिन्दु है, जिसके बदलने से कहानी का परिदृश्य बदला है।'[4] आज कथ्य के चुनाव का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है, और इसीलिए अर्थगर्भा स्थितियों की महत्ता सहज ही बढ़ गई है, और नई कहानी परिवेश से उद्भूत प्रामाणिक अनुभव की गम्भीर संवेदनशील प्रतीति है, घटना का वाचाल चलचित्र नहीं।'[5] पुरानी और नई कहानी के बीच बदलाव का बिन्दु वैचारिक दृष्टि का है। भिन्न चरितनायक, पात्रों, समूह, वर्ग या अंचल पर लिखी गई कहानियां नई ही होंगी, यह एक गलत युक्ति है, बल्कि इससे कहानी के 'नयेपन' को भी स्पष्ट या आभासित नहीं किया जा सकता।'[6] घटनाएं नई नहीं होतीं, मानवीय सम्बन्ध भी बहुत नये नहीं होते, भावावेग और आंतरिक उद्वेग भी अछूते नहीं होते, पर इन सबकी एक नयी दृष्टि से अन्विति ही नया प्रभाव छोड़ती हैं। अज्ञेय की 'रोज' और अमरकान्त की कहानी 'दोपहर

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 76
2. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 76-77
3. वही, पृ० 101
4. वही, पृ० 51
5. वही, पृ० 17
6. वही, पृ० 29

का भोजन' से वह बात ज्यादा स्पष्ट हो सकती है। 'रोज' की नारी का संकेत जितनी दूर तक जाता है उससे कहीं ज्यादा गहरा और व्यापक संकेत अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' की नारी का है। 'रोज' की स्त्री की सीमा मात्र उसका समाज है जबकि 'दोपहर का भोजन' की स्त्री की सीमा समाज से आगे मानवीय संकट का बोध है।'[1]

अन्यों की तुलना में मार्कण्डेय ने 'हंसा जाई अकेला' की भूमिका में नई कहानी के विषय में कुछ स्पष्ट स्थापनाएं करते हुए कहा है कि—'कलाकार की दृष्टि केवल सत्य को बतला देने में ही नहीं है। वह सत्य को सजीव बनाकर, कुरूपता को भी सौन्दर्य से भर देता है।'[2] बहरी, पल-पल प्रेमाश्रु-विह्वल, तरलहृदया, सुकुमार कन्या को, गृहकार्यों में पिसी रूखड़ी और श्रमित किसान बाला के हृदय में बिठाकर; गांव की नयी कहानी का सृजन नहीं हो सकता। अथवा बोली के शब्दों के बेमेल पैबन्द लगाकर, भाषा के जोर पर, कोई किसान की कठोर जिन्दगी का संवेद्य धरातल नहीं छू सकता। उसके आदर्शों को देख पाने के लिए लेखक में पैनी दृष्टि और अनुभव की गहराई के साथ उसकी सामाजिक परिस्थितियों को सही दृष्टि से देखने की क्षमता भी आवश्यक है।'[3] 'नये लेखकों में से अधुनों के पास कच्चा माल है, यानी जीवन के नये-नये, अछूते खण्डचित्र वे सामने ला सकते हैं, पर उनकी उपयोगिता, उनकी तराश, उनका वजन तथा उसे ठीक ■ देख और पहचान पाने की दृष्टि उनके पास कम है।'[4] 'कहानी में नवीनता का आग्रह विशिष्ट प्रकार के जीवन पर न होकर, जीवन के विशिष्ट प्रकार पर होना चाहिए। गांव की कहानी लिखना ही कलात्मक माध्यम की नयी खोज नहीं कहा जा सकता, बल्कि गांव के जीवन में नयी दृष्टि का समावेश करना तथा वहां के जीवन की परिवर्तित दिशा को पुरानी पीठिका में देख पाना ही नयी कहानी के सृजन में सहायक हो सकता है।'[5]

प्रसिद्ध महिला कथाकार कृष्णा सोबती ने अपने एक लेख में कहा है कि—'कहानीकार अपनी कलात्मक औकात और अन्तर्दृष्टि के बल पर ही जीवन को परखने-परखने की सक्रियता में जूझता रहा है।'[6] छठवें-सातवें दशक के प्रसिद्ध लेखक काशीनाथ सिंह चीजों को देखने की साफ दृष्टि की वकालत करते हैं। वे

1. 'नई कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, पृ० 30
2. 'हंसा जाई अकेला' : मार्कण्डेय, पृ० 10
3. वही, पृ० 11-12
4. वही, पृ० 14
5. वही, पृ० 11
6. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (29 मई, 1988, पृ० 12)

यह स्पष्टतः लिखते हैं कि—'एक लेखक में चीजों को देखने की एक साफ दृष्टि होनी चाहिए। जबह-जगह पर चीजें बिखरी हुई हैं, इधर-उधर फैली हुई हैं—बेतरतीब और बेढंगी : सवाल यह है कि हम उन्हें किस नजर से देखते हैं? 'सामाजिकता' मेरी पहले की कहानियों में भी थी लेकिन दृष्टि साफ नहीं थी।'[1] अपनी रचनाओं के हवाले से वे मानते हैं कि 'मेरी रचनाओं पर निष्क्रिय और निरर्थक उत्तेजना हावी हो रही थी। यह एक 'शार्टकट' था अपने अज्ञान को छिपाने का, चीजों की तफ्तीश में गए बगैर अपनी ओर से नतीजा निकाल लेने का, लेकिन जो नतीजा हम निकालते थे, पढ़ने वाला उसे स्वीकार नहीं करता था—इसका कारण था चरित्रों का बेजान रह जाना और बेजान होने का कारण था हमारी दृष्टि का इन्द्वात्मक न होना जबकि समाज और व्यक्ति के अन्तर्विरोधों को इन्द्वात्मक दृष्टि ही जीवित पकड़ सकती है।'[2]

गिरिराज किशोर के लिए दृष्टि एक सृजनात्मक समग्रता की उत्पत्ति है। उनका मानना है कि 'रचनाकार का मनस मूलतः एक ऐसी मिट्टी है, जिसमें अनुभव-बीज पड़कर रचना के रूप में प्रस्फुटित होते हैं। जिन अनुभव-बीजों को प्रस्फुटन और बढ़ोतरी की दृष्टि से, सही लेखकीय दृष्टि, यथार्थ की पहचान, कल्पना की वास्तविकता और उचित भाषागत अभिव्यक्ति—मिट्टी, जल, वायु और प्रकाश की मृदुलता के रूप में उचित परिमाण में उपलब्ध हो जाते हैं, अंततः उन्हीं का विकास रचना के रूप में होने की संभावना रहती है। रचनाकार अनुभव के साथ होने वाले भविष्य के साक्षात्कारों और टकरावों के बारे में इतना कम जान पाता है कि वह उस पूरी परिकल्पना के बारे में अंशिक कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं रहता। अपनी दृष्टि को लेकर भले ही कुछ दावे कर ले।'[3]

'जीवन की जटिलताओं के साथ-साथ अनुभवों का दबाव बढ़ना जरूरी है। अनुभवों की जटिलताओं का दबाव संवेदना को विराट बनाता है। उस विराटता को नापने की अगर किसी में बायनी-सामर्थ्य है, तो वह भाषा में ही है। भाषा के प्रति उदासीन कथाकार या कवि न तो संवेदना को बढ़ा सकता है और न भाषा को।···संवेदना और भाषा का विस्तार अनुभवों की दीर्घ शृंखला के साथ जोड़-कर धीरे-धीरे करना होता है।'[4] कथाकार के लिए केवल इतना करना अनिवार्य

---

1. 'बातचीतनामा' : ('कहानी की वर्णमाला और मैं' : काशीनाथ सिंह, पृ० 142-143
2. वही, पृ० 150-151
3. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर (मेरा रचना कर्म और अंजुलि भर उत्स), पृ० 128
4. 'लिखने का तर्क' : गिरिराज किशोर, पृ० 25

है कि वह दिन-पर-दिन संवेदना के विस्तृत होते पाट के साथ अपने को जोड़े रखे। संवेदना अन्तःस्रोत की वस्तु है। भाषा उसका बाह्य रूप है। इसलिए साहित्य में भाषा ही नहीं होती, संवेदना भी होती है। वह केवल भाषा ही होती, तो नारे और प्रचार हो जाती।[1]

'मनुष्य से साहित्यकार इसलिए भिन्न है, क्योंकि उसकी दृष्टि तटस्थ, विश्लेषणात्मक है और अपेक्षाकृत विस्तृत है। लेखकीय कल्पनाशीलता और तादात्म्यता को संरक्षण जितना अतीत देता है, उतना वर्तमान नहीं देता। भविष्य तो शून्याकाश है, क्योंकि उसका कोई सही आकलन नहीं हो पाता।'[2] 'बड़े रचनाकार की संवेदना बड़ी होती है। ऐसा कभी नहीं होता कि रचनाकार बड़ा हो जाए और संवेदना छोटी रह जाये। बड़ी संवेदना वाला रचनाकार अपने अनुभव को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखता। जो कुछ भी घटता है, वह उसे उसकी सम्पूर्णता में ही देखता है। हर बड़ी संवेदना वाला रचनाकार जिस 'स्ट्रोक' से अपनी रचना को पूर्णता प्रदान करता है, वही 'स्ट्रोक' समकालीन जिन्दगी से जुड़ी उसकी संवेदना की तस्वीर को भी पूरा करता है।'[3] 'कोई भी रचनाकार किसी दूसरे बड़े रचनाकार की संवेदना और उपकरण लेकर अपने को उसके समकक्ष नहीं ला सकता।' सबको अपने ही पर्याप्त या अपर्याप्त साधनों और माध्यमों का उपयोग करना होता है। चूंकि मैं प्रदेश के एक ऐसे क्षेत्र से सम्बन्धित हूं जहां गन्ना और कोल्हू होते हैं, गुड़ और चीनी बनते हैं, लेकिन लेखक नाम का प्राणी भी होता है, तो सरसों में पोस्ते के इक्के-दुक्के दाने की तरह। इसलिए मैं इस सच्चाई को अधिक गहराई से अनुभव करता हूं। ऐसी पृष्ठभूमि वाले लेखक का संघर्ष और भी अधिक गहरा हो जाता है। वह जब तक अर्जुन की तरह रचना-कर्म पर अपनी दृष्टि केन्द्रित नहीं कर लेता, तब तक घूमती मछली की तरह लेखकीय अनुभव बार-बार उसके सामने से गुजरता जाएगा और वह चमत्कृत भाव से उसे देखता ही रह जायेगा। प्रश्न होता है उसे भेदने का, या कि देखने का।'[4]

सुप्रसिद्ध कहानीकार गोविन्द मिश्र के अनुसार 'कोई भी लेखक अगर अपनी दृष्टि को थोड़ा-सा दाबकर रखे और चीजों को भले ही थोड़ी देर के लिए कड़ा कीजिए, फोटोग्राफिक तरीके से सिर्फ पेश कर दे तो वह भी अपने-आप में बिना

1. 'लिखने का तर्क' : गिरिराज किशोर, पृ० 26
2. गिरिराज किशोर : 'राष्ट्रीय सहारा' सितम्बर' 91
3. 'लिखने का तर्क' : गिरिराज किशोर, पृ० 13
4. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 133

कुछ कहे नहीं रह सकता।'[1] कहानी का कथ्य और या प्रतीकार्थ क्या दृष्टि का पर्याय हो सकता है ? निश्चय ही नहीं। परन्तु दृष्टिहीन रचना नहीं हो सकती। दृष्टि को दबाव के रूप में महसूस करना दृष्टिदोष है। गोविन्द मिश्र मानते हैं कि 'अपनी एक दृष्टि बनाकर चलना—इस पर बहुत जोर दिया जाता है आज-कल भारत में—मैं इस बारे में अभी तक यही सोचता आया हूं कि अच्छा है कि मेरी कोई दृष्टि न हो। अगर मेरी कोई दृष्टि हुई, तो वह जो एक जिन्दगी को खोजने की ललक है वह खत्म हो जायेगी, मैं उस दृष्टि को ही हर जगह लादता नजर आऊंगा।'[2] यथार्थ का आग्रह करने वाली दृष्टि की एक बड़ी सीमा है कि यह साहित्य को जमीन से ऊपर उठने ही नहीं देना चाहती। जमीन से बंधे रहना माने अपने समय और परिवेश दोनों के घेरे में रहना। साहित्य और कला···जैसे कि स्वप्न और सपने कुछ चीजें हैं जो हमें अपनी पार्थिव सीमाओं को लांघ जाने की सुविधा देती हैं।···अपने लिखे हुए में आत्मा को छूना, पढ़ने वालों का आत्मिक से साक्षात्कार कराना···साहित्य का सार्वकालिक उदात्त कर्म संभवतः यही है।'[3]

अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित 'सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा' में संगृहीत अपने लेख 'कथा भाषा की समस्या' में गिरिराज किशोर की ही भांति, कहानी की अन्तर्वस्तु के साथ-साथ उसकी भाषा के प्रश्नों पर भी गोविन्द मिश्र ने काफी गहराई से बात की है। साथ ही 'लेखकीय संवेदना' की कालसापेक्षता और संवेदन-सापेक्षता पर भी जोर दिया है। 'लेखकीय संवेदना वक्त के साथ काफी कुछ बदलती चली जाती है, प्रौढ़ होते चले जाने के क्रम में, पर रंग वही होता है। तना वही रहता है, भले ही मोटा होता चला जाये।'[4] लेखक के इन (अनुभव) प्रसंगों के मार्फत हम उसकी लेखकीय संवेदना की मुख्य धारा पहचान सकते हैं, क्योंकि ये ही जीवन के प्रसंग हैं जिन्होंने उस विशेष संवेदना को ढाला है। मैंने यह भी अक्सर महसूस किया है कि रचना भी लेखक के व्यक्तित्व पर अपना असर छोड़ती है···अक्सर इस हद तक कि एक बड़ी रचना के बाद लेखक वही पुराना व्यक्ति नहीं रह जाता, ऐसा शायद इसलिए होता है कि वे प्रसंग जिन्होंने कभी लेखक के व्यक्ति को झकझोरा था, उनकी रचना में उतरते समय और भी गहरी जांच-पड़ताल होती है···यह वह बिन्दु है, जहां जीवन का एक निहायत

---

1. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 17
2. वही, पृ० 18
3. 'सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा', सम्पा०सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ० 65
4. 'मेरी प्रिय कहानियां' : (भूमिका), गोविन्द मिश्र, पृ० 8

व्यक्तिगत टुकड़ा, एक बड़ी ही निजी कहानी 'पब्लिक प्रॉपर्टी' बनने को प्रस्तुत होती है···जहां व्यक्ति की जीवनधारा सामूहिक नदी में मिलती है···[1]

'अपनी तमाम यथार्थपरकता के बावजूद मैं उस पुरानी बात का अब भी बहुत कायल हूं कि संवेदना का केंद्र महसूसने की शुरुआत असफल प्रेम से ही होती है···लेखक के जीव में काफी गहरे तक गड़ी हुई असफल प्रेम की जो सीधी-पैनी लकड़ी है वही आगे चलकर फैलती है···जब लेखक अपने प्रेम के कष्टों को फैलाकर दूसरे और कष्टों को देखने का एक स्वाभाविक अभ्यास पाल लेता है। शायद हमेशा से ही संवेदना की गहराई उसी जड़ से निकली है···जहां तक असफल प्रेम की वह लकीर घुस गई थी।'[2]

'मैं सब रचनाओं में यह कोशिश करता हूं कि आप उसकी पीड़ा और संवेदना को उभारें, लेकिन बगैर भावुक हुए एकदम निस्संग होकर, तटस्थ होकर। आपने देखा होगा कि रस्सी पर लोग चलते हैं, उसमें एक आदमी बड़ा बांस लेता है एक तरफ और दूसरी तरफ बैलेंस करता हुआ चलता है। उसे देखते हुए मुझे यह बात सूझती थी कि कहानी लिखना भी वैसा ही है। कथा तो सिर्फ वह सहारा है, जिस पर चलना है, असली चीज है चलना और चलना यही है कि आप उसको उभार सकें सारी पीड़ा को बगैर भावुक हुए, बगैर रोये हुए। रोइये नहीं, जो चीज है, उसे पेश करिये और उसे उनके सारे आयामों के साथ पेश करिए तो वह आप-से-आप लोगों को हिलायेगी।'[3]

अब तक के सारे उदाहरण स्वयं कहानीकारों के कथा-चिन्तन से इस अभिप्राय से ही लिये गये हैं कि हिन्दी के कहानी-सम्बन्धी चिन्तन के क्षेत्र में इनका योगदान कितने महत्त्व का है, यह तथ्य स्पष्ट रेखांकित हो सके। 'सृजन' से सीधी जुड़ा के अनुभव ही स्रष्टा (लेखक) को सृजन के आधारभूत प्रश्नों से भी ले जाते हैं। तब वह सृजन-प्रक्रिया के सारे अभिक्रम, उपादानों और उपकरणों का भी गहरा निरीक्षण जरूरी समझता है। 'सृजन' का यह आत्मनिरीक्षण ही कहानीकार को वस्तु, संवेदना, दृष्टि, भाषा, अथवा संरचना या विन्यास के प्रश्नों में भी ले जाता है और उसका यही संघर्ष 'सृजनात्मक समग्रता' की उस स्थिति को सम्भव बनाता है, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में ही प्रेमचन्द के कहानी-सम्बन्धी वक्तव्य के उदाहरण से किया गया।

---

1. 'मेरी प्रिय कहानियां' : (भूमिका), गोविन्द मिश्र, पृ० 7
2. वही, पृ० 7-8
3. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 26-27

(ख) वस्तु, भाषा और शिल्प

कहानी में वस्तु, भाषा और शिल्प को विवेचन की दृष्टि से, सुविधा के कारण, भले ही अलग करके देखा जाए, मूलतः वे अलग नहीं होते हैं। कहानी कहानी होती ही है, अपने आवयविक रूप में। हिन्दी कहानी के अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाकारों ने भाषा, शिल्प और वस्तु के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहानी की इस आवयविकता पर निरन्तर जोर दिया है। मनुष्य सम्पूर्ण रूप में मनुष्य है, भिन्न-भिन्न अवयवों के कारण वह मनुष्य नहीं है, इसी तरह से कहानी की वस्तु, भाषा-शिल्प और उसकी दृष्टि भी किसी सक्षम कहानी में उसी तरह से सम्पूर्णता-बोध की प्रतीति के रूप में आते हैं। कहानियों का विश्लेषण भाषा, कथ्य, शैली आदि अलग-अलग खेमों में बांटकर करना उनके साथ ज्यादती करना है। अवश्य ये कुछ हैं तो अपने पूरेपन में ही, वर्ना कुछ नहीं।'[1] अनेक विषयों के बावजूद कहानी की वस्तु एक हो सकती है; क्योंकि वह रचनाकार की संवेदना की भावना से भावित होकर, भाषा-शिल्प आदि से जुड़कर ही वस्तु में बदलती है। अज्ञेय के अनुसार यथार्थ की हमारी परिकल्पना, जिससे कथा-साहित्य का बहुत गहरा सम्बन्ध है, वस्तुतः बाह्य विषयों या घटनाओं पर ही आधारित नहीं होती—'जो कहानियां जल्दी पुरानी नहीं होती हैं, या जो पुरानी होकर भी नयी बनी रही हैं, या नयी हो गई हैं, उनमें रचनाकार की दृष्टि सामाजिक यथार्थ की परिधि में न बंधी रहकर, मानवीय यथार्थ पर केन्द्रित रही होगी—उनका आग्रह विषयगत यथार्थ का न रहकर उस यथार्थ का रहा होगा जो विषय और विषयी के आपसी व्यवहार में लक्षित या व्यंजित होता है और वही से फैलकर सामाजिक रूप लेता है—यानी सामाजिक होकर भी अन्तर्विषयी बना रहता है : जो इन्टर्सब्जेक्टिव होता है ऑब्जेक्टिव नहीं होता।'[2]

वात्स्यायन जी जिस अन्तर्विषयिता का उल्लेख कर रहे हैं, उसका ही सम्बन्ध उनकी दृष्टि में मूलतः वस्तु से है। कहानी में 'वस्तु' का गम्भीर अर्थों में प्रयोग विषयी की निष्ठ से ही होता है। अर्थात् कोई विषय लेखक के व्यक्तित्व की आंच से पककर ही वस्तु बनता है और यही कारण है कि ऐसी अनेक कहानियां हो सकती हैं, जिनमें यह विषयीनिष्ठता अथवा वस्तुबोध न पाया जाए। जिस रचनाकार का वस्तुबोध जितना अधिक प्रभावकारी होगा, उतना ही अधिक वह मानवीय संवेदना के निकट होगा और वह अपने शिल्प और भाषा—क्योंकि शिल्प और भाषा के बगैर वस्तु सम्भव नहीं है—के साथ सम्पूर्णतः दूसरे को सम्प्रेषित होगा। जिसे हम कथावस्तु कहते हैं, वह केवल घटना नहीं है, बल्कि

1. 'मेरी प्रिय कहानियां' : गोविन्द मिश्र (भूमिका), पृ० 20-21
2. 'छोड़ा हुआ रास्ता' : अज्ञेय (भूमिका), पृ० 16

वह एक अर्थ में पूरी कहानी ही है। सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में कोई ऐसे नियम नहीं बनाये जा सकते, जिन्हें साहित्य के लिए अनिवार्य या निरर्थक माना जाए। साहित्य में कुछ भी निषिद्ध या विहित नहीं होता है। कहानी अपने विधा के तर्क से भी इस सिद्धान्त को मानकर ही चलती है। गिरिराज किशोर ने 1950 और 1965 तक की कहानियों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए विषय के प्रति आग्रह के परिणामस्वरूप होने वाली कठिनाइयों का उल्लेख किया है। उन्होंने भी 'विषयवस्तु' शब्द का बार-बार प्रयोग किया है, जबकि मूलतः विषय और वस्तु भिन्न हैं। जिस संकट की ओर वे निम्नलिखित उद्धरण में संकेत कर रहे हैं, वह संकट विषय के प्रति आग्रह के कारण पैदा हुआ है, न कि वस्तु के। वैसे भी कथा के विषय और कथावस्तु में अन्तर है। कहानियां 'कथावस्तु' से बनती हैं, कथा-विषय से नहीं। विषय तो अनन्त हैं। एक ही विषय पर लिखी गई कहानियां कथावस्तु के कारण भिन्न होती हैं।

'कथा-साहित्य के क्षेत्र में 1950 और 1960 के बीच, बल्कि 1965 तक की कहानियों को लेकर कुछ फैसले किये गए थे'''इस दौरान जो कथाकार आए, उनमें से कुछ जिस तरह की कहानियां लिख रहे थे, उन कहानियों को वे मानक कहानियां बनाना चाहते थे। यही कारण था कि वे कहानी की विषयवस्तु और उसके स्वभाव को कुछ इस पैराये पर ले गए कि कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि कहानी के क्षेत्र में उनकी ही बात अन्तिम है। तत्कालीन कथा-दर्शन में उन प्रणेताओं में से कुछ की अधिकतर कहानियां तो स्पष्ट रूप से जिन्दगी से हटकर अकेलेपन, ऊब, अलगाव, व्यक्तिगत संत्रास और व्यक्तित्व के दोहरेपन आदि विषयों पर इस तरह से लिखी हुई कहानियां हैं—कि उन्हें पढ़कर लगता है कि इस देश की सामाजिक जिन्दगी केवल उन कहानियों तक ही सीमित है। लेखकों ने अपनी ऐसी सभी रचनाओं का आधार अनुभव की प्रामाणिकता ही बताया था। मेरा यह अर्थ कदापि नहीं कि इन रचनाकारों ने उन विषयों पर अच्छी और दमदार कहानियां नहीं लिखीं। दरअसल इन रचनाकारों ने कहानी की 'टेकनीक' को संवारकर उसे एकदम नया बना डाला, लेकिन विषयवस्तु के विकास की दृष्टि से इस विधा का विस्तार तो हुआ, पर वह एक तरह का अतिक्रम भी था और निष्क्रियता की स्थिति भी थी। अब कभी-कभी उन प्रस्थापनाओं के साथ-साथ रचनाओं को पढ़ा जाता है, तो यह अहसास होता है कि जैसे, विषयवस्तु की दृष्टि से, कहानी-विधा को लोहे के कटघरे को बन्द करके, उससे कह दिया गया हो कि अब तुम्हारी यही नियति है, इसी के अन्दर रहकर तुम अपना जैसे चाहो, विस्तार और विकास करो।'[1]

1. 'लिखने का तर्क' : गिरिराज किशोर, पृ० 9-10

गोविन्द मिश्र ने विषय को सामाजिक और अवैयक्तिक यथार्थ के सन्दर्भ में परखते हुए विषय पर जोर देने के आग्रह से उत्पन्न खतरों का लगभग वैसे ही संकेत किया है, जैसे गिरिराज जी ने। उनके निम्नलिखित उद्धरण को गिरिराज के उद्धरण के साथ देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कहानी में विषय के स्तर पर यथार्थ सम्बन्धी कोई आग्रह नहीं किया जा सकता। वस्तुतः हम जिसे यथार्थ कहते हैं, कहानी के भीतर वह जिस रूप में भी आता है, अन्ततः रचित होता है। कहानी का यथार्थ दुनिया के यथार्थ से नितान्त भिन्न होता है। इसी अर्थ में वह कहा जा सकता है कि विषय का सम्बन्ध सांसारिक घटनाओं और वस्तु-सत्ताओं से होता है। वस्तु का सम्बन्ध रचना के भीतर के रचित यथार्थ से होता है; इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि कहानी में वस्तु ही होती है, विषय नहीं। गिरिराज किशोर और गोविन्द मिश्र के निम्न दोनों उद्धरण विषय के कारण उत्पन्न संकटों का उल्लेख करते हैं, वस्तुतः वह इस अन्तर को न समझ पाने के कारण ही है। गोविन्द मिश्र कहते हैं कि—'विषय के स्तर पर सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक यथार्थ पूरक हैं एक-दूसरे के···पर लेखकीय आग्रह बनते ही वे पारस्परिक विरोध की स्थिति में खड़े हो जाते हैं। इसी से जाहिर है कि ये शब्द लेखकों के दो 'कैम्प' बनाने के लिए गढ़े गए हैं। अपनी कहूं तो मुझे व्यक्तिवादी लेखक भी उतना ही दम्भी और दुराग्रही नजर आता है, जितना कोई दादवादी लेखक। दोनों के यहां लेखक लेता है—जिसे विषय को चलाना है। भाषा का अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करना है, पाठकों को दिशा देना है···मतलब उन्हें भेड़-बकरियों की तरह होकना है। मैं इन दो के बीच कोई रास्ता खोजने चलूंगा, तो देर-सवेर मैं भी आग्रही हो जाऊंगा। अपने प्राचीन साहित्य में रचना के आरम्भ में जो एक वन्दना की परम्परा मिलती है, उसके पीछे शायद यही भाव है कि रचनाकार आग्रहों और अहंकार से मुक्त होकर आगे सर्जना के लिए प्रस्तुत हो। साहित्य में अहंकार की घुसपैठ विचार और सोच के रूप में हुई है। लेखक का आग्रह या दुराग्रह कि वह यही लिखेगा और उसे यह रूप देकर ही लिखेगा···जैसे कि साहित्य मात्र मस्तिष्क का खेल हो।'[1]

शैलेश मटियानी ने अपने प्रकाश्य लेख 'कहानी कैसे बनती है?' में वस्तु और रूप के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखा है कि 'वस्तु के भिन्न होने के सारे तार उसकी बनावट के भिन्न होने से जुड़े हैं। रूप और अन्तर्वस्तु की संयुति ही 'स्वरूप' तय करती है। बनावट का सवाल, इस तरह, बनने और बनाने, दोनों से जुड़ा है। विधा की भिन्नता का नियम भी यही है। अन्तर्वस्तु समान होते भी रूप

1. 'सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा' : सम्पा० सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ० 72

की भिन्नता रचना की पूरी संरचना को बदल दे सकती है। एक ही (कथा) वस्तु को विभिन्न आकार दिये जा सकते हैं। अर्थात् वस्तु का होना कहीं-न-कहीं इस पर भी निर्भर है कि अन्ततः उसका 'स्वरूप' क्या बनता है : इस प्रकार, रूप और वस्तु एक-दूसरे के पूरक हैं और जो लेखक रूप और वस्तु के इस अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को नहीं समझता, उसे सिवा नासमझ के और क्या कहा जायेगा; क्योंकि बिना रूप के वस्तु और बिना वस्तु के रूप असम्भव है। रूप तथा अन्तर्वस्तु का गहरा विवेक ही किसी वस्तु को उसका सही स्वरूप दे सकता है। कहानी की विधा में भी वस्तु और रूप के सवाल को इसी तर्क से देखना होगा; क्योंकि तब ही यह भी पूरी पारदर्शिता में देखा जा सकता है कि आखिर कहानी कैसे बनती, या कि बनाई जाती, है—और कि कैसी ?'

आलोचना की भाषा में जिसे 'अर्थ की खोज' कहा जाता है, उसे वस्तु की खोज भी कहा जा सकता है। अपने कहानी-संकलन 'छोड़ा हुआ रास्ता' की भूमिका में अज्ञेय जिसे अर्थ की खोज का उल्लेख करते हैं, वह मूलतः वस्तु से सम्बद्ध है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए तथ्य, वस्तु, विषय आदि के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया है कि क्या 'वस्तु', 'वास्तविक', 'वास्तविकतावादी आदि शब्दावली अपना लेने से अर्थ से सम्बद्ध उठने वाले प्रश्नों का निरसन हो जाता है ? इसी सन्दर्भ में वो आगे कहते हैं कि 'तथ्य' तो हो सकते हैं और उन्हें (यद्यपि वह भी एक हद तक ही) विषयी-निरपेक्ष माना जा सकता है, घटना के तथ्य भी हो सकते हैं। घटना का तथ्यमूलक प्रस्तुतिकरण भी किया ही जा सकता है, लेकिन यथार्थवाद अथवा वास्तविक कथावाद क्या केवल एक तथ्यवाद ही है ? क्या खुद घटना (इवेंट, हैपनिंग, एनचूएलिटी) का वैसा तथ्यमूलक रूप जो अच्छी 'खबरी' अखबारी रिपोर्ट में मिल सकता है, और कहानी अथवा साहित्य की घटना (हमारे सन्दर्भ की रिएलिटी, अर्थात् विषयी की दृष्टि से देखी और सम्प्रेष्य बनाकर प्रस्तुत की गयी घटना), एक ही है या हो सकती है ? या कि बुनियादी तौर पर उनका स्वभाव अलग-अलग होता है ? क्या ईमानदार रिपोर्टर और निष्ठावान कहानी रचयिता के लिए यथार्थ का रूप, अर्थ और सन्दर्भ मूलतः अलग-अलग नहीं हैं ? रचना-प्रक्रिया और सम्प्रेषण-प्रक्रिया वस्तु का कैसे और कैसा रूपान्तरण करती हैं ?'[1]

वस्तु के सन्दर्भ में भाषा—या भाषा के सन्दर्भ में वस्तु—के सवाल को भी कहानीकारों ने गहराई से देखा है। वस्तु की खोज का सम्बन्ध भाषा की खोज से है। लेखक की समस्या मूलतः भाषा की खोज की समस्या है। अज्ञेय ने तो इसे कई

1. 'छोड़ा हुआ रास्ता' : (भूमिका), सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय', पृ० 11

स्थलों पर अनेक बार कहा है, लेकिन इसी बात को कमलेश्वर ने लगभग अज्ञेय की ही तरह कहा है कि—'बोलचाल की भाषा तो हर वक्त हर जगह मिल जाती है, पर साहित्य की भाषा हर जगह नहीं मिलती। क्योंकि साहित्य सिर्फ संवाद नहीं है, वह वैचारिक संवाद भी है। संवाद के लिए किसी भी जबान को इस्तेमाल किया जा सकता है, पर जब सवाल विचार-तत्त्व को दूसरे तक पहुंचाने का आता है, तो उसकी 'भाषा' हर जगह, हर वक्त मौजूद नहीं होती। इस भाषा की खोज लेखक करता है।

'जो भाषा लेखक को मिलती है (परम्परा), संस्कार, पुस्तकों, समय और समाज से) उसमें से वही अपनी भाषा की खोज करता है, जो उसके समय की बदली मनःस्थितियों और हाव-भावों का मुहावरा बन सके, जिन्दगी में जो कुछ सूक्ष्मता ने और जोड़ दिया है, उसे व्यक्त कर सके। कहानीकार के लिए यह बहुत मुश्किल होता है कि वह अपनी भाषा का चुनाव कहां से और कैसे करे···जिन्दगी में जो कुछ परिदृश्य सामने उपस्थित करती है वह सब भाषा में नहीं होता है। कुछ दृश्य हैं; कुछ मूक क्षण हैं; कुछ संवेदनाएं हैं; कुछ अत्याचार और संत्रास हैं··· कहने का मतलब यह कि भाषा के होते हुए भी लेखक के पास भाषा नहीं होती। हर लेखक को भाषा की खोज करनी पड़ती है; क्योंकि आदमी के अन्दर और बाहर जो खामोशी है; और उसके अन्दर और बाहर जो शोर है, : वह हर समय एक-सा नहीं होता और उसी को कथाकार शब्द देता है। अपने वक्तव्य को सही-सही प्रस्तावित कर सकने से ही उसका अर्थ प्रकट हो पाता है, असमर्थ भाषा से लेखक का वक्तव्य भी दूषित होता है। भाषा की खोज इसीलिए अर्थों की खोज भी बन जाती है। सही अर्थ को कह सकने के लिए सही भाषा एक अनिवार्यता है। इसीलिए हर लेखक भाषा की खोज करता है। साथ ही यह भी सही है कि सिर्फ सही भाषा की खोज कर लेने भर से वैचारिक संवाद पूर्ण नहीं हो जाता, उसके लिए विचारों को शृंखलित भी करना पड़ता है। इस तरह लेखक में दो स्तरों पर एक साथ चल सकने की क्षमता को भी देखना पड़ता है।'[1]

गिरिराज किशोर ने भाषा, संवेदना, यथार्थ आदि को एक 'सिस्टम' में रखकर देखते हुए यह कहा है कि—'भाषा के प्रति उदासीन कथाकार या कवि न तो संवेदना को बढ़ा सकता है और न भाषा को···संवेदना और भाषा का विस्तार अनुभवों की दीर्घ शृंखला के साथ जोड़कर धीरे-धीरे करना होता है।'[2] हिन्दी में अज्ञेय के बाद भाषा, संवेदना और कहानी के रिश्ते पर विचार करने वाले कहानीकारों में प्रमुख हैं—राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, मार्कण्डेय,

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 200
2. 'लिखने का तर्क' : गिरिराज किशोर, पृ० 25

गिरिराज किशोर और गोविन्द मिश्र। पश्चिमी आलोचकों ने कथा-साहित्य को भाषा पर गम्भीरता से विचार करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएं की हैं जो पश्चिमी आलोचना में इस समय बहुत चर्चित हैं। यूरी लोतमान का कथन है कि 'लेखक द्वारा रचना-विधा, शैली या कलात्मक दशा का चयन, पाठकों के साथ बातचीत करने के लिए भाषा का चयन ही है। यह भाषा काल-विशेष, संस्कृति विशेष, जाति या राष्ट्र विशेष की कलात्मक भाषाओं के जटिल पदानुक्रम का भाग बन जाती है।'[1] बोवतोर श्क्लोवस्की ने' कथानक और शैली' निबन्ध में 19वीं शताब्दी की रूसी कहानियों का विवेचन करते हुए स्पष्टत: यह कहा है कि—'शाब्दिक कथन यथार्थ के तत्वों को अभिव्यक्त करते हैं।'[2] उन्होंने उत्तम पुरुष कथन को महत्त्वपूर्ण मानते हुए यह लिखा है कि—'साहस उपन्यासों की भांति आदिम कहानी भी उत्तम पुरुष कथन को नहीं जानती है और उसकी उसे आवश्यकता भी नहीं है।'[3] श्क्लोवस्की ने भाषा की इस भूमिका को स्वीकार करते हुए अन्य स्थल पर लिखा है कि—'अपरिचितिकरण कथा में अनिवार्य है।' और यह अपरिचितिकरण उसके अनुसार भाषा में ही सम्भव है। परिचित का अपरिचित में परिवर्तन इस रूसी रूपवादी कथा-साहित्य का अनिवार्य गुण है। यही नहीं, एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि—'कहानी मूलत: घटनाओं की साधारण क्रमबद्धता है। एक प्रकार का कच्चा माल है, जिससे लेखक जूझता है। कथानक एक विशेष प्रकार की स्थिति को कहते हैं, जिसमें कहानी परिचित से अपरिचित बनाई जाती है। सर्जनात्मक दृष्टि से स्थापित रूपाकारों और परिचित शिल्पों को विरूपित और अपरिचित करके इस दृष्टि से कथानक का कहानी और उपन्यास में वही महत्त्व है, जो गीत में लय का।'[4]

राजेन्द्र यादव का मानना है कि 'भाषा जिन्दगी की नब्ज है और शब्दों का विद्रोही हो उठना जिन्दगी का विद्रोही हो उठना है—कथा जिन्दगी का सीधा अनुवाद है, वहां शब्द और उसके पीछे का चित्र अलग खड़ा होकर नहीं बोलता, वह भाषा में ढल और घुलकर सम्पूर्ण स्थिति का चित्र और स्वर बनता है। इसलिए कथा-भाषा पर विचार शब्दों के आधार पर होना ही नहीं चाहिए, सम्पूर्ण अभिव्यक्ति या टोटल-एक्सप्रेशन के आधार पर होना चाहिए—इसमें अगर शब्द सार्थक या संगत है तो वह किस जाति-पेशे-देश-भाषा का है इसकी तफ़्तीश करना फ़ूहड़पन है या अतिरिक्त विद्वत्ता। भाषा-विषयक अतिरिक्त चिन्ता कथाकार से

1. 'बीसवीं शताब्दी का साहित्य' : (साहित्य और सौंदर्यशास्त्र) (भाग-1), पृ० 358
2-3. वही, पृ० क्रमश: 303, 311
4. 'स्ट्रक्चरलिज्म एण्ड सेमिऑटिक्स' 'टेरेन्सी हाउक्स' में उद्धृत, पृ० 66

अधिक कवि में होती है। हिन्दी में प्रेमचन्द और प्रसाद, अज्ञेय और यशपाल इसके उदाहरण हैं—विश्व-साहित्य में जेम्स जायस और दोस्तोयव्स्की। जीवन के प्रमाण की बात छोड़ दी जाय तो तक इसमें नहीं है कि साहित्य की खूबसूरत भाषा देने का काम प्रायः कवि ने किया है, उसका सार्थक उपयोग भले ही कथाकार ने किया हो।'[1]

शैलेश मटियानी वस्तु और संवेदना को एकदम पृथक् करके देखने की गुंजाइश कतई नहीं मानते। उनका कहना है—'रचना में वस्तु और संवेदना को एकदम पृथक् करके देखने की गुंजाइश कतई नहीं होगी; क्योंकि उसमें न सिर्फ वस्तु और संवेदन; बल्कि भाषा शिल्प-विचार का भी समावेश संरचनात्मक होगा। संरचना विभिन्न वस्तु-तत्वों के भिन्न-भिन्न गुणों को एक रूप देना है, अस्तु रचना की पाठ-प्रक्रिया में उसकी संरचना के स्वरूप को समझना भी जरूरी होगा। कविता, उपन्यास या नाटक—ये विभिन्न विधा-रूप हैं और इन्हें हम वस्तु या संवेदन से भी पहले संरचना से ही पहचानते हैं। किसी रचना के सम्मक् पाठ में जायें हम, तब यह भी जानेंगे कि संरचना का भी न सिर्फ इतना कि रूप, बल्कि वस्तु और संवेदन से भी कैसा अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है।'[2]

वस्तुतः शैलेश मटियानी कहानी को 'सावयविक' रूप में देखते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वस्तु संवेदना, भाषा, शिल्प एक इकाई के रूप में कहानी के प्राण-तत्व की तरह दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'भाषा या शिल्प की चुस्तता के प्रश्न भी वस्तु, संवेदना और दृष्टि के प्रश्नों से पृथक् नहीं हुआ करते।'[3] एक लेखक होने के नाते उनकी यह स्थापना और महत्वपूर्ण है कि 'कोई भी प्रतिश्रुत लेखक भाषा और शिल्प के सवालों को वस्तु और संवेदना से पृथक् जाकर कभी तय नहीं करता। रचना में कठिनता और सहजता वस्तु और संवेदना की ही अपरिहार्य परिणति हुआ करते हैं—अलग से इनका कोई अर्थ नहीं।'[4] 'श्रेष्ठ रचना, सदैव, वस्तु और संवेदना की सम्यक् प्रस्तुति के नियम से सृजित होती है। वह हमारे हिसाब से कठिन या सहज बनाई गई नहीं होती है। उसमें सब-कुछ उसकी निर्मिति के अनिवार्य तत्वों के रूप में समाविष्ट होता है।'[5]

आलोचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि किसी भी पाठ—चाहे कविता हो या कहानी—का मूल्यांकन निरावयविक रूप से करने पर दुविधा होती

---

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 120
2. 'त्रिशूल' : शैलेश मटियानी, पृ० 237
3. वही, पृ० 246
4. वही
5. वही, पृ० 247

है, लेकिन पाठक या श्रोता की दृष्टि से सोचने पर तथा रचयिता के दृष्टिकोण से देखने पर कहानी में वस्तु, भाषा और संवेदना अलग नहीं हो सकते। किसी एक पर जोर देने से कहानी का मूल्यांकन स्पष्ट नहीं हो पाता। इस दृष्टि से मटियानी का यह कथन महत्वपूर्ण है कि 'सिर्फ काल, वस्तु, या सिर्फ संवेदना अथवा सिर्फ शिल्प या कि रूप पर जोर देना रचना की सम्यक् पहचान को बढ़ाने के बिजा कुछ नहीं।'''संवेदना के सवालों को कोरे शिल्प, भाषा या वस्तु अथवा विचार-दर्शन के प्रतिमानों से तय कर डालने का कोई उपक्रम सिर्फ अधूरे साक्षात्कारों में ही ले जायेगा, साहित्य की सम्यक् पाठ-प्रक्रिया में नहीं।'[1]

शैलेश मटियानी की तुलना में मोहन राकेश वस्तु को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, हालांकि वे उसके लिए 'मैटर' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो एक अर्थ में अन्तर्वस्तु के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया हुआ लगता है। उनके अनुसार— 'कहानी-शिल्प का विकास लेखक की प्रयोग-बुद्धि पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना उसके मैटर की आन्तरिक अपेक्षा पर।'''यदि शिल्प का चौखटा तैयार करके उसमें मैटर को फिट करने का प्रयत्न किया जाए, तो उससे कुछ भी हासिल नहीं होगा; क्योंकि रचना के नए समर्थ शिल्प का विकास केवल प्रयोग-चेतना से नहीं, नये मैटर के सामने पुराने शिल्प की असमर्थता के कारण होता है।'[2]

विषय और भाषा पर विचार करते हुए रसूल हमजातोव ने बहुत ही महत्वपूर्ण बात बाकायदे एक रूपकीय विस्तार में कही है—

'विषय—यह तो माल-मत्ते से भरा सन्दूक है। शब्द—यह इस सम्पूर्ण की चाबी है। मगर सन्दूक में अपनी दौलत होनी चाहिए, पराई नहीं!' कुछ लेखक एक विषय से दूसरे विषय पर छलांग लगाते रहते हैं, एक की गहराई में भी नहीं उतर पाते। विषय तो मेरा है, मगर सभी इस विषय को ले सकते हैं। मैंने एक लेखक को किसी दूसरे लेखक की इसलिए भला-बुरा कहते सुना था कि उसने उसका विषय 'चुरा' लिया था। वह कह रहा था—'इरचे ग्राजाख' के बारे में लिखने का हक तुम्हें किसने दिया? तुम तो जानते ही हो कि यह मेरा विषय है कि इरचे ग्राजाख के बारे में मैं लिखता हूं। यह तो दिन-दहाड़े चोरी है।' यह लेखक ऐसे आवे से बाहर हुआ जा रहा था, मानो उसी वक्त कोई उसकी प्रेमिका ले उड़ा हो।

उसे जवाब भी ऐसा करारा मिला, जो कोई पहाड़ी ही दे सकता था— 'इमाम वही बन सकता है, जिसकी तलवार में दम हो, जिसकी धार तेज हो। दुल्हन उसकी नहीं होती, जिसने सवाई करने के लिए चिचौलियों को उसके घर

1. 'त्रिज्या': शैलेश मटियानी, पृ० 292-295
2. 'नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : सम्पा० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 97

भेजा हो, बल्कि उसकी होती है, जो उसे अपनी बीवी बना लेता है। सभी अन्य विषयों की भांति इश्क का विषय भी उसी का होगा, जो उसके बारे में बेहतर लिखेगा। हां, विभिन्न लेखक स्वतन्त्र रूप से एक ही विषय पर काम कर सकते हैं। साहित्य में 'सामूहिक फॉर्म' नहीं हो सकता। हर लेखक का अपना खेत, जमीन का अपना टुकड़ा होता है, जो चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो। मगर मैं किसी को इस आधार पर अपने खेत के पास आने से नहीं रोकता कि खुद अपने खण्डों के पास नहीं जाता। मेरी सीमा-रेखा पर आपको न तो कुत्ते नजर आएंगे और न बन्दूक लिये पहरेदार। मगर न सीमा-रेखा है वहां, उसे कैसे निश्चित किया जाए? मेरा विषय न तो निषिद्ध चरागाह है और न मक्षजिव को ऐसी जगह ही, जहां किसी परावे आदमी का पांव नहीं पड़ना चाहिए।'[1]

राजेन्द्र यादव भाषा को चिन्तन-प्रक्रिया से अलग नहीं मानते हैं। उनके लिए भाषा जिन्दगी का पर्याय है। इस दृष्टि से उनका निम्नलिखित उद्धरण महत्त्वपूर्ण है—'भाषा केवल अभिव्यक्ति ही नहीं, चिन्तन-प्रक्रिया भी है। हम शब्दों में ही सोचते और अनुभव करते हैं। भाषा, यानी जिन्दगी खोखली, व्यर्थ बेमानी, फिजूल और बेतुकी हो गई है— इस बात को महसूस भी तो हम सिर्फ भाषा में ही कर पाते हैं। भाषा की अनुपस्थिति में सोचना किस तरह सम्भव होता, मेरे लिए कल्पनातीत है। कथा या साहित्य के सन्दर्भ में भाषा की बात किसी भी कोण और धरातल से शुरू की जाए, वह जिन्दगी और यथार्थ पर ही आकर टिकती है; क्योंकि उसी से हम जिन्दगी को जीते, समझते और अभिव्यक्ति देते हैं, या इनसे बचते हैं।'[2]

राजेन्द्र यादव की ही तरह काशीनाथ सिंह भी भाषा को 'जीवित सावयविक प्रक्रिया' मानते हैं। उनका कथन है कि 'भाषा हमारी तरह एक जीवित सावयव प्रक्रिया है, जिसके भीतर फंसे हुए संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय वगैरह इनायुजाल की तरह हैं। यदि वे वाक्य में आएं तो इनका निजी अर्थ अस्तित्व होना ही चाहिए। उनका फालतू या बेजा इस्तेमाल कुछ वैसा ही अपराध है, जैसा बिना जरूरत के किसी आदमी को कहीं खड़े रहने का हुक्म दें।'[3]

जैनेश मटियानी ने 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' की भूमिका में 'कहानी लिखने का सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, 'वस्तु और भाषा के बीच के अन्तराल को अनुपस्थित करने की यह कला ही रचना में हमारे निमित्त अनुभव की उस अनावित्तता को उजागर कर देती है, जो

1. 'मेरा दाग़िस्तान' : रसूल हमजातोव, पृ० 94-96
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 119
3. 'आदमीनामा' : डॉ० काशीनाथ सिंह, पृ० 11

सिर्फ तभी पकड़ में आती है, जबकि अन्तर्वस्तु और भाषा इस हद तक एकमएक हो जाएं कि पृथकता खत्म हो चुकी हो।'[1] एक अन्य स्थान पर उनका यह कथन है कि 'शब्दों से जब चाहा उड़नखटोला तैयार कर लेना और जब जरूरी लगे, तब बैलगाड़ी के रास्ते ही नहीं, बल्कि उसमें जुते बैलों की किस्म और बैलगाड़ी में बैठे लोगों के हिसाब से भी आवाज कर रहे होने को ऐसे बांध लेना, जैसे कि जाने कब से कब तक बैलगाड़ी लेखक के कानों से सटी-सटी चलती रही हो—कल्पना और यथार्थ, अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष, दोनों को अनुभव के समतोल(तत्सम) भाषा में बांधने की जिजीविषा ही किसी लेखक में उस मोड़ का सूचक होती है, जहां वह एक नयी शुरुआत करता है। वस्तु के वजन का ही शब्द रखने की शुरुआत।'[2]

भाषा के सन्दर्भ में विवेचन करते हुए प्रतीक और बिम्बों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का भी संकेत करते हुए यदियाणी ने कहानी के सन्दर्भ में इस प्रतिमान का निर्माण किया है कि 'किसी भी रचना की अर्थवत्ता एक इस बात में निहित होती है कि वह हमारे भीतर कितनी दूर तक हलचल मचा और कितने-कितने बिम्बों, प्रतीकों और स्मृतियों को जरूरत अनुभव करा सकती है।'[3]

गोविन्द मिश्र ने एक रचनाकार की हैसियत से बहुत सही बात कही है कि कहानी पर बात करते समय भाषा, शैली, फॉर्म आदि को अलग करके नहीं देखा जा सकता। उनके निम्नलिखित दो उद्धरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—'मेरे लिए भाषा, शैली, फॉर्म यह लिखते वक्त अलग-अलग कोई माने नहीं रखता। भाषा की बात मेरे सन्दर्भ में बहुत की जाती है, कुछ उसकी ताजगी को लेकर, कुछ इसको लेकर कि वह शुद्ध नहीं है या उर्दू, अंग्रेजी और हिन्दी सब-कुछ उसमें खिचड़ी है। मैं इस चीज को आलोचकों पर छोड़ता हूं; क्योंकि यह आलोचना में बहुत पुराना ढर्रा हो गया कि आप भाषा की अलग बात करें और शैली तथा फार्म की अलग बात करें और कथ्य की अलग बात करें। भाषा के बारे मेरा यही दृष्टिकोण है कि मेरी अपनी कोई भाषा नहीं है। अगर है तो वह ढर्रा है जो हर लेखक का बन जाता है और उससे मैं बच नहीं सकता। लेकिन मैं चाहता हूं कि उससे भी बचा रहता, वैसे ही जैसे वैचारिक स्तर पर अपने को खुला रखना चाहता हूं। और इसलिए मैं जो परिवेश उठाता हूं, उसमें अपनी भाषा ले जाने के बजाय वहां की भाषा ढूंढ़ता हूं।...तो खुद को मैं खुला रखना चाहता हूं कि भाषा

1. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' (भूमिका) : पृ० 7
2. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' : (भूमिका) पृ० 8-9
3. वही पृ० 19

भी जमीन की आए। उसी जमीन से ताल्लुक है रेणु और कबीर का।'[1]

साहित्य के सन्दर्भ में भाषा पर विचार करते समय गिरिराज किशोर ने भाषा के कुछ स्रोतों का उल्लेख किया है, जिसमें पहला स्रोत सुप्त स्मृति है, दूसरा अनुभव है और तीसरा औपचारिक भाषा का ज्ञान-स्रोत है।[2] उनके अनुसार 'जिस तरह तेल निकालने के लिए पर्त्त-दर-पर्त्त धरती को ड्रिल करना होता है, उसी तरह भाषा की भी पर्त्त-दर-पर्त्त होती है और उन्हें संवेदना के बरमे से निरन्तर उकेरते रहना पड़ता है। यही कारण है कि कई बार लेखक जो भाषा के माध्यम से सामने दिखाता है भाषा की संवेदना उसके पार भी दिखा देती है।'''भाषा में अन्तर्निहित ध्वनि को गहरे जाकर पकड़ना ही भाषा को सिद्ध करना है। भाषा के साथ हमारी आत्मीयता उसकी अर्थवत्ता से होती है, शब्दों या लिपि से नहीं।'[3]

'मनुष्य भाषा से भाषा तक जाता है।'''भाषा से भाषा में आने-जाने का यह सिलसिला तब तक समाप्त नहीं होता, जब तक मनुष्य का जगत् से संवेदना का नाता पूरी तरह टूट नहीं जाता। कई बार तो मौन तक भाषा हो जाती है। भाषा के ग्रहण और स्वीकार की यह प्रक्रिया अपने आप में बड़ी विचित्र और रोचक है। ग्रहण करना, ग्रहण करके संगृहीत करना, संग्रहण के बाद अनुभव के साथ उसका एकाकार होना और पुनः सम्प्रेषण यानी अपनी भाषा में लौटना।'[4] 'भाषा, रचना का बाह्य और आन्तरिक, दोनों ही पक्ष हैं। एक लेखक का जितना गहरा सम्बन्ध संवेदना और अनुभव से होता है, उतना ही भाषा से भी है। यही कारण है कि भाषा के प्रति उसकी ग्रहणशीलता सामान्य व्यक्ति से कहीं ज्यादा होती है।'[5]

'भाषा तक पहुंचने के रचनाकार के स्रोत भी वही हैं, जो सामान्य आदमी के, लेकिन रचनाकार के पास चुम्बकीय बल-क्षेत्र की तरह का ही अपना संवेदना-क्षेत्र है। इस परिधि में आने वाला हर अनुभव इसी क्षेत्र का हिस्सा हो जाता है। संवेदना का यह वृत्त जितना विस्तृत और मजबूत होगा, भाषा में उतनी ही अनुगूंज उत्पन्न होती जायेगी। सच पूछिए तो लिपि और शब्दों की पहचान ही भाषा नहीं होती। अगर वह भाषा हो सकती, तो कचहरी और तहसीलों में फड़ लगाकर बैठने वाले अर्जीनवीस भी लेखक हो सकते। लेखक की भाषा उनकी भाषा से बिलकुल भिन्न है। वह एक जीवित जीवाणु है। जो समय के साथ

---

1. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 17
2. 'लिखने का तर्क' : गिरिराजकिशोर, पृ० 20-21
3. वही, पृ० 23
4. वही, पृ० 18
5. वही, पृ० 18

विकसित होता जाता है। यह लेखक की ही रचनात्मक ऊर्जा है जो भाषा को जीवन्त बनाती है और उसमें निहित भावों को जीवित रख सकने की क्षमता प्रदान करती है।···रचनाकार अपनी भाषा को अपनी आवश्यकता के अनुसार कुम्हार की मिट्टी की तरह हर बार नयी तरह से तैयार करता है। वह स्वयं भी नहीं जानता कि जो भाषा वह अपनी संवेदना के आधार पर तैयार कर रहा है, वह कब तक विकसित होती चली जायेगी।'[1]

कहानी में शिल्प का होना और शिल्प के प्रति सजग होना, ये दोनों भिन्न बातें हैं। हिन्दी के प्रायः सभी रचनाकारों ने शिल्प के प्रति अतिरिक्त सजगता को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना है जबकि कुछ रचनाकारों ने शिल्प के प्रति सचेत सजगता को एक शास्त्रीयता के रूप में स्वीकार किया है। कहानी में अपेक्षणीय और उपेक्षणीय प्रश्नों पर विचार करते हुए जैनेन्द्र ने 'कहानी : अनुभव और शिल्प' पुस्तक में शिल्प के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—'मैं समझता हूं कि शिल्प के प्रति सचेत सजगता भी एक प्रकार की शास्त्रीयता ही है। वह इष्ट नहीं है···मैं कहानी के शिल्प अथवा कि नए-पुराने शिल्प के बारे में बेखबर हूं और रहना चाहता हूं। ज्ञाता होने से मुझे लेखक होने में बाधा पड़ने का भी डर है। ज्ञान सृजन के कर्म में अवसर बाधक हुआ करता है।'[2]

यह पूछने पर कि क्या कहानी शिल्पहीन हो सकती है? जैनेन्द्र ने कहा कि नहीं हो सकती। पर 'क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है, जिसके भीतर वह जटिल यंत्र न हो, जिसे मानव-यष्टि कहते हैं? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे जटिलता का कुछ पता नहीं होता, जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है?'[3]

एक दूसरे वरिष्ठ कहानीकार मार्कण्डेय ने 'हंसा जाई अकेला' की भूमिका में शिल्प-विधान के प्रति अतिरिक्त सजगता को प्रगतिशीलता का विरोधी-जैसा माना है। कुछ-उद्धरण इस प्रकार हैं—

'रूप-विधान और शिल्प के चमत्कार की कचरी ओढ़ने वाले संसार के अधिकांश कलाकारों एवं साहित्यकों की मनोवृत्ति का रहस्य यही है कि आधुनिक मानव की दुरूह एवं अनिश्चित मनोभूमि का धरातल छू पाने में असमर्थ होकर वे चिन्तन के रुख को ही दूसरी ओर मोड़ देना चाहते हैं।'[4]

'नये शिल्प-संयोजन में जिस जीवन-खण्ड को ये लेखक सामने ला रहे थे,

---

1. 'लिखने का तर्क : गिरिराजकिशोर, पृ० 19
2. 'कहानी : अनुभव और शिल्प': जैनेन्द्र, पृ० 58-59
3. वही, पृ० 74
4. 'हंसा जाई अकेला'? (भूमिका) मार्कण्डेय, पृ० 15

उसके सतही आभास का परिचय लोगों को था और 'अहा ग्राम जीवन भी क्या है।' वाली कृपामयी, बौद्धिक सहानुभूति भी उसे नगर जीवन से प्राप्त थी, पर उसके डीटेल में न तो लोगों की पैठ थी, न जानकारी; क्योंकि स्पष्टतः इस सबसे उनका न तो कोई मतलब था, न लाभ।'[1]

मार्कंण्डेय ने वास्तविकता का ग्रहण और शिल्प तथा स्ट्रक्चर की बुनावट को एक साथ संतुलन की स्थिति में रखकर देखने का आग्रह किया है। उनके अनुसार नई कहानी आन्दोलन के रचनाकारों ने शिल्प की तुलना में सहजता को ग्रहण किया। हालांकि तर्क की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सहजता का भी ग्रहण एक प्रकार का शिल्प ही है। वस्तुतः कहानी में कथ्य को सम्प्रेषित करने के लिए जिन युक्तियों का प्रयोग किया जाता है, केवल वही शिल्प नहीं होती है, बल्कि कथ्य जिस रूप में सम्प्रेषित होता है, शिल्प उसकी तकनीक होता है। वह किसी भी प्रकार कथ्य और भाषा के संतुलन से परे जाकर अपने प्रति लोगों का ध्यान जरूरत से ज्यादा खींचने लगता है। वस्तुतः मार्कंण्डेय हिन्दी कहानी में जिस ग्रहणशीलता का संकेत करते हैं, वह ग्रहणशीलता शिल्पविधि से जुड़ी हुई है। उनका उद्धरण है कि 'चेतना के जिस नवीन स्तर पर नए लेखकों ने वास्तविकता को ग्रहण किया है, उसी स्तर के अनुरूप शिल्प तथा 'स्ट्रक्चर' की बुनावट उन्होंने स्वीकार की है। सिर्फ कथावस्तु ही नहीं, वातावरण शब्द और संकेत, सभी से उन्होंने उस नयी वास्तविकता को अलंकृत किया है। कथा का यह सहज, मानवीय रूपान्तर उसे दिनोंदिन जीवन (जैसा वह है) के सहज खण्ड बना देने की ओर है। शिल्पगत संस्कारों के अभाव में कई लोग इसे 'पर्सेप्ट' समझते हैं और अस्वाभाविक परिश्रम-साध्य बुनावट में गहराई देखते हैं।) हिन्दी कहानी में यह नयी ग्रहणशीलता ही नया मोड़ है और जिस लेखक ने जितनी ही सहजता से इसे पकड़ा है, वह उतना ही सफल है।'[2] इस दृष्टि से मार्कंण्डेय की तुलना में अपेक्षाकृत नए कथाकार गोविन्द मिश्र का यह कथन ज्यादा संगत लगता है कि 'कथा का शिल्प हो सकता है और उसको जानने की भी आवश्यकता हो सकती है, किन्तु शरीर-यन्त्र का कितना भी ज्ञान हो, क्या केवल उस भरोसे किसी वैज्ञानिक ने अपने में से शिशु की सृष्टि की है ? शाबद ज्ञान और देखता है सृष्टि-मर्म से संगत ही नहीं है।'[3]

कमलेश्वर का मानना है कि 'नई कहानी' में चूंकि कथ्य और संदृष्टि ही

---

1. वही, पृ० 12-13
2. 'भूदान' (भूमिका) : मार्कंण्डेय, पृ० 14
3. 'सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा' : सम्पा०—सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ० 75

मुख्य है, इसलिए शिल्प और शैली कथ्य और संदृष्टि से ही उद्भूत होते हैं। जैसे 'नई कहानी' में चूंकि कथ्य और उसकी संदृष्टि ही मुख्य है, अतः शिल्प और शैली वहां उसी से उद्भूत होती है।'[1] इसी क्रम में लिखते हुए, उन्होंने शैली और शिल्प के विघटन को नई कहानी के व्यक्तित्व-प्रदान का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। हालांकि यह भी विवाद का विषय है कि क्या पुरानी शैली और शिल्प का विघटन किसी भी प्रकार से शैली और शिल्प का अभाव कहा जा सकता है।

विभिन्न कहानीकारों ने शिल्प और भाषा-सम्बन्धी चिन्तन को अलग करके नहीं देखा है। प्रायः सभी कथाकारों की यह मान्यता रही है कि शिल्प को कहानी में अलग से नहीं दिखना चाहिए। यह अवश्य है कि नये कहानीकारों में पुराने कहानीकारों की तुलना में शिल्प के प्रति एक प्रकार का अनदेखी करने का भाव पाया जाता है। शिल्प की तुलना में वे वास्तविकता पर अधिक बल देते हैं। यद्यपि वास्तविकता भी शिल्प के बगैर सम्प्रेषित नहीं हो सकती है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण अन्तर अवश्य है। सातवें दशक के बाद के कहानीकारों ने कहानी के बारे में बहुत ज्यादा नहीं लिखा है, लेकिन उनकी कहानियों में शिल्प के प्रति सजगता अवश्य है। ज्ञानरंजन, दूधनाथ, रवीन्द्र कालिया, उदयप्रकाश इसके प्रमाण माने जा सकते हैं। 'हंस' के अगस्त-सितम्बर 1992 अंक में उदयप्रकाश की लम्बी कहानी 'और अन्त में प्रार्थना' शिल्प के प्रति इस अतिरिक्त सजगता का प्रमाण है।

कहानी की वस्तु शिल्प और भाषा से अलग नहीं हो सकती। कहानीकार संवेदना को रूपायित करने और सम्प्रेषित करने के क्रम में कुछ युक्तियों का प्रयोग करता है और ये युक्तियां संवेदनासापेक्ष ही हो सकती है। क्या 'बनाना' है, और किस रूप में, इस पर ही माध्यमों का चुनाव निर्भर है। किसी भी माध्यम में 'युक्तियां' ही शिल्प, या स्थापत्य, को जाकार देती हैं। संरचना में भी युक्तियों का प्रयोग होता है। आत्मकथ्यपरक हों, अन्यपरक या कि वस्तुपरक, अभिव्यक्ति की शैलियां एक प्रकार की युक्तियां ही हैं, जो कि 'संरचना' से जुड़ी है। संरचना हर स्तर पर, क्रमिकता से सम्बद्ध होती है, जिसे तार्किक क्रमबद्धता या क्रमान्विति भी कहा जा सकता है। चूंकि यह सब-कुछ भाषा से और भाषा में ही होना है, इसलिए भाषा संवेदना के रूपग्रहण से लेकर सम्प्रेषण तक अनेक स्तरीय होती जाती है। इसे उसके 'प्रवाह' की क्रमिकता भी कहा जा सकता है। शब्दों और वाक्यों की सन्निधि में दृष्टि और संवेदना के दबाव शिल्प और संरचना के माध्यम से भाषा में ही सम्भव होते हैं। कहानी की घटनात्मक क्रमिकता में जब संवेदनद्योतक तत्त्व जुड़ते हैं, तभी वह कथानक या 'प्लॉट'

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 194

कहलाता है, इसलिए कथानक एक स्तर पर घटनाओं या कि घटित का संपुंजन या संकेन्द्रन बन जाता है।

(ग) संरचना

सृजनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में संरचना का अर्थ रूपाकार ही होता है। हालांकि विभिन्न शास्त्रों के हिसाब से संरचना का अर्थ बदलता रहता है, लेकिन हर शास्त्र में संसर्गता महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' में संरचना के लिए 'संसर्ग' शब्द का प्रयोग किया है। किसी भी कलाकृति में, और कहानी भी एक कलाकृति है, सुसम्बद्धता को घटनाओं की क्रमिकता से संरचना कहा जाता है। हिन्दी कहानी पर ध्यान देने से यह स्पष्ट पता चलता है कि प्रेमचन्द तक हिन्दी कहानी में घटना की क्रमिकता ही संरचना का पर्याय है। प्रेमचन्द का कथानक काल के प्रवाह में जिस क्रम से आगे बढ़ता है, समान और विरोधी स्थितियों के होते भी वह बना रहता है। प्रेमचन्द के बाद अज्ञेय-जैनेन्द्र की कहानियों में काल की अवधारणा के बदलाव के कारण संरचना की परिभाषा भी बदल जाती है। उसका अर्थ घटना की क्रमिकता, या कथन-क्रमिकता, से न होकर अनुभूति के सम्प्रेषण से जुड़ जाता है।

अज्ञेय ने एक बातचीत में हिस्सा लेते हुए फॉर्म या संरचना के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है, 'हमारे लिए फॉर्म की बात ज्यादा महत्त्व की नहीं थी; क्योंकि हमारे समय में कहानी लिखने वाले या कहानी कहने वाले में और समाज के बीच में न इतनी घुटन थी, न इतना तीखा अनुभव था। सम्प्रेषण की समस्याएं आज ज्यादा तीखी दिखाई देती हैं। आज फॉर्म की चिन्ता ज्यादा होती है।' अज्ञेय के इस कथन से यह बात स्पष्ट निकलती है कि सम्प्रेषणीयता और संरचना का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। सम्प्रेषण की जटिलता सामाजिक जीवन की घुटन और अनुभूति की तीव्रता फॉर्म के प्रति अधिक सजग करती है। अज्ञेय की यह स्थापना अज्ञेय के बाद के कहानीकारों की कहानियों के मूल्यांकन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि कमलेश्वर अज्ञेय के ठीक विपरीत यह मानते हैं कि प्रगतिवादी कहानी और रूपबन्ध के बिखराव का गहरा रिश्ता है। उन्होंने लिखा है कि 'रूपबन्ध का बिखराव असल में तथाकथित प्रगतिवादी कहानी से शुरू हुआ। कहानी का फॉर्म कथ्य की व्याप्ति के लिए स्वीकृत नहीं हुआ, बल्कि कथ्य के पुनर्वास के लिए बिखर गया। कथ्य से शैली-शिल्प की उद्भावना नहीं हुई, वहां

1. 'दस्तावेज' (अक्टूबर 1985) : सम्पा०—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 39

कथ्य को जामा पहनाया गया और सिर्फ इस नजर से कि वह नंगा न रहने पाए।'[1] चेखोव ने एक स्थान पर कहानी की संरचना के बारे में यह कहा है कि 'अगर कमरे में बन्दूक टंगी है, तो उसमें से गोली अवश्य निकलनी चाहिए।' अज्ञेय का कथन है कि कहानी में जोड़ नहीं होना चाहिए; नहीं दिखना चाहिए। उसकी संरचना में इतनी सघनता होनी चाहिए कि वह एक इकाई लगे।'[2] राजेन्द्र यादव का दृष्टिकोण फार्म के सम्बन्ध में दूसरे प्रकार का है। वे रूपबंध या संरचना के प्रति अतिरिक्त सजगता से बचना चाहते हैं। एक लम्बी बहस में हिस्सा लेते हुए (अज्ञेय से) उनका यह मानना है कि—'जब हम तकनीकों या फॉर्म का ग्रहण शुरू कर देते हैं, तब फॉर्म हमारे लिए अलग-सी ऐसी अ.इडेन्टिटी होती है, जिस पर विचार करने की जरूरत होती है। एक स्वाभाविक सिस्टम में आने के बाद शायद फॉर्म पर उतनी बात करना सम्भव नहीं होगा, ऐसा आपको नहीं लगता? एक चीज तो तय है कि जिसे आप फॉर्म कहते हैं वह उसके लिए प्रायास अर्जित करने की चीज नहीं रही। मेरे कहने का मतलब यह था कि फॉर्म आपके समय में शायद ज्यादा बड़े कंसर्न की चीज थी। हम तक आते-आते या इन तक आते-आते हमें इतने संस्कार मिल गये थे, चाहे परिवेशगत संस्कार कहिए या परम्परागत संस्कार कहिए; वह हमारे लिए ज्यादा अलग से सोचने या चिन्तन करने की चीज न रहकर—हम उसके माध्यम से क्या कहना चाहते हैं यह ज्यादा बड़ी चीज हो गई।'[3] शैलेश मटियानी रूप को वस्तु से अलग करके देखने से सहमत नहीं हैं। उनका यह स्पष्ट कथन है कि 'रूप तथा अन्तर्वस्तु का गहरा विवेक ही किसी वस्तु को सही स्वरूप दे सकता है। कहानी की विधा में भी वस्तु और रूप के सवाल को इसी तर्क से देखना होगा।'[4] इस सम्बन्ध में उन्होंने 'वर्त्तमान साहित्य', सितम्बर 81, में भी इस प्रश्न पर विचार करते हुए रूप और वस्तु की एकात्मकता की बात की है।[5]

रघुवीर सहाय के 'जो आदमी हम बना रहे हैं' में 'कहानी-कला' नाम से एक कहानी है। इस कहानी में रघुवीर सहाय ने नये विकसित हुए मानव सम्बन्ध की तलाश को कहानी का प्रमुख गुण माना है और कला की दृष्टि से घटनाओं के

---

1. नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 190
2. 'दस्तावेज' (अक्टूबर 1985) : सम्पादक—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 32
3. 'दस्तावेज' (अक्टूबर 1985) सम्पा०—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 39
4. प्रकाश्य लेख 'कहानी कैसे बनती है?'
5. 'वर्तमान साहित्य' (सितम्बर 1991) : सं० से० रा० यात्री; विभूति नारायण राय

प्रवाह को उस मानव-सम्बन्ध की अभिव्यक्ति का माध्यम-पात्र माना है। गिरिराज किशोर एक रचनाकार के नाते फार्म, कन्टेन्ट और संवेदना के संघर्ष की जटिलता को स्वीकार करते हैं और यह कहते हैं कि—'राजेन्द्र यादव की कहानी 'ढोल' फार्म की कहानी है।' राजेन्द्र यादव का कहना है कि 'वह 'फॉर्म की कहानी नहीं, फॉर्म के तलाश की कहानी हैं।'[1]

राजेन्द्र यादव और गिरिराज किशोर के इन कथनों के मूल में छिपी भावना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये रचनाकार भी यह मानते हैं कि रचनाकार की कुछ कहानियां ऐसी होती हैं, जिसमें वह कथ्य के अनुकूल 'फॉर्म' की तलाश करता है और कुछ कहानियां ऐसी होती हैं, जिनको पढ़ने से पता चलता है कि लेखक ने सम्बद्ध कथ्य के अनुकूल 'फॉर्म' को प्राप्त कर लिया है। एक अर्थ में 'फॉर्म' कहने की कला से जुड़ा होता है। 'कही जाती हुई कहानी' और 'लिखी गई कहानी' से 'फॉर्म' की दृष्टि से अन्तर पड़ता है। कुछ आलोचकों का यह विचार है कि 'कही जाती हुई कहानी' के लिए 'फॉर्म' शब्द का प्रयोग होता है और 'लिखी गई कहानी' के लिए संरचना (स्ट्रक्चर) शब्द का। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि हिन्दी के नये और पुराने कहानीकारों ने भी कहानी की संरचना पर अलग से विचार नहीं किया है। एक अर्थ में सभी कहानीकार समग्रतावादी हैं; क्योंकि संरचना पर विचार करते समय वे वस्तु, शिल्प, भाषा, संवेदना आदि पर भी विचार करते हैं। उन्हें यह लगता है कि कहानी में एक-दूसरे को अलग करके नहीं देखा जा सकता। जबकि पाश्चात्य कथाकार या आलोचक कहानी की संरचना पर अधिक जोर देते हैं। पाश्चात्य आलोचना में कथा-संरचना (नैरेटिव स्ट्रक्चर) शब्द का प्रायः प्रयोग हुआ है। हिन्दी में कहानीकारों के कथा-चिन्तन में यह शब्द बहुत कम मिला है। जहां तक मैंने रचनाकारों के कथा-चिन्तन का अध्ययन किया है, कहानी-संकलनों की भूमिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं में छपी बातचीत और कथाकारों के द्वारा कहानी पर लिखी स्वतन्त्र पुस्तकों के अध्ययन से इसी निष्कर्ष पर पहुंची हूं कि कथाकारों ने संरचना के सवाल पर कम विचार किया है और जो थोड़ा-बहुत किया भी है, वह कहानी की संरचनात्मक इकाई की दृष्टि से किया है।

---

1. 'दस्तावेज' (अक्टूबर 1985) सम्पा०—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 41

अध्याय : तृतीय

कहानीकारों का कथा-चिन्तन और कथा-साहित्य

कहानीकारों का कथा-चिन्तन उनके समय तक विकसित हिन्दी कहानी के साथ-साथ अंग्रेजी, बंगला और अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त रूसी, फ्रांसीसी आदि विदेशी कहानीकारों के कथा-चिन्तन से प्रभावित रहा है। प्रारम्भिक कहानियों से लेकर आज तक हिन्दी कहानी का विकास कहानी के शिल्प, संरचना, भाषा, सम्प्रेषणीयता आदि के विषय में बदलती धारणाओं का भी इतिहास है और अपने अनुभव को नये सिरे से परिभाषित करने का प्रयत्न भी। हर नई कहानी अपने नयेपन के तर्क से पुराने को भी अपनी रोशनी से प्रदीपित कर देती है। प्रेमचन्द ने कहानी पर तीन बार लिखा और तीनों बार वे कुछ भिन्न बात कहते हैं।

'कहानी कला' शीर्षक अपने तीन लेखों में प्रेमचन्द हर बार अपनी कहानी सम्बन्धी धारणा में विस्तार करते हैं। 'कहानी कला (1)' में वो कहते हैं— 'हमें भी आदर्श की ही मर्यादा का पालन करना चाहिए। हां, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिये कि सत्य से दूर न जाना पड़े।'[1] फिर कहानी कला'(2) में वो कहते हैं, 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है।[2]'...इसके बाद 'कहानी कला' (3) में उनका कहना है कि—'हम हर विषय की भांति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्त्तमान उपन्यास या गल्प का खास अंग है।'[3]

प्रेमचन्द को अपनी कहानी सम्बन्धी धारणा में बार-बार परिवर्तन इसी से करना पड़ता है; क्योंकि हर बार उनकी कहानियां उनके कहे हुए को या नकार

1. 'साहित्य का उद्देश्य' : प्रेमचन्द, पृ० 45
2. वही, पृ० 51
3. वही, पृ० 55

देती हैं या फिर उसमें कुछ नया जोड़ देती हैं। कथाकारों के सिद्धान्तों और कहानियों के इस समीक्षीकरण से रचनात्मकता और प्रतिमानीकरण के विचित्र रिश्तों की पहचान मिलती है। कभी लगता है कि कथाकार अपनी स्थापनाओं से अपनी कहानियों की औचित्यपरकता सिद्ध करना चाहता है और कभी लगता है कि वह पूरे कथा-विकास को परिभाषित करना चाहता है।

हिन्दी कहानी के आरम्भ में कहानी के बारे में पाया जाने वाला चिन्तन बहुत ही कम है। प्रेमचन्द से पूर्व कहानीकारों की कहानी-सम्बन्धी अवधारणा उनके द्वारा लिखी गई कहानियों से बनाई जा सकती है, लेकिन कहानीकारों ने कहानी विधा के बारे में विस्तार से विचार किया हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता है। नैतिक उद्देश्यता और मनोरंजन के व्यापक साहित्यिक दायरे में हिन्दी कहानी भी विकसित हुई, परन्तु घटना और चरित्र का अन्तर प्रारम्भ से कहानीकारों को स्पष्ट है। शिल्प के प्रति एक आश्चर्यजनक सजगता 'ग्यारह वर्ष का समय,' 'इन्दुमती,' 'दुलाईवाली' और 'एक टोकरी भर मिट्टी' में मिलती है।

हिन्दी के कहानीकारों के उनके कथा चिंतन के आलोक में मूल्यांकन के लिये हमें मुख्यतः उन्हीं कहानीकारों पर निर्भरता रखनी होगी, जिन्होंने सिर्फ कहानियां ही नहीं लिखीं, बल्कि कहानी सम्बन्धी विधागत तथा वस्तुगत चिन्तन भी जरूरी समझा, लेकिन इतना अवश्य है कि इन कहानीकारों के कथा चिंतन की रोशनी में दूसरे कहानीकारों की कहानियों को भी देखा जा सकता है और यह आलोचकों के अनुसार देखने से भिन्न होगा। यही हिन्दी के कहानीकारों के कथा चिन्तन की प्रासंगिकता भी मानी जा सकती है कि इससे कहानियों को स्वयं कहानीकारों के तर्कों से देखा जा सके।

किशोरीलाल गोस्वामी : (सन् 1865-1932)

हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में पाठकीय अभिरुचि जगाने का कार्य देवकीनन्दन खत्री की ही भांति किशोरीलाल गोस्वामी ने भी किया। ये हिन्दी साहित्य के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार थे। हिन्दी की पहली मौलिक कहानी कही जाने वाली 'इन्दुमती' किशोरीलाल गोस्वामी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित कहानी है। 'इन्दुमती' मात्र एक प्रेमकथा ही नहीं है।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी का रचनाकाल सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उथल-पुथल का काल था। सदियों से पराक्षीण भारत के नागरिकों में देश-प्रेम तथा भारतीयता की भावना सिर उठा रही थी। इस दौर के प्रायः सभी रचनाकारों ने (जिन्हें भारतेन्दु मण्डल के नाम से जाना जाता है) भारतीय

जनमानस के इसी ऊहा-पोह को चित्रित किया है। यह मात्र संयोग नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों तथा बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों का स्वर प्रायः वही है, जो 'इन्दुमती' में दिखाई देता है। 'इन्दुमती' की मूल संवेदना केवल प्रेम से सम्बद्ध नहीं है, वरन् जिस रूप में इन्दुमती का पिता नायक राजकुमार चन्द्रशेखर की परीक्षा लेता है, अन्त तक उसको परखता है, वह इस बात की ओर इंगित करता है कि नायक की ही भांति भारतीयों में भी देशप्रेम की अटूट भावना (प्राणों का उत्सर्ग करके भी) होनी चाहिए। नायिका के प्रति नायक के उत्कट प्रेम के माध्यम से लेखक ने भारतवासियों में भी अपने देश के प्रति त्याग व प्रेम की भावना को जाग्रत करना चाहा है।

सोलहवीं शताब्दी की ऐतिहासिक घटना पर आश्रित कल्पना से गढ़ी गई 'इन्दुमती' कहानी पाठक के हृदय में उत्सुकता व रोचकता उत्पन्न करने में पर्याप्त सक्षम है। लेखक का कहानी के बीच-बीच में उपस्थित होकर पाठकों को सम्बोधित करना कहानी की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है। सम, तैंने, सन्ध्या, मई, जोहार, अधीनताई, सेवकाई, काटेगा, पड़ेगा आदि का प्रयोग भी कहानी में भाषा की अपरिपक्वता की तरफ संकेत करता है।

किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी कथा-साहित्य के पुरखों में से हैं, परन्तु जहां एक ओर उनका दृष्टिकोण मानव-जीवन को सार्थक और नैतिक बनाने का है, वहीं दूसरी ओर भाषा को क्षेत्रीय प्रयोगों के स्तर पर अधिक विश्वसनीय बनाने का। इसीलिये वे ब्रजभाषा के क्रियापदों का प्रयोग भी पात्रों की स्वाभाविकता और कथ्य की विश्वसनीयता के लिए करते हैं, जो हिन्दी के आंचलिक कहानीकारों की प्रमुख विशेषता रही है। देश-प्रेम की पुनर्जागरण कालीन दृष्टि उनकी कहानियों में मिलती है, लेकिन यह दृष्टि उस युग की दृष्टि से भाषिक यथार्थ के सन्दर्भ में प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद की पूर्व-परम्परा का आभास देती है और इस दृष्टि से इसका एक अपना महत्त्व है।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

'गुलेरी' जी ने कुल तीन कहानियां—'सुखमय जीवन', ('भारतमित्र' 1911), 'बुद्धू का कांटा' (1911 से 1915 के बीच) और 'उसने कहा था' ('सरस्वती' अक्टूबर) लिखकर हिन्दी-कहानी-साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान बना लिया। इन तीनों कहानियों में शुरू की दो कहानियों का तो ऐतिहासिक दृष्टि से ही अधिक महत्त्व है और इसी रूप में वो याद भी की जाती हैं, किन्तु

तीसरी और अन्तिम कहानी 'उसने कहा था' उनकी क्लासिकल कहानी है।

'उसने कहा था' को न केवल हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी माना जाता है, बल्कि अपने शिल्प की चमत्कारपूर्ण विशिष्टताओं के कारण कालजयी कहानी भी माना जाता है और प्रकाशन-काल से लेकर आज तक हिन्दी का शायद ही कोई कहानी-संकलन हो, जिसमें इस कहानी को सम्मिलित न किया गया हो। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की भी किसी अकेली कहानी को सम्भवतः इतना महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ।'[1] 'भारतीय साहित्य कोश' में भी इस कहानी को हिन्दी-कहानी-साहित्य की एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया है,—'उसने कहा था' को गणना हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में की जाती है। प्रतिपाद्य विषय तथा रचना-शिल्प की दृष्टि से यह एक अनूठी रचना है तथा हिन्दी कहानी के क्षेत्र में इसे मील का पत्थर माना जाता है।'[2]

यद्यपि 'सुखमय जीवन,' 'बुद्धू का कांटा' और 'उसने कहा था,' ये तीनों ही कहानियां प्रेम-कहानियां हैं, जो ध्यान से देखें तो प्रेम के काल्पनिक रूप की कहानियां हैं और संयोगों तथा आकस्मिकता पर टिकी हुई है। लेकिन शुद्ध संयोग पर आधारित 'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का कांटा' कहानियों में वर्णित प्रेम तथा उनकी परिणति की प्रक्रिया 'उसने कहा था' की अपेक्षा सरल तथा सीधी-सादी है। साथ ही प्रारम्भिक दोनों कहानियां अपने कलेवर में सुखान्त हैं, जबकि 'उसने कहा था' 'कहानी का अन्त सुखमय जीवन में नहीं होता, बल्कि तथाकथित प्रेमिका के लिए प्राणोत्सर्ग की वारदी में होता है। यह कहानी उन दो कहानियों की अपेक्षा शुद्ध रोमांटिक रेखों से बुनी गई है—जिसमें 'मिलन' की अपेक्षा 'वियोग' तथा प्राणोत्सर्ग का विशेष महत्त्व है।'[3]

'उसने कहा था' कहानी के 'नायक लहना सिंह' के बलिदान से हृदय में केवल आदर्श का भाव ही नहीं उपजता, अपितु एक-साथ अनेकानेक भावों की सृष्टि होती है। रामदरश मिश्र इस कहानी के अन्त पर अपनी टिप्पणी इन शब्दों में व्यक्त करते हुए कहते हैं—'इसका अन्त बलिदान के रूप में आदर्शवादिता छिपाए हुए भी एक इकहरा सुखद चित्र विश्रांतिमूलक प्रभाव छोड़ने के स्थान पर एक संक्रान्त प्रभाव छोड़ता है, जिसमें सुख के साथ-साथ एक घना अवसाद भी है, जिसमें व्यक्तित्व की ऊर्जा, विनोदप्रियता के साथ-साथ उसकी करुण नियति का दर्द भी है।'[4]

---

1. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह, पृ० 11
2. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा० डॉ० नरेन्द्र, पृ० 350
3. 'आज की कहानी' : विजय मोहन सिंह, पृ० 12
4. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग परिचय' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 6

'उसने कहा था' कहानी में प्रेम और विश्वास अपनी पूरी गरिमा के साथ सन्निहित हैं। यदि 'प्रेम' लहनासिंह के लिए महत्व रखता है, तो दृढ़ विश्वास सूबेदारनी के हिस्से की सम्पदा है, यही वह विश्वास है, जिसके भरोसे वह लहना सिंह से कभी स्वयं के बचाए जाने का हवाला देकर अपने पति व पुत्र की रक्षा की प्रार्थना करती हुई कहती है—'ऐसे ही इन दोनों को बचाना, यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूं।'[1] इसी संदर्भ में राजेन्द्र यादव का कथन भी द्रष्टव्य है—अभी तक 'उसने कहा था' को लहनासिंह के ही प्रेम और बलिदान की कहानी के रूप में देखा जाता रहा है।...लेकिन मैं इसे सूबेदारनी के उदात्त-गम्भीर प्यार और अडिग विश्वास की कहानी के रूप में देखता हूं। इसी आधार पर उसका नामकरण भी हुआ है। सूबेदारनी ने सम्पूर्ण कहानी में अपने संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त केवल दो सार्थक वाक्य बोले हैं—'तेरी कुड़माई हो गई?' के जवाब में—'देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू?' और फिर पचीस वर्ष बाद, औपचारिक बातों के साथ, 'ऐसे ही इन दोनों को बचाना।' और ये दो वाक्य ही लहनासिंह की आत्मा में खुद जाते हैं—उसकी सारी जीवनक्षारा को मोड़ देते हैं। पत्नी और मां की भारतीय मर्यादा के बीच प्यार की यह सरस्वती कितनी गहराई में सूबेदारनी के मन में बहती रही होगी, जिसकी निष्ठा से उसने निस्संकोच लहनासिंह से उसका जीवन मांग लिया है। लहनासिंह के बलिदान को रेखांकित करके लेखक उसी निष्ठा को सांकेतिक ढंग से उजागर करता है।...उसके अपरूप के प्यार और विश्वास ने ही लहनासिंह को एक अपराजेय गरिमा दे दी।'[2]

जिस प्रकार इस कहानी को लहनासिंह के ही प्रेम और बलिदान की कहानी के रूप में देखे जाने पर राजेन्द्र यादव को आपत्ति है उसी प्रकार, उनके द्वारा केवल सूबेदारनी के उदात्त-गम्भीर प्यार और अडिग विश्वास की कहानी के रूप में देखा जाना भी इस कहानी के साथ पूर्णरूप से न्यायोचित नहीं है बल्कि वास्तविकता इन दोनों को साथ लेकर चलने में है। अर्थात् 'उसने कहा था' कहानी लहनासिंह के प्रेम और बलिदान एवं सूबेदारनी के अटूट विश्वास दोनों के संयुक्त रूप का लिखण है। लहनासिंह के प्रेम और बलिदान व सूबेदारनी के अटूट विश्वास को एक-दूसरे की सापेक्षता में ही देखा जाना चाहिए।

कहानी की संरचना में युद्ध और प्रेम का अपूर्व संगम द्रष्टव्य है। युद्ध-जैसे भीषण विषय के साथ उसमें प्रेम-जैसा कोमल भाव कितने सहज रूप में बुंधा हुआ है, उसके लिए 'गुलेरी' जी की कथा-शैली की दाद देनी पड़ती है। 'लड़ाई की क्रूर और गतिमय पृष्ठभूमि में इस नाजुक-सी प्रेम-कहानी की गम्भीरता और श्री

1. 'हिन्दी कहानियां' : सम्पा०—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० 87
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 23-24

निखर उठती है (इस टेकनीक का प्रयोग हेमिंग्वे ने अपनी कहानियों और विशेषकर 'फेयर वैल-टू आर्म्स' उपन्यास में बड़े कलात्मक कौशल से किया है)।'[1] जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भी युद्ध और प्रेम का यह समन्वय बड़े कलात्मक सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत हुआ है।

'उसने कहा था' कहानी पांच हिस्सों में लिखी गई है, जो दृश्य-विधान के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। इसका पांचवां और अन्तिम भाग लहनासिंह की मरणावस्था के स्मृति-चित्रों से सम्बन्धित है और इसी के माध्यम से पहले भाग का (जो कि बालक-बालिका के संक्षिप्त परिचय से सम्बन्धित है) दूसरे, तीसरे और चौथे भागों (जो कि युद्ध क्षेत्र और युद्ध जीवन से सम्बन्धित हैं) से सम्बन्ध समझ में आता है। पांचवें भाग में वर्णित लहनासिंह की मरणावस्था के स्मृति-चित्रों के माध्यम से ही पाठक कहानी के विभिन्न प्रसंगों और सन्दर्भों के बिखरे सूत्रों को जोड़ने में सफल हो पाता है और तभी कहानी की मूल संवेदना से भी उसका साक्षात्कार होता है।

'मरणासन्न लहनासिंह का पहला स्मृति-चित्र कहानी के पहले भाग का है···जिसमें बारह वर्ष के लड़के का आठ वर्ष की लड़की से परिचय होने, मजाक करने और(सम्भावना के विरुद्ध 'देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू' सुनकर) आघात लगने से बिलकुल होने की स्थिति को पूर्वदीप्ति के रूप में उकेरा गया है। दूसरा स्मृति चित्र है, पच्चीस वर्ष-बाद उसी बालसखी से अचानक सूबेदार की पत्नी व जवान बेटे की मां रूप में मुलाकात का—('मुझे पहचाना···अमृतसर में।') तीसरा स्मृति-चित्र है—मागने का। वोधासिंह की बीमारी में सर्दी से बचाने के लिए लहनासिंह का अपने कम्बल और जर्सी का उढ़ाना, जर्मन दुश्मनों के कुचक्रों से बचाकर हजारासिंह की प्राण-रक्षा करना, सूबेदारनी को सन्देश भेजना कि—'कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था, वह मैंने कर दिया।'[2] आदि का मर्म अन्त में इन्हीं स्मृति-चित्रों की सहायता से उद्घाटित होता है।

'उसने कहा था।' कहानी में पहली बार 'फ्लैशबैक' टेकनीक अथवा 'पूर्वदीप्ति शैली' का अत्यन्त सार्थक, कलात्मक एवं रचनात्मक उपयोग किया गया है। पूर्वदीप्ति शैली के अन्तर्गत लेखक ने जिन स्मृति-चित्रों की संयोजना की है, उसके सम्बन्ध में डॉ० विजयमोहन सिंह का विचार है—'पूर्वदीप्ति की यह स्मृति 'प्रलाप' के रूप में चलती है, पर इस 'प्रलाप' की अपनी अर्थवत्ता है। मूर्च्छा की स्थिति में मस्तिष्क के अतीत में जाने का औचित्य भी स्पष्ट करता हुआ कहानीकार कहता है—'मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएं

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 23
2. 'हिन्दी कहानियां' : सम्पा०—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० 85

एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।' समय पारदर्शी हो जाता है और अतीत स्पष्ट। कहानी में सचमुच अतीत जिस तरह खुलता है। उसमें समय भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विभाजित न होकर, मानो एक प्रवाह बन जाता है। लहनासिंह की मृत्यु एक नया अर्थ ले लेती है, जिसमें देश-प्रेम 'और 'प्रेम' एकाकार हो जाते हैं।'[1]

त्याग और बलिदान की भारतीय परम्परा से युक्त इस कहानी में प्रयुक्त 'आकस्मिक संयोग' एवं 'सांकेतिकता' के निर्वाह पर राजेन्द्र यादव की टिप्पणी है—'पच्चीस वर्षों बाद अमृतसर की गलियों में खेलने वाली लड़की अचानक सूबेदार की पत्नी के रूप में मिले, इस 'आकस्मिक संयोग' को छोड़कर कहानी में अमृतसर और लड़ाई के मैदानों का वातावरण अत्यन्त सजीव है। जिस सांकेतिक ढंग से इसे बुना गया है, वह कहानी को प्रौढ़ स्तर पर ही प्राप्त होती है।'[2]

मूल कहानी में लड़ाई के मैदान में सिख सिपाही एक गीत गाते हैं (जिसमें कि कांगड़ी आंचलिकता का पुट है और कहानी को पूरी संवेदना से इस गीत की अनिवार्यता सम्बद्ध है, क्योंकि इस गीत के माध्यम से ही युद्ध-जैसे कठोर और नीरस वातावरण में वो सैनिक हल्का-फुल्का मनोरंजन व ताजगी प्राप्त करते हैं। जिसे बाद में अश्लील मानकर निकाल दिया गया।' सामान्यतः 'उसने कहा था' में ऐसे उद्धरणों के अतिरिक्त प्रेम की ऐन्द्रिकता अपेक्षाकृत कम है, वह अधिक 'प्लेटोनिक' प्रेम कहानी है, जबकि 'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्ध का कांटा' में गुलेरी जी ने प्रेम की मांसलता को भी चित्रित किया है।....'उसने कहा था' की असली उपलब्धि शिल्पगत है। शिल्प की दृष्टि से निश्चित रूप से यह कहानी हिन्दी कहानी के उस युग में एक आविष्कार है।'[3] अपने निर्वाण में यह कहानी आज भी ताजगी लिए हुए है, सम्भवतः इसीलिए इसे कालजयी कहानी की संज्ञा दी गई है, 'और हिन्दी कहानी में इतने मोड़ों, इतने प्रयोगों, इतनी यथार्थवादी सचेतता आने के बावजूद वह अपनी जगह अपनी ऊंचाई के साथ खड़ी है।'[4]

डॉ० रामदरश मिश्र आदर्श एवं यथार्थ से सम्पृक्त इस कहानी की विशिष्टता का श्रेय भाषा, परिवेश एवं चेतना के ऐक्य को देते हुए लिखते हैं—'उसकी विशेषता यह है कि वह आदर्श के एक बिन्दु से परिचालित होकर भी यथार्थ के एक व्यापक विस्तार में फैली है और यथार्थ का विस्तार अपने महत्व में छोटा नहीं

---

1. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह, पृ० 15
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 23
3. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह पृ० 13
4. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 6

हुआ है। बल्कि यों कहा जाए कि कहानी की चेतना को जीवन्त परिवेश मिला है और चेतना तथा परिवेश दोनों अपरिहार्य भाव से जुड़े हुए हैं, जिससे कहानी इतनी सशक्त हो उठी है, इस कहानी की यात्रा अपने को महत्वपूर्ण बनाती हुई अपने बिन्दु (जिसे महत्वपूर्ण या आदर्श कहा गया है) तक पहुंची है। कथा की इस समूची बुनावट की कहानी की जीवन्त भाषा रूपायित करती चलती है। रचना के धरातल पर भाषा, परिवेश और चेतना की एकरूपता ही इस कहानी को इतनी शक्ति देती है। ···अमृतसर की सड़कें, गलियां, युद्धस्थल की भयानक, विषम और जीवन्त स्थितियां, स्थान तथा प्रसंग अपने विविध रूपों में कहानी की संवेदना को रूपायित करते चलते हैं।'[1]

'उसने कहा था' कहानी तत्कालीन युग-संवेदना से हमारा परिचय कराती है। 1914 में प्रारम्भ हुए प्रथम विश्वयुद्ध को पृष्ठभूमि के रूप में लिखी गई यह कहानी मुख्य रूप से लहनासिंह की होकर भी उस युग के व्यापक जीवन-बोध को भी मुखरित करती है। जिस प्रकार हिन्दी की आंचलिक रचनाओं के क्षेत्र में रेणु के 'मैला आंचल' का महत्व असंदिग्ध है, उसी प्रकार हिन्दी की प्रारम्भिक आधुनिक कहानियों की श्रेणी में गुलेरी जी की 'उसने कहा था' को रखा जा सकता है। इस कहानी की श्रेष्ठता व मौलिकता को लेकर कहीं कोई विवाद नहीं है, सभी एक स्वर से इसकी प्रशंसा करते हैं—विजयमोहन सिंह के शब्दों में—'उसने कहा था।' कहानी में हिन्दी में दशकों बाद आने वाली अनेक प्राविधिक प्रवृत्तियों के स्रोत ढूंढे जा सकते हैं। उसकी यह महत्ता उसे केवल ऐतिहासिक थाती के रूप में ही सीमित नहीं रहने देती, बल्कि हिन्दी कहानी के लिए एक बड़ी चुनौती बना देती है। कहानी में एक साथ आंचलिकता, रोमांटिक भावबोध यथार्थपरक वर्णन, पूर्वदीप्ति शिल्प, महायुद्ध का परिवेश, अद्भुत गतिशील शैली तथा क्रियाशील संवादों की शुरुआत करने वाली यह कहानी आज भी अनुसंधानीय बनी हुई है।'[2]

राजेन्द्र यादव का मानना है कि 'वातावरण की सजीवता कहानी की लाक्षणिक भंगिमा, फ्लैश बैक (या पूर्वदीप्ति) की यह शैली, और कथा-शिल्प का यह संयम 'उसने कहा था' के बाद दसियों वर्ष अनछुए पड़े रहे और हिन्दी कहानी को उस धरातल के साथ अपने को जोड़ने के लिए लम्बी राह देखनी पड़ती।'[3] 'प्रसाद का कथा-साहित्य' नामक पुस्तक में भी इस कहानी के प्रकाशन को हिन्दी कहानी साहित्य की एक महत्वपूर्ण घटना माना है, क्योंकि 'इसमें पहली बार युग की संवेदनात्मक पूर्णता और कथा शिल्प का सर्वथा नया रूप उपलब्ध हुआ, जिसने पूरे

1. 'हिन्दी कहानी : अन्तरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र पृ० 6
2. 'आज की कहानी' : विजयमोहन सिंह, पृ० 15
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 24

हिन्दी कहानी साहित्य में आज तक की कथा-यात्रा के बीच अपना निजी मौलिक स्थान बनाए रखा है।'[1]

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द ने हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कहानीकार की हैसियत से हिन्दी कहानी का वस्तु एवं शिल्प, दोनों स्तरों पर यथासम्भव विकास किया। वस्तुतः प्रेमचन्द शिल्प के प्रति उतने आग्रही नहीं थे, जितना वस्तुगत वैविध्य के। उनके व्यक्तित्व की गरिमा से अभिभूत भीष्म साहनी के विचार इस प्रकार हैं : 'हम किसी लेखक की इस या उस रचना से प्रभावित होकर उसे ऊंचा स्थान नहीं देते, रचनाओं के साथ उस रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व जुड़ा होता है, उसी व्यक्तित्व में से ये रचनाएं जन्म लेती हैं। शायद अन्ततः किसी लेखक को पढ़ना उसकी आत्मा तक पहुंच पाने की यात्रा ही है। आज भी प्रेमचन्द की रचनाएं उतनी ही अधिक लोकप्रिय हैं, जितनी कभी पहले रही होंगी। बल्कि आज उनकी ख्याति देश की सीमाएं पार कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त कर चुकी है। एक के बाद एक पीढ़ी इन्हें संस्कार रूप में ग्रहण करती है। यह इसलिए कि उनकी रचनाओं को हम उनके व्यक्तित्व की लौ में देखने, ग्रहण करने लगते हैं।'[2]

प्रेमचन्द की कहानी की विकास-यात्रा मूल्य रूप से सन् 1916 ('पंचपरमेश्वर कहानी के प्रकाशन') से सन् 1936 ('कफन' के प्रकाशन) तक, अबाध गति से, निरन्तर अपना परिष्कार करती हुई सम्पन्न होती गई है। 'प्रेमचन्द ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने आवश्यकता के अनुसार समय को पहचाना और दूसरों को उसे पहचानने में मदद की। ···1901 से लेकर 1936 तक जो भी लिखा गया वह पूरा-का-पूरा कथा-साहित्य वक्त और इंसान की दनदनाती तकलीफ के प्रति-गहरी होती गई पहचान और उसके प्रति बढ़ती समझदारी की दास्तान है।'[3]

प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य में युगान्तर उपस्थित किया। इनका समस्त साहित्य समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है। वह अपने समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें किसानों की दशा, सामाजिक बन्धनों में तड़पती नारियों की वेदना और वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के भीतर संत्रस्त हरिजनों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण

1. प्रसाद का कथा-साहित्य' : गिरीश रस्तोगी, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 5
2. 'प्रेमचन्द : प्रतिनिधि कहानियां' (भूमिका) : भीष्म साहनी, पृ० 6
3. 'लिखने का तर्क' : विनिराजकिशोर, पृ० 40

मिलता है। इनकी सहानुभूति भारत की दलित, जनता, शोषित किसानों और उपेक्षित नारियों के प्रति रही है। सामयिकता के साथ ही इनके साहित्य में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जो उसे शाश्वत और स्थायी बनाते हैं। प्रेमचन्द अपने युग के उन सिद्ध कलाकारों में थे, जिन्होंने हिन्दी को नवीन युग की आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बताया प्रेमचन्द की दृष्टि में साहित्य, समाज और राजनीति परस्पर शृंखलाबद्ध हैं। इसका मानना था कि साहित्य की तरक्की पर ही समाज और राजनीति की भी तरक्की निर्भर है।[1] उनके साहित्य में समय से आगे जा रहे होने का संकेत भी मिलता है—'साहित्य, देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।'[2]

प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियों की रचना की। डॉ० गोपाल राय के शब्दों में 'उनके कहानी-लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वयं उनकी ही कहानियों में हिन्दी कहानी के विकास की प्रायः सभी अवस्थाएं दृष्टिगोचर हो जाती हैं। ···इन कहानियों में हम एक अत्यन्त प्रबुद्ध कलाकार को कहानी के सही ढांचे या शिल्प की तलाश में संघर्षरत पाते हैं।' वास्तव में यह कथन उनकी कहानियों में क्रमशः आते गये कलात्मक एवं वस्तुगत निखार-मंजाव को देखते हुए बिलकुल संगत प्रतीत होता है। हालांकि प्रेमचन्द की कहानियों का वैविध्य जितना वस्तु के स्तर पर परिलक्षित होता है, उतना शिल्प के नहीं, क्योंकि प्रेमचन्द कहानी में कथ्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे और शिल्प उनके लिए साधन-मात्र था।

प्रेमचन्द के सम्पूर्ण कहानी-काल को तीन चरणों में विभक्त करके अवलोकित किया जा सकता है —प्रथम (प्रारम्भिक) चरण (1907-1920), द्वितीय (मध्यम) चरण (1920-1930), एवं तृतीय (अन्तिम) चरण (1930-1936)। इन तीनों चरणों में उन्हें बहुचर्चित श्रेष्ठ कहानियों की रचना का श्रेय प्राप्त है।

सामाजिक सुधार के निनादित वातावरण से धीरे-धीरे मुक्त होते हुए, वे 'मानवमन के रहस्यों को खोलने' की ओर प्रवृत्त होते गये। यह प्रवृत्ति कहानियों में ही नहीं, उनके उपन्यासों में भी पाई जाती हैं। 'पंचपरमेश्वर' से 'कफन' तक की यात्रा में अनेक मंजिलें हैं, जिनके आधार पर उनके महत्त्व को समझा जा सकता है—कहानी-रचना के प्रारम्भिक दौर के अन्तर्गत 'बड़े घर की बेटी',

1. 'प्रेमचन्द घर में' : शिवरानी देवी, पृ० 69
2. 'मंगलसूत्र व अन्य रचनाएं' : प्रेमचन्द, पृ० 359
3. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा०-डॉ० नगेन्द्र, पृ० 589

'सौत', 'पंचपरमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'रानीसारंधा', 'मर्यादा की वेदी', और 'राजा हरदौल'-जैसी कहानियां देखी जा सकती हैं। दूसरे चरण में 'शतरंज के खिलाड़ी', 'एक्ट्रेस', 'समरयात्रा', 'मुक्ति-मार्ग', 'आत्माराम', 'शंखनाद', 'वज्रपात' 'माता का हृदय', 'सेवामार्ग', 'सवा सेर गेहूं', 'शांति' आदि कहानियां आती हैं तथा 'पूस की रात', 'कफन', 'नशा', 'कुसुम', 'मिस पद्मा', 'अलग्योझा', आदि प्रेमचन्द के अन्तिम दौर की कहानियां हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द की इन समस्त कहानियों (तीनों चरणों की कहानियों) के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने कैसे क्रमशः आदर्शवादी दृष्टिकोण के उपरान्त आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद और अन्त में विशुद्ध यथार्थवाद को अपनाया। अन्तिम (तीसरे) दौर की इनकी कहानियों के सम्बन्ध में डॉ० नरेन्द्र मोहन की टिप्पणी है कि—'ये कहानियां इस बात की सूचक हैं कि प्रेमचन्द का मोहभंग व्यापक स्तरों पर हुआ था। ये कहानियां उनके विश्वास और आस्थाओं के टूटने की कहानियां हैं। इस टूटन के परिणामस्वरूप ये कहानियां करुण त्रासद अनुगूंजों में लिपटी हुई हैं।'[1] इस दौर की उनकी कहानियों में 'पूस की रात' तथा 'कफन' कटु यथार्थ की तीक्ष्ण अनुभूतियां हैं, जिनमें न 'यथार्थ की अतिरंजना है, न सरलीकरण। इनमें स्थितियों के आदर्शीकरण के बजाय उनका बेहद सटीक चित्रण हुआ है। इन कहानियों में स्थितियों के महज प्रत्यक्षीकरण द्वारा सामाजिक यथार्थ को झलकाने की अद्भुत सामर्थ्य है।''' 'कफन' और 'पूस की रात' कहानियों में जिस अमानवीयकरण का चित्रण हुआ है, वह समाज की वर्गीय व्यवस्था की ही देन है।'[2] इन दोनों कहानियों में किसान के मजदूर बनते जाने की दुखद यात्रा की कथा कही गयी है। 'कफन' कहानी में एक जगह प्रेमचन्द लिखते हैं : 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना चाहते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे बीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचार-शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित-मण्डली में जा मिला था। '''फिर भी उसे यह तस्कीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है, तो कम-से-कम उसे किसानों की-सीजी तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती, और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।' इसी तरह 'पूस की रात' कहानी के अन्त का यह संवाद अंश आर्थिक अभाव से पीड़ित किसान

---

1. 'कथाकार प्रेमचन्द' : सम्पा० डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृ० 34
2. 'कथाकार प्रेमचन्द' : सं० डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचंद्रगुप्त, पृ० 38

हलकोंकी मजूरी में ही प्रसन्न रहने की स्थिति की तरफ संकेत, कथानक की यह मनः स्थिति ही, 'पूस की रात' कहानी का केन्द्र बिन्दु है। 'मुन्नी ने चिंतित होकर कहा, 'अब मजूरी करके मालगुजारी जमा करनी पड़ेगी।'[1] हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा, 'रात की ठण्ड में यहां सोना तो न पड़ेगा।' इस प्रकार ये उपर्युक्त पंक्तियां किसान से मजूर बनने की उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही नहीं मानसिक दशा या मनोवृत्तियों में आए बदलाव का भी उद्‌घाटन करती हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान को नयी कहानी की आधुनिकता तथा मिजाज के संकेत उसी समय मिलते प्रतीत होते हैं, जिस समय 'पूस की रात' तथा 'कफन' की रचना हुई थी।[2]

डॉ० बच्चन सिंह का मूल्यांकन सही है कि 'दोनों ही कहानियां अन्वेषण की प्रक्रिया का सुन्दर नमूना हैं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि आज की जिन्दगी में जिस विद्रूपकत्व का प्रवेश देखा जा रहा है, उसके तेवर 'कफन' में मौजूद हैं, किन्तु इस विद्रूपकत्व को उन्होंने रचनात्मक सन्दर्भ में रखा है। उस समूचे समाज को नंगा करते हुए अर्थपूर्ण मूल्यदृष्टि को संकेतित करता है।'[3] वस्तु और शिल्प, दोनों में यह कहानी डॉ० बच्चन के ही शब्दों में—'कफन' कहानी प्रेमचन्द की अन्य कहानियों से नितान्त भिन्न है। उनके कहानी-संसार से इसका संसार सर्वथा निस्संग और निरपेक्ष है, इसलिए उनकी कहानियों से परिचित लोगों के लिए यह अनबूझ पहेली हो जाती है, प्रेमचन्द के सम्बन्ध में बनी हुई पूर्वधारणा के आगे प्रश्नचिह्न लगा देती है।'[4] आगे वो इसकी सर्वथा नई और आधुनिक बुनावट के सम्बन्ध में लिखते हैं: 'सच पूछिए तो कहानी, पूरी संरचना, विसंगतियों और विडम्बनाओं के साने-बाने से बुनी जाने से ही एक अर्थपूर्ण रचनात्मक परिणति तक पहुंच जाती है।'[5] डॉ० रामदरश मिश्र इसी प्रकार की कहानियों को कालातीत बताते हुए कहते हैं कि—'प्रेमचन्द ने यों तो बहुत-सी कहानियां लिखी हैं, लेकिन काफी देखना है और गरिमा से वंचित रह गई है और मात्र सामयिक सपाट रोचक कथा-बयानी बनकर रह गई हैं, लेकिन उनकी कुछ कहानियां निश्चय ही ऐसी हैं, जो अपनी उपलब्धि में कालातीत बन गई हैं।'[6]

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक अधिकांश कहानियां उनके सहज विश्वास, धारणा

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 12
2. 'हिन्दी कहानी' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 52
3. 'प्रतिनिधि कहानियां' : डॉ० बच्चन सिंह, पृ० 6
4. 'दस्तावेज' (7-8) : प्रेमचन्द की जन्मशती पर विशेषांक, पृ० 194
5. वही, 197
6. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 9

व निष्ठा के द्योतक हैं। चरित्र पर जोर देते हुए भी वो मुख्य रूप से घटनाश्रयी कहानियां हैं, जिनमें संयोग और हृदय परिवर्तनों का अम्बार लगा है।

'प्रेमचन्द जहां भी हमें बदलाव की तरफ ले जाते हैं, या जहां उनके चरित्र में बदलाव आता है—तो वह संघर्ष के रास्ते नहीं, हृदय-परिवर्तन के रास्ते आता है···। संघर्ष-जैसी चीज के बजाय प्रेमचन्द का असली सरोकार मनुष्य से था। साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता का पक्षधर होते हुए भी वे साहित्य में रसानुभूति को महत्त्व देते है।'[1] राजेन्द्र यादव का भी इस सन्दर्भ में यही कहना है कि 'प्रेमचन्द हृदय-परिवर्तन के तंत्र को आदर्शवादी नीति और सुधारवादी आन्दोलन के साथ आग्रहपूर्वक मिलाये रखते हैं।'[2]

इन कहानियों में उनका आदर्शवादी रुझान स्पष्ट रूप से झलकता है। अपने कथालेखन के दूसरे मोड़ पर वो आदर्श से पूर्ण रूप से मुक्त तो नहीं हो सके, मगर यथार्थ का स्वीकार भी उनकी 'बड़े भाई साहब', 'सवा सेर गेहूं' और 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानी में मिलता है। प्रेमचन्द नैतिकता को सोद्देश्यता के रूप में अनिवार्य मानते हैं। 'जिस आदर्शोन्मुख यथार्थ की चर्चा प्रेमचन्द ने की थी और जो संज्ञा उनके अपने साहित्य पर सटीक बैठती है; उसके एक छोर पर समाज का कटु यथार्थ था, उसकी विसंगतियां थीं, दूसरे छोर पर मानव करुणा की भावना से ओत-प्रोत वे महान् आदर्श थे, जिनकी ओर वो यथार्थ को ले चलना चाहते थे। 1934 में मद्रास के अपने भाषण में उन्होंने कहा था—'साहित्य में आदर्शवाद जरूरी है; लेकिन वह यथार्थ और स्वाभाविकता को ताक पर रख कर नहीं। इसी तरह यथार्थवाद को, आदर्शवाद नहीं भुला देना चाहिए। साहित्य-द्वारा मानव के श्रेष्ठ आदर्शों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।'[3]

राजेन्द्र यादव का यह कथन प्रेमचन्द के सन्दर्भ में पूरी तरह तर्कसंगत है—'प्रेमचन्द ने भावुकता की जगह सामाजिक दायित्व की युक्ति को अधिक प्रश्रय दिया है, इसलिए वह अधिक यथार्थवादी लगते हैं। 'सुजानभगत' 'सवा सेर गेहूं' 'शंखनाद', 'मंत्र' इत्यादि कहानियां इसी प्रकार की हैं।'[4] वास्तव में प्रेमचन्द की प्रत्येक कहानी समाजहित की चिन्ता से जुड़ी हुई है।'

'मंत्र' प्रेमचन्द की एक मर्मस्पर्शी कहानी है, जिसमें विरोधी घटनाओं, परिस्थितियों और भावनाओं का चित्रण करके उन्होंने कर्तव्यबोध का वांछित प्रभाव उत्पन्न किया है। कथानक भगत की अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण मनोदशा, वेदना एवं

1. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 32-33
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 25
3. 'प्रेमचन्द : प्रतिनिधि कहानियां' : सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 7
4. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 25-27

कर्तव्यनिष्ठा मर्म को छू लेती है। 'अन्तर्द्वन्द्व तो उनकी सभी कहानियों में है, लेकिन 'बड़े भाई साहब' शुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानी है, जिसमें बड़े भाई साहब की सारी प्रतिक्रियाएं उनके अपने निजी कुण्ठित व्यक्तित्व से फूट रही है, किसी परिस्थिति या प्रसंग से नहीं। यों 'ईदगाह', 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि चरित्रप्रधान कहानियों का अन्तर्द्वन्द्व घटनासापेक्ष होकर भी बहुत गहरा और प्रभावशाली है।'[1]

'साहित्य का उद्देश्य' में कहानी-कला पर लिखते हुए प्रेममन्द मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित कहानी को सर्वोत्तम कहानी की संज्ञा देते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों में भाषा अतिरिक्त दबाव के रूप में नहीं है। परम्परागत रूपकात्मकता का प्रयोग अर्थ के सम्प्रेषण और मन के उद्घाटन के लिए वे अवश्य करते हैं, परन्तु इसके लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत विधान मानव जीवन से ही होता है। प्रेमचन्द के साहित्य में लोक जीवन से ली गई उपमा-उत्प्रेक्षाओं व सूक्तियों का जितना बाहुल्य है, उतना हिन्दी के किसी अन्य कहानीकार के यहां नहीं उपलब्ध होता। 'नमक का दरोगा' कहानी में कथानायक वंशीधर के पिता उनके नौकरी की खोज में घर से निकलते समय जो सीख देते हैं, उसमें सरलता के साथ व्यंग्य तो निहित है ही, उपमा-उत्प्रेक्षा का प्रयोग उसे और अधिक आकर्षक बना देता है —'बेटा! घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लड़कियां हैं, वह घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती है। मैं कगारे पर का वृक्ष हो रहा हूं, न मालूम कब गिर पड़ूं। अब तुम्हीं घर के मालिक-मुख्तार हो। नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूंढ़ना, जहां कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है, जिससे सर्वदा प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरकत होती है।'[2]

उपर्युक्त उद्धरण में लड़कियों का घास-फूस की तरह बढ़ना, वंशीधर के पिता का कगारे पर का वृक्ष होना, नौकरी की पीर के मजार के साथ, मासिक वेतन की पूर्णिमा के चन्द्रमा के साथ, ऊपरी आमदनी की बहते हुए स्रोत के साथ तुलना उपमानमूलक अलंकारों के अनुपम उदाहरण हैं। 'मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है, जो एक दिन दिखाई देता है और फिर घटते-घटते लुप्त हो जाता है।' यह वाक्य सूक्ति है, जो अनुभवगर्भित व यथार्थ से युक्त है।

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 12
2. 'प्रेमचन्द की प्रतिनिधि कहानियां' : सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 48

उपमा-उत्प्रेक्षाओं के कुछ और उदाहरण अन्य कहानियों से भी द्रष्टव्य हैं—

(1) 'खेती की हालत अनाथ बालक की-सी है। जल और वायु अनुकूल हुए, तो अनाज के ढेर लग गए। उनकी कृपा न हुई, तो लहलहाते हुए खेत कपटी मित्र की भांति दगा दे गए।' ('मुक्तिधन')

(2) 'शाम हो गई। खण्डहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोंसलों में सिमटी, पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों।' (शतरंज के खिलाड़ी)

(3) 'आलू खाकर, दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियां ओढ़कर, पांव पेट में डाले सो रहे; जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गोंडूलिया मारे पड़े हों।' ('कफन')

इन उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का उद्देश्य मात्र अलंकरण नहीं है, बल्कि ये कहानी को अधिक सम्प्रेषणीय और प्रभावशाली भी बनाते हैं। वस्तु और संवेदना के अनुकूल कहानियों में प्रयुक्त कुछ सूक्तियों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(1) 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह, क्षुधा से बावला मनुष्य जरा-जरा-सी बात पर तिनक जाता है।' ('बड़े घर की बेटी')

(2) 'स्त्रियों के आंसू पुरुषों की क्रोधाग्नि को भड़काने में तेल का काम देते हैं।' ('बड़े घर की बेटी')

(3) 'मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।' (बड़े घर की बेटी')

प्रेमचन्द की एक ही कहानी में कई-कई बहुरी सूक्तियों का समावेश उनकी अनुभव तथा दृष्टिसम्पन्नता का प्रमाण है। वो सूक्तियों के माध्यम से कहानी की अन्तर्वस्तु को पारदर्शी बना देते हैं—'सन्देह वह चोट है, जिसका उपचार जल्दी ना हो, तो नासूर पड़ जाता है और फिर अच्छा नहीं होता।' ('दो सखियां')

'जिस भांति वो साहित्य को जीवन के निकट लाये हैं, साहित्य की भाषा को भी बोलचाल के निकट लाये हैं। उनकी भाषा में रवानी है, रस है, लोक-जीवन से निकला हुआ मुहावरा है, लोच है।···वे एक ऐसी भाषा के समर्थक थे, जिसमें बाहर के शब्दों, मुहावरों को ग्रहण करने की क्षमता हो, उन्हें अपनाने और आत्मसात करने की; और साथ-ही-साथ, जिसमें सादगी हो, पैनापन हो, लोच हो। प्रेमचन्द की अपनी भाषा इस धारणा का सुन्दरतम उदाहरण बनकर आती है।'[1]···'साहित्य का उद्देश्य' नामक पुस्तक में स्वयं प्रेमचन्द की मान्यता है कि—कहानी की भाषा बहुत सरल और सुबोध होनी चाहिए।

---

1. 'प्रेमचन्द : प्रतिनिधि कहानियां' : सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 8

प्रेमचन्द की कहानियों में प्रायः सांकेतिकता के दर्शन होते हैं, जो कहानी को विशिष्ट तथा सौंदर्य बनाते हैं।

डॉ० रामदरश मिश्र का भी विचार है कि—'सांकेतिकता के कारण एक प्रकार की अर्थगर्भता पैदा होती है, जिसे कथाभाषा का रचनात्मक प्रयोग कहा जा सकता है।' प्रेमचन्द की जिन कहानियों में यह (सांकेतिक) कलात्मक रचाव लक्षित होता है, वे अपनी सामाजिक ऊर्जा के कारण हिन्दी की ही नहीं, बल्कि विश्व साहित्य की श्रेष्ठ उपलब्धियां बन जाती हैं, जहां यह कलात्मक रचाव वर्णनात्मक स्फीति और वादर्शमूलक प्रचारक्षमिता में परिणत हो गया है, वहां सामाजिक जीवन से सर्वन्धित होकर चपटी और सामान्य बन गई है। प्रेमचन्द के शिल्प की शक्ति को जैनेन्द्र की सापेक्षता में अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है।'[1] प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में अनेकानेक अविस्मरणीय चरित्रों की सृष्टि की है। डॉ० हरदयाल ने प्रेमचन्द की कहानियों की संरचना पर विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रेमचन्द की कहानियों की (सीधी-सहज) संरचना का केन्द्रीय आधार चरित्र-रचना है—संरचनात्मक दृष्टि से प्रेमचन्द की कहानियां चरित्र-प्रधान कहानियां हैं।'[2]

हिन्दी के अधिकांश आलोचकों का मानना है कि प्रेमचन्द के जीवन और लेखन में कोई विरोध नहीं दिखाई देता। 'कलम के सिपाही' में अमृतराय ने अनेक तथ्यों से इसे प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। भीष्म साहनी के अनुसार—'प्रेमचन्द ही मुझे ऐसे लेखक जान पड़ते हैं, जिनका लेखकीय व्यक्तित्व और निजी व्यक्तित्व एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, वे एकाकार होकर एक-दूसरे में छपकर, उनकी रचनाओं में उभरते हैं। वे विभिन्न स्तरों पर नहीं जीते, उनका लेखकीय व्यक्तित्व उनकी सामाजिक चेतना और उनके दिल में उठने वाले बलबलों की उपज है, उसका अंग है।...जहां उनकी रचनाएं हमारे जीवन का प्रामाणिक जीवन्त चित्र प्रस्तुत करती हैं, सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रति हमें सचेत करती हैं; वहीं वे हमारे दिल में सद्भाव जगाती हैं, हमारे मस्तिष्क को झकझोरती हैं, हमें जिन्दगी को देखने-समझने का नजरिया देती हैं।'[3]

यह नया सचमुच महत्त्व की बात नहीं है कि प्रेमचन्द कथाचिंतन के क्षेत्र में एक परम्परा को जन्म देते दिखाई पड़ते हैं। गोविन्द मिश्र के शब्दों में 'करीब-करीब हर कहानी में प्रेमचन्द उन चिरंतन मानवीय मूल्यों को उठाते हैं, जो

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 13
2. 'प्रेमचन्द' : सम्पा०-डॉ० सुरेशचन्द्र त्यागी, 189
3. 'प्रेमचन्द : प्रतिनिधि कहानियां' सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 6
4. 'प्रेमचन्द : प्रतिनिधि कहानियां' : सम्पा० भीष्म साहनी, पृ० 6

हमारी संस्कृति की धरोहर है···कहानी चाहे 'क्षमा' हो, 'बड़े घर की बेटी हो' या कि 'प्रेम का उदय'···प्रेमचन्द का सरोकार मूल्यों से ही है। यही है, जो प्रेमचन्द के लेखन को जीवित रखे है, रखेगा।'

यह दृष्टान्त है कि कैसे कोई बड़ी प्रतिभा अपनी बाद की पीढ़ियों के लिए प्रासंगिक होती है। अन्त में, प्रख्यात कहानीकार भीष्म साहनी जी को उद्धृत करना जरूरी होगा—'प्रेमचन्द की रचनाओं ने हमारे साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात किया और इसमें सन्देह नहीं कि जिस रास्ते वह चले, उसे आज भी हमारे साहित्य की प्रमुख धारा कहा जा सकता है। वह साहित्य को जीवन के निकट ले आए।'

जयशंकर प्रसाद

प्रेमचन्द के समकालीन होते हुए भी जयशंकर प्रसाद की कहानियां भावात्मकता से युक्त हैं। साथ ही मुख्यतया वैयक्तिकता और रागात्मक लगाव से परिपूर्ण उनकी अधिकांश कहानियां ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। प्रसाद की जीवन-दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ है, कहानियों में व्यक्तिमूलक बोध की प्रेरणा है। प्रसाद की रचना-प्रक्रिया में प्रेम तथा सौन्दर्य की व्यक्तिमूलक चेतना है, रोमांटिक बोध है।'[1] प्रतिनिधि छायावादी कवि होने के कारण उनकी लगभग सभी कहानियों के मूल में छायावादी बोध है और इसीलिए उन कहानियों में छायावाद की मूल प्रवृत्ति वैयक्तिकता की छाप भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, फिर भी कहा जा सकता है कि 'उन-जैसा कोई अन्य कहानीकार हुआ ही नहीं, जिसने वैयक्तिक धारा की कहानियां लिखकर भी उसमें अपने समाज के ज्वलंत प्रश्नों का विवेचन किया हो। इस रूप में उनकी कहानियों में सामाजिक चिन्ता और रोमांस का एक मधुर और विरल संयोग मिलता है।'[2]

प्रसाद की कहानियां हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेमचन्द से अलग एक नयी धारा का निर्माण करती हैं। यह धारा तात्कालिक यथार्थ और स्थूल वर्तमान की समस्याओं की अपेक्षा मनुष्य की बाहरी दुनिया के साथ उसकी भीतरी, निजी दुनिया के उद्घाटन से सम्बद्ध है। इसीलिए प्रसाद की कहानियों में जहां एक गहरा भावात्मक तनाव है, वहीं एक भीतरी मनोवैज्ञानिक छटपटाहट और शान्त स्तब्ध उदासी भी है, जो उनके चरित्रों को खास तरह की व्यक्तिवादी गरिमा से

1. 'इन्द्रप्रस्थ भारती' (वर्ष-2 : अंक-1) : सम्पा० डॉ० नारायणदत्त पालीवाल, पृ० 18
2. 'हिन्दी कहानी : पहचान और परख' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 11

संयुक्त करती है। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी' तथा 'इन्द्रजाल' इन पांच कहानी-संग्रहों में कहानीकार प्रसाद का व्यक्तित्व क्रमशः सम्पन्न होता दिखाई देता है।

'छाया' संग्रह की कहानियां या तो ऐतिहासिक हैं, या प्रसाद की कल्पना की उपज। 'शरणागत', 'सिकन्दर की शपथ', 'चित्तौर उद्धार', 'अशोक', 'गुलाम', 'जहांआरा' कहानियां जहां प्रसाद के इतिहास-प्रेम और ज्ञान की सूचक है, वहीं 'तानसेन', 'चन्दा', 'रसियाबालम', 'मदन-मृणालिनी' प्रसाद की रोमांटिक कल्पना से प्रेरित कहानियां, जिनमें अत्यन्त भावुक व समाज-निरपेक्ष स्वच्छन्द प्रेम का अंकन है।

'प्रतिध्वनि' की कहानियां भी यद्यपि भाव-प्रधान है, तथापि 'छाया' की अपेक्षा यहां विषयगत विविधता दिखाई देती है। 'सहयोग' स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की कहानी है। 'बूढ़ा साई', 'गूदड़ी में लाल', 'अंधेरी का मोह', 'पाप की पराजय', 'पत्थर की पुकार', 'चक्रवर्ती का स्तम्भ', 'प्रतिमा' आदि इस संग्रह की अन्य कहानियां हैं। इस संग्रह की कुछ कहानियां गद्यगीत तथा कुछ रेखाचित्रों के निकट है।

उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'आकाशदीप' है, जिसमें भावों का संघर्ष, भाषा की प्रौढ़ता और सौष्ठवपूर्ण अभिव्यक्ति अपनी पूर्णता को पहुंचा गई है। 'आकाशदीप' संग्रह की इस प्रतिनिधि कहानी में प्रेम के द्वन्द्वमय रूप का बड़ी सूक्ष्मता के साथ, मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण हुआ है। प्रेम को पूरी गम्भीरतापूर्वक उसके विशाल परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया गया है। 'आकाशदीप' कहानी प्रसाद की कहानी-कला के प्रौढ़तम रूप का सशक्त उदाहरण कही जा सकती है।

'मैं तुम्हें पूजा करती हूं, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूं। अम्बेर है, जलदस्यु, मैं तुम्हें प्यार करती हूं।'[1] कहानी की नायिका के इस कथन में उसके मानसिक द्वन्द्व का ही आभास होता है। एक ही समय में, मन में दो परस्पर-विरोधी स्थितियां चम्पा के व्यक्तित्व की असमानता की ओर भी संकेत करती हैं। द्वन्द्वमय आकर्षण का यह रूप मनोवैज्ञानिक धरातल पर आश्रित है। द्वन्द्व के इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को अभिव्यक्ति के स्तर पर कलात्मक सफलता के साथ प्रस्तुत करने और काव्यात्मक-नाट्यात्मक परिवेश की सर्जनात्मकता— में प्रसाद की निजी विशेषता व मौलिकता द्रष्टव्य है। चम्पा का प्रेम उदात्त-भूमिका स्पर्श करता है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना की भांति चम्पा में भी प्रेम का उदात्तीकरण है।

'आकाशदीप' संग्रह ही 'भिखारिन', 'चूड़ीवाली', 'बनजारा', 'अपराधी',

1. 'आकाशदीप' : जयशंकर प्रसाद, पृ० 18

'विसाती' कहानियों में यद्यपि प्रसाद ने सामन्य जीवन को कहानी का विषय और सामान्य प्राणियों को उनका आधार बनाया है, जो उनकी चरित्रगत विविधता को प्रकट करता है, लेकिन इनकी इनकी भी वास्तविक जमीन प्रेममूलक ही है। 'भिखारिन' और 'चूड़ीवाली' कहानी में प्रसाद की आधुनिक और सामाजिक दृष्टि झलकती है। इन दोनों कहानियों में समाज सुधार की भावना है, दोनो में पात्रों की वैयक्तिक भावना के साथ ही सामाजिक चेतना भी है, लेकिन 'भिखारिन' कहानी यथार्थवादी होते हुए भी प्रसाद की सौन्दर्य-चेतना, चारित्रिक गरिमा और आभिजात्य संस्कारों से संयुक्त है। इसमें संगीत और सौन्दर्य का मिश्रित वातावरण भी है। 'चूड़ीवाली' में प्रसाद ने समाज-द्वारा तिरस्कृत और बहिष्कृत वैश्या को मानवीय गरिमा से मण्डित दिखलाया है। वैश्या का रूप-चित्रण उसके पेशे, उम्र और स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है। मनोवृत्ति के खिलाफ व्यवसाय ही कहानी की मुख्य विषय है और एक इसी विषय, तथा एक इसी वैश्या के चित्रांकन से समस्या की प्रस्तुति हो गई है। प्रसाद का छायावादी कवि-व्यक्तित्व इस संग्रह की अधिकांश कहानियों 'बनजारा', 'अपराधी', 'विसाती', 'कला', 'समुद्र-संतरण', 'प्रणयचिह्न', 'रूप की छाया', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'हिमालय का पथिक', 'वैरागी' आदि में छाया हुआ है।

'आकाशदीप' संग्रह की कहानियों में जहां प्रसाद की चिरपरिचित भावात्मकता, गीत-तत्त्व, रहस्यवृत्ति, कल्पना और प्रेममूलक दृष्टि है, वहीं उसमें समस्यामूलक कहानियां भी हैं, जो प्रसाद के भिन्न मोड़ को व्यंजित करती है। इस संग्रह की कहानियों में 'छाया' काल की कोरी वर्णनात्मकता नहीं है' बल्कि सूक्ष्म चित्रण-कला भी है और गहरी संवेदनशीलता से उत्पन्न सांकेतिकता और काव्यतत्त्व एवं नाट्यतत्त्व के संश्लिष्ट भी, जो अपूर्व है।'[1] इसी संग्रह की 'ममता' कहानी अपनी अद्भुत चारित्रिक क्षमता के कारण स्मरणीय है। विधवा ममता अपने प्रेम को निस्पृह भाव से सामाजिक सेवा में ढूंढती है। 'पत्थर की पुकार' कहानी में प्रसाद ने करुणा और प्रेम को साहित्य का प्रमुख तत्त्व माना है। उनकी अधिकांश कहानियों में अव्यक्त प्रेमभावना का दबाव भी करुणा पैदा करता है और कहानियों को विवादमय तथा सोचपरक बनाता है।

प्रसाद की कहानियों में निहित 'प्रेमभावना' के सम्बन्ध में डा० रायदरश मिश्र के इन विचारों को रखा जा सकता है : 'प्रसाद की अधिकांश कहानियों का संसार प्रेमसंसार है। इस प्रेम-संसार में सांसारिक ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं है; दो प्रेमियों के मिलने के लिए केवल हृदय का वैभव ही अपेक्षित है।'[2]

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रायदरश मिश्र, पृ० 21
2. वही, पृ० 2

'आंधी' संग्रह की 'पुरस्कार' भी 'आकाशदीप' कहानी की परम्परा की ही अगली सुन्दर व सक्षम कहानी है। इस कहानी का भी केन्द्र-बिन्दु द्वन्द्व ही है, जो प्रेम और कर्त्तव्य (देश-प्रेम) के संघर्ष में दिखाई पड़ता है। यह कहानी प्रभावित करती है कि प्रसाद अनुभूति के कहानीकार हैं। अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक धरातल पर रची गई 'पुरस्कार' कहानी का सौन्दर्य स्वयं प्रसाद के कथा साहित्य में अलग ही है, हिन्दी कहानी में भी वह सर्वथा विशिष्ट और मौलिक है···'पुरस्कार' सचमुच बनी संवेदना की कहानी है—कलात्मक खुबी में रसी-पगी।[1] मधुलिका पुरस्कार-स्वरूप जब मांगती है कि—'तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले' कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।' ('आंधी': कहानी-संग्रह पृ० : 156) तब कहानी अपने चरम बिन्दु पर है, जहां कर्त्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व के अपूर्व क्षण हैं।

प्रसाद की कहानियों में रोमांटिक आदर्श की चर्चा करते हुए जब डॉ० बच्चन सिंह कहते हैं कि—'प्रसाद की कहानियों की एक विशेषता, जो प्रायः अलक्षित रह जाती है, यह है कि उन्होंने कहानी के पात्रों को व्यक्तित्व दिया। व्यक्तिनिष्ठता छायावादी काव्य की विशेषता रही है।···राष्ट्रीय-चेतना भी छायावाद का वैशिष्ट्य है। इसे 'पुरस्कार' कहानियों में देखा जा सकता है। मन का गहन अन्तर्द्वन्द्व तो इस कहानी का मूलाधार है।'[2] तब एक प्रकार से वो 'पुरस्कार' कहानी के माध्यम से प्रसाद की कहानियों की विशेषताओं को ही स्पष्ट करते हैं, जिनके लिए मुख्य रूप से प्रसाद की कहानियां पहचानी जाती हैं।

'आंधी' और 'इन्द्रजाल' प्रसाद के प्रौढ़तम कहानी-संग्रह हैं। वस्तुतः वे प्रारम्भिक तीनों ('छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप',) कहानी-संग्रहों का विकसित रूप हैं। इनमें ऐतिहासिक, काल्पनिक एवं यथार्थवादी—तीनों परम्पराओं का समावेश है। 'मधुआ' और 'बिसू' ये दोनों कहानियां आधुनिक कहानी की भांति अपनी संरचना में संक्षिप्त और संकेतपूर्ण हैं।

प्रसाद की ऐतिहासिक, कल्पना-प्रधान और कवित्वपूर्ण कहानियों से एकदम भिन्न उनकी 'मधुआ' सामाजिक परिवेश की कहानी है। चरित्र-प्रधान हुए भी यह कहानी समाज-सापेक्ष है। इसमें आये चरित्र स्वतन्त्र रूप में चित्रित नहीं है। बल्कि कहानी के नायक शराबी और मधुआ नामक बालक के चरित्रों-द्वारा ही सामाजिक-आर्थिक-विषमता और मनुष्य पर होने वाले सामाजिक अन्याय का चित्र लेखक ने खींचा है। इन्हीं के चारित्रिक विकास और संकेतों के द्वारा

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : डॉ० शिवदान सिंह चौहान, जयशंकरप्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ
2. 'प्रतिनिधि कहानियां' : डॉ० बच्चन सिंह, पृ० 4

सामाजिक विषयस्थिति बोध कराने के साथ-साथ प्रसाद की मानवता का उदात्त स्वरूप भी इसमें व्याप्त है। इस कहानी के माध्यम से प्रसाद ने व्यक्त करना चाहा है कि परिस्थितिविशेष में जरावी-जैसे व्यक्ति के भीतर भी उदात्त भावना का जन्म सम्भव है। मधुआ की करुण सिसकियां और भूख उसकी जीवनधारा को ही बदल देते हैं। प्राप्त हुए एक रुपये से तृष्णा के बावजूद शराब का गट्ठा न खरीद-कर बालक का ध्यान आ जाने से अनजाने ही मिठाई-पूरी खरीद लेता है और उसके मस्तिष्क में ये विचार भी उठते हैं कि 'तब उसको लेकर घरबारी बनना पड़ेगा नया !''' मेरी इतनी माया-ममता--जिस पर आज तक केवल बोतल का ही पूरा अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी है ?'[1]

मनुष्य के भीतर छिपी उदात्त मानवता की भावना को पहचानना ही प्रसाद की कहानियों का निजी स्वर है, जिसे बिना अतिरंजित किए बड़े संयत व सहज ढंग से यहां उजागर किया गया है। जीवन और मनुष्य के प्रति प्रसाद की गहरी आस्था और निष्ठा इस कहानी में अद्भुत-सी दिखाई देती है तथा यही दृष्टि कहानी को विशिष्ट भी बनाती है। इस कहानी के माध्यम से लेखक जरावी के आत्मिक रूप से सम्पन्न होने की तरफ इशारा करता है, बल्कि उसे तथाकथित सम्पन्न व्यक्तियों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ भी स्वीकार करता है।

कहानी संवादों के जरिए ही पूर्ण होती है। नाटकीय शैली में रचित यह कहानी जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के गहरे सौन्दर्य से युक्त है तथा 'पुरस्कार' कहानी की जैसी भावात्मकता तथा काव्यात्मकता का उसमें अभाव है। भाषा चरित्र को रूपायित करने में पूरी तरह सक्षम भी है। 'मधुआ' प्रसाद की ही नहीं, हिन्दी कहानियों में भी विशिष्ट कही जा सकती है।

'इन्द्रजाल' संग्रह की प्रतिनिधि कहानी 'गुण्डा' है। यह एक उत्कृष्ट तथा प्रसाद के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करने वाली कहानी है। 'प्रसाद ने अपने नाटकों के पात्रों की तरह कहानी के पात्रों को भी उनका निजी व्यक्तित्व प्रदान किया। 'गुण्डा' इस सत्य को प्रमाणित करती है, लेकिन उसकी एक और विशेषता यह है कि 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' से आगे वह पुरुष पात्र को उसका स्वस्थ स्वरूप, पुरुषोचित व्यक्तित्व देती है—उसी स्तर पर प्रसाद के नारी पात्रों को उनका सजग, कोमल, शक्तिशाली व्यक्तित्व मिला है। इस अर्थ में प्रसाद की कहानी के विकास की दिशा का पूरा पता चलता है।'[2]

कहानी का प्रारम्भ गुण्डा नन्हकू सिंह के रेखाचित्र से होता है : प्रसाद

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : डॉ० गिरीश रस्तोगी, प्रो० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 53
2. 'आंधी' : जयशंकर प्रसाद, पृ० 10

रेखाचित्रण में निष्णात हैं। काशी का यह गुण्डा सामान्य गुण्डों से कई अर्थों में, तथा कई प्रकार से, भिन्न है। वह जमींदार का पुत्र होने के बावजूद किसी मानसिक आघात से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित गुण्डा हो गया। शारीरिक रूप से ताकतवर होते हुए भी, उसका हृदय बहुत कोमल व संवेदनशील है। 'गुण्डे' का संगीत-प्रेम उसके हृदय की कोमलता, सहृदयता तथा मार्मिक पीड़ा को ही अभिव्यक्त करता है।

'गुण्डा' कहानी वर्णनों से नहीं, नाटकीय संवादों से अग्रसर होती है। संवादों की विशिष्टता द्रष्टव्य है—'तुम क्या कर सकते हो ?'—'मैं मर सकता हूं।'[1]— जैसे संक्षिप्त संवाद परिस्थिति और वातावरण के सर्वथा अनुकूल हैं। सात्विक प्रेम और विश्वास की प्रतिमूर्ति उस गुण्डे के प्रणय-बलिदान का दृश्य बेहद रोमांचक प्रतीत होता है—'गुण्डे' का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुण्डा था।'[2] प्रसाद की इस कहानी की ये अन्तिम पंक्तियां कहानी को उत्सर्ग की प्रशान्त भूमि पर लाकर विलक्षण गौरव से सम्पृक्त कर देती हैं। अन्य कहानियों की अपेक्षा इसमें कथा-तत्त्व की अधिकता है, घटनाएं भी हैं, लेकिन कहानी का केन्द्र बिन्दु चरित्र ही है। अपनी संरचना में भी कहानी काफी सुदृढ़ है।

प्रसाद की अन्तिम कहानी 'सालवती' इनके 'इन्द्रजाल' (अन्तिम) संग्रह की भी अन्तिम कहानी है। 'सालवती' में एक ओर गण-प्रजातंत्र की कथा है, दूसरी ओर नारी-चरित्र की, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के खोज की दारुण छटपटाहट है। 'गुण्डा' कहानी की भांति 'सालवती' के चित्रण में भी प्रसाद की रेखाचित्रण में दक्षता प्रकट होती है। 'सालवती' प्रसाद की ऐतिहासिकता, ठोस दर्शन, भारतीय सांस्कृतिक चेतना, मानव के अन्तर्मन की रहस्यात्मक अनुभूतियों और आधुनिक प्रश्न-सन्दर्भों का समन्वित पुंज है।'[3] सालवती के इस कथन : 'ठीक ! मैं अनुग्रह नहीं चाहती। अनुग्रह लेने से मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतन्त्र बनाती है।' ('इन्द्रजाल' पृ० 118)। के माध्यम से प्रसाद ने आर्थिक स्वतन्त्रता और श्रम के महत्व को प्रदर्शित किया है। स्वावलम्बी व्यक्तित्व सालवती को रूप एवं व्यक्तित्व की दृष्टि से भी समृद्ध करता है। कहानी में सालवती का तीव्र अन्तर्द्वन्द्व उसके व्यक्तित्व (स्वभाव) का ही अभिन्न हिस्सा है। यह इस कहानी की उपलब्धि ही कही जाएगी कि प्रसाद का वस्तुवादी दृष्टिकोण और विचारों

---

1. 'इन्द्रजाल' : जयशंकर प्रसाद, पृ० 96
2. वही, पृ० 97
3. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : त्रिरीत्र रस्तोगी, जयदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 56

की गम्भीरता कहानी में बाधक नहीं, बल्कि सहायक ही है।

प्रसाद का मन पुरुषों की अपेक्षा नारी-पात्रों के विश्लेषण में विशेष रमा है। नाटक हो या कहानी-उपन्यास, या काव्य (उदाहरणार्थ—'कामायनी') उनके नारी-पात्र ही अधिक सजीव हैं और वे ही पूरी रचना को आगे बढ़ाने में विशेष सहयोग देते हैं तथा पुरुष-पात्र उन्हीं के व्यक्तित्व-तले विकसित होते प्रतीत होते हैं। नारी-व्यक्तित्व में त्याग की भावना, क्षमाशीलता, भावुकता, मादकता तथा सुन्दरता का संगम है, जो इनके संगठन सभी नारी-पात्रों की सर्जना का आधार है, जिससे वे कोमल, अलौकिक और रहस्यपूर्ण सृष्टि बन सकी हैं। इनकी प्रेमानुभूति तथा सौन्दर्यचेतना का स्वतंत्र स्वरूप नारी-पात्रों के चित्रण में लक्षित होता है। चम्पा, मधुलिका, ममता, सालवती, लैला और वेला इनके अमर नारी पात्र हैं। चूंकि प्रसाद सौन्दर्य-प्रेमी हैं और कुशल चित्रकार हैं, सौन्दर्य को सराहने वाला कवि हृदय उनके पास है और उस सौन्दर्य का दर्शन कराने वाली नाट्यानुभूति भी उनके पास सुरक्षित है, इसलिए उनकी अनुभूति और कला ने मिलकर स्त्री पात्रों के मोहक वर्णन कहानियों में किये हैं।'[1]

'नयी कहानी' आन्दोलन के एक प्रमुख लेखक राजेन्द्र यादव प्रसाद की कहानियों की नायिकाओं की चारित्रिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व में छटपटाती और उसमें कर्तव्य की ओर झुकती हुई उनकी कहानियों की नायिकाएं अक्सर उस मानसिक स्थिति का शिकार हैं, जिसे मनोविज्ञान में 'एम्बिवैलेन्सी' कहते हैं—अर्थात् एक ही व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्यार और घृणा की समान तीव्र भावना का होना। 'मैं तुमसे घृणा करती हूं जलदस्यु, लेकिन तुम्हें प्यार करती भी करती हूं' वाली स्थिति की अभिव्यक्ति उनकी कहानियों में कहीं शब्दों में है, और कहीं संकेतों में।'[2]

स्त्री-पात्रों के अनन्तर प्रसाद के साहित्य में पुरुष-पात्रों का स्थान आता है। प्रसाद के अधिकतर पुरुष-पात्र भी सौन्दर्य, कला तथा संगीत-प्रेमी हैं। कुछ विशिष्ट और सामान्य पुरुष-पात्रों की रचना का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। 'नूरी' में याकूब, 'इन्द्रजाल' में गोली, 'आंधी' में रामेश्वर, 'आकाशदीप' में बुद्धगुप्त, 'मधुआ' में शराबी, 'गुण्डा' में नन्हकू सिंह, 'सालवती' में अभय विलक्षण व्यक्तित्व-सम्पन्न, संवेदनशील तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से युक्त हैं।

प्रसाद की कहानियों की भाषा कवित्वपूर्ण है। उनमें काव्यमय सांकेतिकता,

---

1. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : डॉ० गिरीश रस्तोगी, जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 38
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 25

संक्षिप्तता व चित्रात्मकता, तथा प्रसंगानुकूलता भी है। कई कहानियों में प्रसाद की भाषा की अभिजातता अपने भव्य रूप में है, जैसे—'पुरस्कार' तथा 'समुद्र संतरण'। 'गुण्डा', 'मधुआ' आदि कहानियों में भाषा का दूसरा रूप वर्तमान है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल जब कहते हैं कि—'छाया', 'प्रतिध्वनि' की कहानियां तरुण रोमांटिक कवि के भावचित्र हैं। 'आकाशदीप' की कहानियां विकसित होकर जीवन के प्रति एक जागरूक भावात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करती हैं, लेकिन इस काल की कहानियों में जीवन-दर्शन की पैठ और कलात्मक स्तर की ऊंचाई दोनों का संयोग अपूर्ण है।' तो प्रसाद की विकास-भूमियों का क्रम काफी स्पष्ट होकर सामने उपस्थित हो जाता है।

'प्रसाद का कथा-साहित्य' में यह मत व्यक्त किया गया है कि—'अपनी कहानियों में विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए प्रसाद वर्णन से चित्रण की ओर, कथन शैली से सांकेतिकता की ओर बढ़े हैं। उनकी आरम्भिक कहानियां अधिकांशतः वर्णनात्मक हैं, लेकिन आगे चलकर संकेततत्व, व्यंजना, सौन्दर्य बढ़ता गया है। यही प्रसाद की वास्तविक कला है—व्यंजनाओं, संकेतों में बहुत-कुछ कह देना। इस सांकेतिकता ने शिल्प को कला है। भाषा की काव्यात्मकता, लाक्षणिकता, व्यंजकता इष्टव्य है।'[2] प्रसाद की कहानियों का शिल्प किसी तरह की परम्परा या कलातत्वों के अनुसरण का विरोध करता है तथा उनकी नाटकीय प्रेरणा से युक्त इन कहानियों के सन्दर्भ में यह उपयुक्त भी नहीं है। बल्कि डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के इस कथन को तर्कसंगत मानना चाहिए कि 'प्रसाद की कहानियों की सृष्टि और उनका उद्गम काव्य और नाटक की परिष्कृत भावनाओं से हुआ है, कहानी-कला की सामान्य सीमाओं में नहीं। प्रसाद की कहानियों की शिल्पविधि के अध्ययन में इसे निश्चय ही इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा।'[3]

प्रसाद के समूचे व्यक्तित्व और उनके कथा-संसार को हिन्दी कहानी से जोड़ते हुए डॉ० बच्चन सिंह का कथन अपने में पर्याप्त जान पड़ता है। प्रसिद्ध कहानीकार 'प्रसाद ने अपनी कहानियों में गुलेरी की कतिपय तकनीकी विशेषताओं को ग्रहण किया है, पर वे मूलतः 'प्रगीतात्मक' (लिरिकल) हैं: प्रगीतों में कथा

---

1. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 28
2. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : डॉ० गिरीश रस्तोगी, गिरीशचन्द श्रीवास्तव, पृ० 41
3. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 182

तत्व कम भावतत्व अधिक होता है। वे छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं। अतीत के शौर्यमूलक चित्रों, प्रभावशाली प्राकृतिक वातावरणों, प्रेमगत अन्तर्द्वन्द्वों में उनका मन अधिक रमा है। प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण में सर्वाधिक मनोयोग से काम लिया है। प्रतीकात्मकता के सभी तत्व—अधिक घनत्वपूर्ण वेदना, एकतानता आदि के लिए 'बिसाती' द्रष्टव्य है।'[1]

प्रसाद ने पत्र-शैली में भी एक कहानी लिखी है—'बिसाती'। रोमांटिक कवि होने के नाते उनकी कहानियों का शिल्प काव्यात्मक और नाटकीय है।

डॉ० देवीशंकर अवस्थी प्रसाद के कहानीकार की समस्त विशेषताओं को समेटते हुए इस प्रकार कहते हैं—'प्रेमचन्द के समकालीन होते हुए भी उनकी कहानियां अपने रूप, शिल्प और भाव में एकदम अलग हैं। चरित्र-अंकन की प्रवृत्ति उनमें भी है, पर उनकी कहानियों में कविता-जैसी भावुकता है, अतीत के धुंधले काल को अपनी कल्पना की रंगीनी के सहारे उन्होंने चित्रित किया है। काव्य की तरह के मोहक प्रकृति-चित्र, कविता-जैसी अलंकार-योजना भावुकता-पूर्ण उच्छ्वास उनकी कहानियों की प्रमुख विशेषताएं हैं।'''वस्तुतः प्रसाद की मूल प्रकृति-कवि की थी—कहानी भी उसी कवित्व का प्रकाश है। फिर आदर्शवादी, कल्पना-प्रधान, ऐतिहासिक भावमयी कहानियों के क्षेत्र में प्रसाद ही सर्वश्रेष्ठ हैं।'[2]

जैसा कि पहले कहा जा चुका, करुणा और प्रेम जयशंकर प्रसाद की कहानियों के प्रमुख तत्व हैं। करुणा को रचना का प्रमुख तत्व मुक्तिबोध और प्रेमचन्द भी मानते हैं। जयशंकर के द्वारा प्रयुक्त करुणा और प्रेम अत्यधिक व्यापक हैं। अपने मन के भीतर जूझते हुए व्यक्ति के प्रति करुणा की भावना व्यक्तियों को समझने में प्रमुख भूमिका भी निभाती है। जयशंकर प्रसाद की कहानियों में एक अजीब प्रकार की रहस्यात्मकता पाई जाती है, जो पाठक पर कहानी के प्रभाव को अधिक गम्भीर, चिन्तनपरक और संवेदनायुक्त बनाती है। 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'गुण्डा', 'मधुआ', 'सालवती', 'आंधी', आदि कहानियां कर्तव्य, अन्तर्वेदना, मनोव्यथा, कर्तव्य और प्रेम के अन्तर्द्वन्द्व, अन्तर्जगत और बाह्य-जगत् के द्वन्द्व आदि को अत्यन्त गहराई से संवेदित करती हैं। कहानियों की पूरी संरचना प्रसाद की काव्यभाषा के सामर्थ्य के कारण मन को बांधती है और पाठक का ध्यान कहानी के पाठ की ओर खींचती है, जबकि प्रेमचन्द की कहानियां पाठक के ध्यान को कहानी के पाठ की ओर नहीं बल्कि कहानी-द्वारा संकेतित समाज की ओर मोड़ती हैं। जयशंकर प्रसाद की कहानियों का यह गुण एक

1. 'प्रतिनिधि कहानियां' : डॉ० बच्चन सिंह, पृ० 4
2. कहानी विविधा : डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 10

प्रकार से उनके समस्त साहित्य में पाए जाने वाले गुणों के समान ही है। उनकी कहानियों ने हिन्दी-कथा-साहित्य को गहरी अन्तर्दृष्टि और अन्तर्जगत के भीतर प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता प्रदान की है।

सुदर्शन

प्रेमचन्दीय परम्परा का निर्वाह करने वाले व लगभग समकालीन कथाकार पं० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' ने उन्हीं के समान अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ उर्दू-लेखन से किया था। प्रेमचन्द-युग के कहानीकारों में उनका श्रेष्ठ स्थान है और उनकी गणना सफल कहानीकारों में की जाती है।

'जिस समय सुदर्शन ने कहानियों की रचना प्रारम्भ की उस समय या तो सादे ढंग से केवल कुछ अत्यन्त व्यंजक घटनाएं और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्रगति से किसी एक गम्भीर संवेदना मनोभाव में पर्यवसित होने वाली कहानियों का प्रचार था या 'परिस्थितियों के विशद और मार्मिक—कभी-कभी रमणीय और अलंकृत—वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मन्द-मन्थर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित' होने वाली कहानियों का प्रचार था। प्रेमचन्द की भांति सुदर्शन ने इन दोनों पद्धतियों के बीच की पद्धति ग्रहण की और घटनाओं के चित्रण के साथ-साथ अपनी ओर से भी व्याख्या प्रस्तुत की।[1] प्रेमचन्द के ही समान 'सुदर्शन में सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का आग्रह देखा जा सकता है।'[2]

'हार की जीत,' 'न्यायमंदी,' 'एवेंस का सत्याथीं' व 'कवि की स्त्री' आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं। बाद में आगे चलकर 'हार की जीत' नाम से एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ, जिसमें 'सत्यमार्ग,' 'फ़ैब' तथा 'एक अमरीकन रमणी' आदि एक-से-एक प्रभावशाली कहानियां संगृहीत हैं। 'हार की जीत' कहानी में आदर्श और यथार्थ के बीच संघर्ष चलता है, परन्तु विजय अन्त में आदर्श की ही होती है। आदर्श की नींव पर अवस्थित यह कहानी दो परस्पर-विरोधी चरित्रों बाबा भारती और खड्गसिंह के माध्यम से आगे बढ़ती है। इस कहानी के नायक बाबा भारती के मन में उठते द्वन्दों को लेखक ने बड़े सफल रूप में उपस्थित किया है और इसी तरह के चरित्रों की सृष्टि-रचना में सुदर्शन प्रेमचन्द के निकट दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचन्द और सुदर्शन दोनों कथावस्तु और शिल्प की दृष्टि से मौलिक प्रतिभा के धनी होते हुए भी; कई बातों में समान हैं। दोनों का ही विषय-

---

1. 'हिन्दी साहित्य-कोश' : (भाग-2), पृ० 600
2. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तर्यात्रा' : डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ, पृ० 24

क्षेत्र व्यापक है, दोनों ही आदर्शवादी विचारों के संवाहक हैं, दोनों ही शैली की अपेक्षा वस्तु, चरित्र-चित्रण और लेखकीय दृष्टि की महत्ता स्वीकार करते हैं।

यूं प्रेमचन्द-युग में कई अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक भी हैं, पर उनमें सुदर्शन ही एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जो कई स्तरों पर प्रेमचन्द के समानधर्मा प्रतीत होते हैं। इसके साथ-ही-साथ कहीं-कहीं तो उन्हें प्रेमचन्द से भी श्रेष्ठ कहानीकार प्रमाणित करते हुए कहा गया है—'सुदर्शन एक दृष्टि से उसी (प्रेमचन्दीय) सुधारवादी परम्परा के कथाकार है, किन्तु उनकी प्रक्रिया प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक गहन है। सुदर्शन की कहानियों का मूल-बिन्दु सच और झूठ के द्वन्द्व का वह रूप है, जिसके प्रभाव में व्यक्ति निरन्तर उलझता जा रहा है। अपनी प्रारम्भिक कहानियों में सुदर्शन ने भी सुधारवादी निष्कर्ष ही दिए हैं, किन्तु प्रेमचन्द की अपेक्षा सुदर्शन के निदर्शन तार्किक अधिक हैं। सुदर्शन के पात्रों का भी हृदय-परिवर्तन होता है, किन्तु उसके लिए वह तर्कों द्वारा पाठक को पूरी सहानुभूति संचित कर लेते हैं। 'हार की जीत,' 'सच का सौदा', और 'न्यायमंत्री' कहानियों में सुदर्शन का प्रारम्भिक रूप अपने पूर्ण तार्किक रूप में सामने आता है और सुदर्शन का 'सत्य' अन्त में 'एथेन्स का सत्यार्थी' में आकर नंगा हो जाता है। प्रेमचन्द का निष्कर्ष भी अन्त में यही है कि नंगा सत्य मनुष्य की दृष्टि से परे है, किन्तु सुदर्शन की दृष्टि अधिक वैज्ञानिक लगती है।'[1]

सुदर्शन के साथ ही कौशिक भी प्रेमचन्द की कथा-परम्परा का विकास करने वाले लेखकों में से हैं। डॉ० रामदरस मिश्र सुदर्शन व कौशिक को कहीं प्रेमचन्द से श्रेष्ठ व कहीं समान मानते हुए भी अन्त में प्रेमचन्द की उस यथार्थपरक दृष्टि की ओर संकेत करते हैं, जो उनकी 'कफन' व 'पूस की रात' जैसी कहानियों की उपलब्धि है—'ये लेखक प्रेमचन्द की वह यथार्थवादी दृष्टि नहीं पा सके हैं, जो समाज को उसकी समग्रता में पहचान लेती है, जो समाज के अनेक वर्गों और चरित्रों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनके मूल में काम करने वाली बुनियादी आर्थिक चेतनाओं को एक साथ समझ लेती है।'[2]

सुदर्शन कहानी को (साहित्य को) समाज और राष्ट्र पर स्थायी प्रभाव डालने वाली विधा स्वीकार करते थे, इसीलिए उन्होंने मानव के उदात्तभावों को अपनी कहानियों का आदर्श बनाया है। इनकी कहानियों में कविता और कला के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इनमें 'कमल की बेटी' और 'बेजूबावरा' मुख्य हैं। इनकी विचारप्रधान कहानियों में विदेशी पृष्ठभूमि पर आधारित

---

1. हिन्दी-कहानी : 15 पक्षचिह्न' : सम्पा० प्रो० महेन्द्र प्रताप एवं बटरोही, पृ० 31
2. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग परिचय' : डॉ० रामदरस मिश्र, पृ० 13

'एथेन्स का सत्यार्थी' को लिया जा सकता है। इसमें सत्य के रहस्य का तात्त्विक विवेचन कलात्मक रूप में प्रस्तुत है। सुदर्शन की कहानियों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय लिखते हैं—'उनकी कहानियों का मूल चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करना रहा है, जिसके लिए उन्होंने आदर्शवाद का सहारा लिया है और मनोविज्ञान के आधार पर आन्तरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। कहीं-कहीं इन पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए मनोविश्लेषण को भी माध्यम बनाया है। स्थूलता को प्रश्रय देने के बाद भी उनकी कहानियों में वातावरण के बारीक-से-बारीक रेशे भी उभरकर आए हैं, अतः उनकी कहानियों में एक विशेष प्रभाव और प्रवाह आ गया है।'[1] उनकी कहानियों का यह विशेष प्रभाव कहानियों की उस विशेष बनावट से पैदा होता है, जो भारतीय आख्यान-परम्परा की देन है।

वस्तुतः सुदर्शन जिज्ञासा, कौतूहल, मनोरंजन आदि तत्त्वों को कहानी की बनावट में प्रेमचन्द की तुलना में अधिक इस्तेमाल करते हैं और कहानी लिखते समय एक नैतिक उद्देश्य कहानियों को एक निष्कर्षात्मकता प्रदान करता है। यह निष्कर्षात्मकता पलटकर कहानियों पर कोई रोशनी नहीं फेंकती है, जबकि प्रेमचन्द की कहानियों की निष्कर्षात्मकता उनकी कहानियों पर पलटकर रोशनी फेंकती है। 'साहित्यकोश' और 'भारतीय साहित्यकोश' में उनके बारे में दी गई टिप्पणी का यह अंश सही है कि—'कथा-संगठन में उत्सुकतापूर्ण स्थल रखकर वे उसमें सौन्दर्य उत्पन्न करते और पाठक का मन रमाए रहते हैं। शान्त और गम्भीर रूप में प्रवाहित होती हुई कथा किसी स्थल पर एकदम परिवर्तित होकर आश्चर्य की सृष्टि करती है। कथोपकथन और चरित्र की दृष्टि से भी उनकी कहानियां सफल हैं। सुदर्शन की कहानियों की भाषा स्वाभाविक और साहित्यपूर्ण है। उनकी रचना-शैली में एक विशिष्टता है, जो तुरन्त पहचानी जा सकती है।'[2]

कहानी के विषय में और उसकी अन्तर्वस्तु में एक आवयविक संगति होती है और कहानीकार इसे कितनी गहराई तक पकड़ और दिखा पाता है, यही उसकी दृष्टि का सवाल भी है और कौशल का भी। इस सन्दर्भ में 'घटनाओं के उत्सुकतापूर्ण नियोजन, परिमार्जित और प्रभावपूर्ण भाषा, सरल वाक्य-विन्यास एवं लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से पाठक के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ देने में इन्हें कमाल हासिल है।'[3] कथन से सुदर्शन के कहानीकार

1. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृ० 52
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग-2) सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 600
3. 'भारतीय साहित्यकोश' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 1363

में कहानी की वस्तुगत और विधागत, दोनों चेतनाओं का समावेश मिलता है।

सुदर्शन की 'कवि की स्त्री,' 'अंधेरी दुनिया'—जैसी कहानियों की संरचना आत्मकथात्मक शैली से युक्त है। इन कहानियों के पात्र उत्तम-पुरुष (मैं) में कथा को आगे बढ़ाते हैं। 'अंधेरी दुनिया' कहानी में सारी कहानी इसकी नायिका रजनी इसी चरित्र-शैली के माध्यम से पूरी करती है। 'कवि की स्त्री' भी ऐसी ही कहानी है। इसमें सत्यवान, सावित्री और मणिराम आदि पात्रों के आत्मकथनों के द्वारा क्रमशः कहानी आगे बढ़ती हुई सम्पूर्ण होती है। लेखक मणिराम और सत्यवान के प्रेम की तुलना करते हुए उपमाओं की भाषा-सी पिरो देता है : 'एक चन्द्रमा की चांदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध करने वाला। एक समुद्र की नाईं गहन-गम्भीर, दूसरा पहाड़ी नाले के समान वेगवान। एक सचाई था, परन्तु निःशब्द; दूसरा झूठा, पर बड़बोला।'[1] प्रेमचन्द की भांति सुदर्शन भी कहानियों के बीच-बीच में सूक्तियों की रचना करते चलते हैं : यथा—प्रकृति जहां दुराचार को जाना होता है, वहां निर्लज्जता को भेज देती है।'[2] 'मनुष्य मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है।'[3]

'कवि की स्त्री' कहानी में प्रयुक्त 'तृष्णा अपने पैर आगे बढ़ा रही थी'[4] वाक्य मानवीकरण की अपूर्व सृष्टि करता है।

सुदर्शन की 'बलिदान' कहानी पत्र-शैली में है, इसमें कुल ग्यारह पत्र हैं और इन्हीं पत्रों के जरिए कहानी के कथानक और चरित्रों का विकास होता है। यह शैली अपनी प्रक्रिया में जटिल एवं दोषपूर्ण होने के कारण अधिक प्रचलन में नहीं रही। प्रयोग में दृष्टि से केवल कुछ गिनी-चुनी कहानियां ही इस शैली में लिखी गईं।

सुदर्शन में प्रेमचन्द की बहिर्मुखी एवं प्रसाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, दोनों का समन्वित रूप देखने को मिलता है। प्रेमचन्द की परम्परा का निर्वाह करते हुए भी इन्होंने कहानी के क्षेत्र में कई प्रयोग भी किए हैं और प्रेमचन्द की भांति उनके लेखन में भी क्रमगत विकार आता गया। जो 'मायामंत्री' से लेकर 'एथेन्स का सत्यार्थी' तक में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है।

---

1. 'हिन्दी कहानियां' : सम्पा० डॉ० श्रीकृष्ण लाल, पृ० 75
2. वही पृ० 74
3. वही पृ० 75
4. वही, पृ० 71

यशपाल

यशपाल प्रेमचन्दोत्तर युग के सर्वाधिक समर्थ, सशक्त समाजवादी कथाकार हैं। पहले-पहल कहानीकार के रूप में उन्होंने हिन्दी-साहित्य में अपने कदम रखे। उपन्यासकार की अपेक्षा कहानीकार के रूप में वे अत्यधिक सजग, व्यावहारिक एवं यथार्थवादी प्रतीत होते हैं। उनकी कहानियों में विविध परिवेशों में जीवन की समग्रता को उभारने और अंकित करने का सफल प्रयास हुआ है। उन्होंने मानव-प्रगति एवं हित-साधना की प्रेरणा से सामाजिक एवं राजनीतिक पहलुओं को सफलता के साथ स्वर एवं आकार प्रदान किया है। 'शक्ति बनकर उठने वालों में प्रेमचन्द के बाद ही दूसरा नाम यशपाल का है। यशपाल ने जिस साहस से एक भिन्न राजनीतिक, उग्र विचारधारा के साथ सामयिक प्रश्नों और सामाजिक विसंगतियों का सामना किया, उसमें युवा-मन के विद्रोह ने अपना भी स्वर पाया और शीघ्र ही जाने कितनों के स्वर उसमें आ मिले। कला की सामाजिक सोद्देश्यता और उपयोगिता के उनके नारे ने भटकते बुद्धिजीवी को एक विचारधारा के अनुरूप सोचने को बाध्य और संगठित ही नहीं किया, कहानी के टूटते स्वरूप को एक बार फिर पुरानी शास्त्रीयता के स्तर पर स्थापित कर दिया।'[1]

प्रेमचन्द के बाद यदि यशपाल को अपार स्वीकृति मिली, तो इसकी वजह एकदम साफ थी, और वह थी—सामाजिक सार्थकता के साहित्य की निरन्तर बढ़ती हुई उपयोगिता की समझ।[2] डॉ० नामवर सिंह के कथनानुसार आधुनिक कहानीकारों में केवल यशपाल के पास ऐसी पैनी दृष्टि है, जो अपने आस-पास की घटना में कहानी ढूंढ़ लेने की क्षमता रखती है।[3]

यशपाल के कथा-साहित्य में प्रेमचन्दीय सामाजिकता, मार्क्सवादी विचारधारा और आधुनिक विचारधाराओं के सम्मिलित प्रभाव को देखा जा सकता है। वे मूलतः प्रेमचन्द की ही परम्परा के लेखक थे। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में—'इनकी कहानी-कला को इस परम्परा का इसलिए माना जा सकता है कि इसकी रचना-प्रक्रिया के मूल में जो जीवन-बोध है, वह समष्टि-चिन्तन से प्रभावित है।' प्रेमचन्द की अपेक्षा यशपाल की सामाजिक-राजनीतिक चेतना अधिक गहरी है तथा वो सुधारवादी दृष्टिकोण की जगह निर्मम प्रहार करने व निर्माण के पक्षधर हैं। 'वह पहले कहानीकार थे, जिन्होंने एक सुनिश्चित

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव पृ० 33
2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कोश' : सम्पा० महेश दर्पण पृ० 6
3. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह पृ० 27

विचारधारा और जीवन-दर्शन को लेकर कहानियां लिखीं।'[1]

मधुरेश यशपाल की कहानियों में विद्यमान सामाजिकता के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'आज की कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' में विस्तार से टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

'यशपाल की कहानियां प्रायः ही किसी असंगति या अन्तर्विरोध को सामने लाती हैं और सप्रयोजन एवं समाज-सापेक्ष साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। सामाजिक असंगतियों और अर्थहीन रूढ़ मान्यताओं का विरोध और नये समाज की रचना का संकल्प ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। इस सामाजिक प्रयोजन ने ही उनकी कहानियों की रचना-प्रक्रिया को एक निश्चित—और किसी हद तक एकांगी भी—ढांचा दिया है। कोई समस्या या समाज में व्याप्त असंगति वह देखते हैं और वही उनकी कहानी का आधार बन जाती है।' इस प्रकार कहानी का विचार या विषय ही उनके लिए सर्वप्रमुख है, जैसा कि अपनी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए वह स्वयं लिखते हैं : 'मेरे लिए विषय मुख्य रहता है। पात्र उसके अनुरूप मैं गढ़ लेता हूं। पात्र को लेकर कहानी बनाने का यत्न मैं नहीं करता, ऐसा करने से मेरे विचार में रचना कहानी के बजाय शब्द-चित्र बन जाती है।'[2]

विषय के चुनाव और कहानी के गढ़ने में उनके दो उद्देश्य थे—'यह ठीक है कि अपनी रचना से जीविका की आशा करता हूं, तो इन रचनाओं से समाज को मनोरंजन या सन्तोष देना ही होगा, परन्तु अपने सन्तोष की भी उपेक्षा नहीं कर सकता।'''समाज को मनोरंजन का सन्तोष देने के साथ-साथ इन रचनाओं द्वारा समाज को सचेत कर सकने के अपने विचार में कर्तव्यपूर्ति के सन्तोष के लिए भी यत्न करता रहता है।'[3]

यशपाल के उपरोक्त कथनों के विपरीत गोविन्द मिश्र तर्क देते हैं, 'यशपाल आज सिर्फ उन्हीं कुछ कहानियों के लिए याद किये जाते हैं, जहां मनोरंजन और समाज-सुधार—ये उनके दोनों धर्म उनके अनचाहे भी दब गए हैं, जैसे—'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूं'-जैसी कहानियां—जहां न तो मनोरंजन के लिए की गई कल्पना की अतिरिक्त उड़ानें हैं और न किसी संस्कार पर चोट करने के लिए उसे उठाने की अतिरिक्त कोशिश। यशपाल का मनोरंजन और समाज-सुधार का फार्मूला किताबी तो था ही, यह उन्हें विपरीत दिशाओं की ओर ले गया, जिससे एक तरफ न तो वह प्रेमचंद—जैसे जीवित पात्रों की रचना कर सके और

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 33
2. 'मैं कहानी कैसे लिखता हूं' : 'कहानी' (वार्षिकांक : 1955) पृ० 390
3. 'मैं कहानी कैसे लिखता हूं' : कहानी ('वार्षिकांक : : 1955'), पृ० 390

दूसरी तरफ न कल्पना-लोक में जैनेन्द्र-जैसी उड़ानें भर सके। लेखकीय निजत्व की कमी के कारण ही शायद वह इस तरह के अधूरे मिसचर पर आकर टिक गए और इसीलिए उनकी कहानियों का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता।'[1]

वास्तविकता के प्रति मार्मिक लगाव और विचारधारात्मक गहराई ने उन्हें भारतीय समाज को प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थ से प्रस्तुत करने में मदद की। 'भारतीय समाज में व्याप्त वार्षिक और सामाजिक विषमता, निरर्थक आदर्शवादिता, रूढ़िवादिता, यथार्थविमुखता, दीनता, भूख, बेकारी आदि का चित्रण और उनके विरुद्ध निर्मम प्रहार, नये नैतिक मूल्यों की स्थापना आदि' इनकी कहानियों का मूल स्वर है।'[2] मार्कण्डेय मानते हैं—यशपाल जीवन के प्रति नहीं, उन बाधाओं के प्रति प्रतिश्रुत हैं, जो जीवन के विकास के मार्ग में आ पड़ी हैं।

फलतः 'यशपाल ने जाहिरा तौर पर जीवन की जिन समस्याओं का चुनाव किया, वे प्रगतिशील तो थीं, लेकिन उनसे कहानी की मूल प्रकृति पर कोई अन्तर नहीं आया।'[3]

'यशपाल तन-मन से मॉडर्न आदमी हैं और यह आधुनिकता उनकी कहानियों में भी झलकती है—लेकिन उनके समाजगत विचारों में ही।'[4] यशपाल वास्तव में प्रेमचन्द-परम्परा के कहानीकार आंशिक रूप में कहे जा सकते हैं। 'यशपाल तथा प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होकर भी समान नहीं है, न ही इन कहानीकारों में युग-बोध की समानता है। इनके विभिन्न व्यक्तिगत संस्कारों के फलस्वरूप भी इनकी कहानी के स्वरूप का भिन्न होना स्वाभाविक है। जहां तक मार्क्सवाद का सम्बन्ध है इनकी सब कहानियों में इसके चिन्तन का पुट नहीं है। इनमें कभी प्रेमचन्दीय सुधारवाद है (सबकी इज्जत), तो कभी रोमांस का गहरा रंग है (मक्रील), कभी भावुकता की गहरी छाप है (मन की पुकार), तो कभी व्यक्तित्ववाद का स्वर है (होली नहीं खेलता)। यशपाल पहले विचारक हैं और बाद में कहानीकार।' उनकी अधिकांश कहानियां मार्क्सवादी विचारधारा की संवाहक हैं। मार्क्सवाद के सूत्रों को उन्होंने अपनी कहानियों के द्वारा इस रूप में प्रकट किया है कि वर्तमान समाज की असलियत इस रूप में सामने आ जाए कि पाठक समाज को बदलने की कामना करने लगे। उन्होंने समाज के परम्परागत मूल्यों एवं रूढ़ियों के विरुद्ध व्यंग्य-प्रहार किए। अपनी रचनाओं के मूलभूत सूत्र के विषय में वो स्वयं कहते हैं : 'व्यक्ति और समाज का

---

1. 'स्थितियां रेखांकित' : सम्पा०—गोविन्द मिश्र, पृ० 7-8
2. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 1029
3. 'कहानी की बात' : मार्कण्डेय, पृ० 77
4. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : 'अज्ञेय', पृ० 254

जीवन परम्परागत नैतिक धारणाओं और मान्यताओं का अनुसरण करने के लिए नहीं है। समाज की नैतिक मान्यताओं का प्रयोजन सामाजिक व्यवस्था में और समाज के उत्तरोत्तर विकास में सहायक होना है।'[1] यशपाल ने मुख्य रूप से मध्यवर्गीय यथार्थ जीवन पर आधारित बहुत ही मर्मस्पर्शी कहानियों की रचना की है। 'मध्यवर्गीय भारतीय समाज की असंगतियों, विरोधाभासों, झूठी प्रतिष्ठा आदि विभिन्न विषमताओं को उजागर करने में इन्हें कमाल हासिल है।'[2] इनके प्रमुख कहानी-संग्रहों के नाम हैं—'पिंजड़े की उड़ान', 'वो दुनिया', 'तर्क का तूफान', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', 'भस्मावृत चिंगारी', 'फूलो का कुर्ता', 'धर्मयुद्ध', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक', 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूं', 'उत्तमी की मां', 'ओ भैरवी', 'सच बोलने की भूल', 'खच्चर और आदमी'।

यशपाल प्रेमचन्द परम्परा के कहानीकार कहे जाते हैं, परन्तु उनकी कहानियों को प्रेमचन्द या उनके खेमे के कहानीकारों की कहानियों से पूर्णतः नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि कथन-भंगिमा भले ही थोड़ी-बहुत मिलती हो, परन्तु कथा-वस्तु के चुनाव, उस कथा-वस्तु को काल्पनिकता के आवरण में प्रस्तुत करने और व्यक्ति को सामाजिकता में नहीं, वरन् व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में देखने की उनकी दृष्टि न केवल प्रेमचन्द बल्कि परवर्ती कहानीकारों से भी उन्हें अलग करती है। यशपाल को काल्पनिक घटनाएं गढ़ना प्रिय है, जिससे कि प्रेमचन्द पूर्णतः निजात पा चुके थे। वे अपनी कहानियों में काल्पनिक घटनाओं की उपस्थिति स्वयं स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है—'मेरी कहानियों में वर्णित घटनाएं मेरी व्यक्तिगत जानकारी में पार्थिव या भौतिक रूप से कभी घटी नहीं। इसलिए कोई उन्हें अयथार्थ भी कह सकता है। मैं मानता हूं, वे घटनाएं तथ्य नहीं हैं, परन्तु उन घटनाओं में जिन मूल कारणों, मान्यताओं, व्यवहारों और भावनाओं की ओर संकेत है, वे कारण, मान्यताएं, व्यवहार और भावनाएं यथार्थ हैं।'[3]

प्रायः ही यशपाल दो परस्पर विरोधी विचारों, आदर्शों का नियोजन अपनी कहानियों में करते हैं और जिस पक्ष का खण्डन उन्हें करना होता है, उस पक्ष का दायित्व वो स्वयं पात्र के रूप में उपस्थित होकर निबाहने लगते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें व्यंग्य का इस्तेमाल भी करना पड़ता है। 'दो परिस्थितियों का वैषम्य प्रदर्शित कर व्यंग्य की सर्जना उनकी एक प्रमुख विशेषता है।'[4] इसके

---

1. 'मेरी प्रिय कहानियां' : यशपाल, पृ० 7
2. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 1029
3. 'सारिका', (अगस्त 1962)
4. 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग-2 : सम्पा—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 432

कहानियां प्रायः कमजोर भी हुई हैं। इस प्रवृत्ति से युक्त यशपाल की कहानियों में 'कलाकार की आत्महत्या', 'अभिशप्त', 'कोकला डकैत', 'पाप की कीचड़', 'पाव तले की डाल' और 'सत्य का द्वन्द्व' आदि हैं।

धर्मयुद्ध उनकी प्रतिनिधि कहानी है, परन्तु इसका शिल्प रूढ़ नहीं है और रचना-प्रक्रिया भी थोड़ा भिन्न है। इसमें यशपाल एक मध्यवर्गीय परिवार के परिप्रेक्ष्य में दो विरोधी मान्यताओं और जीवन-पद्धतियों को तो सबके समक्ष प्रस्तुत करते हैं परन्तु स्वयं कहीं पात्र के रूप में नहीं अवतरित होते। मि० कन्हैयालाल के आधुनिक विचारों और उनके परिवार वालों की रूढ़िवादिता को लेखक पूरी स्वाभाविकता और ईमानदारी से उभारकर समस्या को पूरे सन्दर्भ में और नाटकीय ढंग से सामने रखता है। घटनाओं के संयोजन एवं स्थितियों को विश्वसनीय तथा सहज स्वाभाविक ढंग से गढ़ने में यशपाल को कमाल हासिल है। स्थिति में स्वाभाविकता लाने और नाटकीय उद्भावना के लिए ही लेखक ने कन्हैयालाल की बहन विद्या की अवतारणा की है।

'धर्मयुद्ध' रूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध उत्पन्न एक धार्मिक और प्रभावशाली कहानी बन पड़ी है। पूरी कहानी का कथ्य और उसके अनुरूप और वर्णन व्यंग्य-पूर्ण है। पूरी कहानी में लेखक की ओर से कोई अनावश्यक टिप्पणी नहीं है। उसने अत्यन्त तटस्थ और संयत ढंग से समस्या को उभारा है और जिस कोण से उसने समस्या को स्वयं देखा-समझा है उस कोण पर ही वह अपने पाठकों को लाकर अलग हट जाता है, बहुत कुछ उसी ढंग से, जैसे राजेन्द्र यादव 'पास-फेल,' 'चिरादरी-बाहर' या 'छोटे-छोटे ताजमहल' की ही कुछ और कहानियों में करते हैं।[1] यशपाल की कथा-चिन्तन उनके सामाजिक चिन्तन का पर्याय है। मधुरेश ने ठीक कहा है कि—'कलाकार का अपने विषय के प्रति दृष्टिकोण उसकी कला के स्वरूप को भी निर्धारित कर देता है, यह बात जितनी सटीक यशपाल के साथ बैठती है, उतनी उसके समकालीनों के साथ नहीं। अपने सुनिश्चित विचारों को प्रकट करने के उत्साह में उन्हें कहानी के साथ प्रयोग करने की न तो आवश्यकता महसूस होती है, न अवकाश। उनकी कहानी प्रायः एक ही है, विचार की दृष्टि से घटनाओं की कल्पना या चुनाव कर लेना और फिर परिस्थिति में उस विचार या समस्या के हल को ध्वनित कर देना।'[2]

'पर्दा' कहानी में यशपाल ने आर्थिक विषमता का चित्रण किया है। पर्दा प्रतीक है गरीबों की इज्जत, सम्मान व प्रतिष्ठा का। कुंठाग्रस्त मध्यवर्गीय दयनीयता की मिसाल है उनकी कहानी 'चार आने'। मध्यवर्ग झूठी और कृत्रिम

1. 'आज की कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 4-5
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना'—राजेन्द्र यादव, पृ० 35

प्रतिष्ठा के बोझ को ढोते-ढोते कितना दीन-हीन और विवश हो जाता है, यह सत्य इस कहानी में लेखक ने उजागर किया है। 'पहाड़ की 'स्मृति' कहानी एक अधेड़ पहाड़न के परदेस गये हुए पति की लम्बी दर्दभरी प्रतीक्षा से युक्त है। इस कहानी के माध्यम से लेखक पहाड़ी लोगों के भोलेपन व सरलता की तरफ भी इशारा करता है। इतने बड़े शहर लाहौर में रहने वाले अपने आदमी का परिचय वह पहाड़न इन शब्दों में देती है : वह लाहौर का रहने वाला है। लम्बा है, गोरा-गोरा, प्यारी-प्यारी आंखें है, तुमसे कुछ जवान, भूरा-भूरा कोट पहनता है, रेशमी साफा बांधता है, वह लाहौर का रहने वाला है।'[1] यह समझना उसकी बुद्धि से परे है कि लाहौर में यात्र इतनी-सी पहचान से उसे नहीं ढूंढ़ा जा सकता, जब तक कि गली-मुहल्ले का पता न मालूम हो। 'सच बोलने की भूल' कहानी भी पहाड़ी इम्पत्ति के सरल-निश्छल स्वभाव तथा कथा-उद्घाटन करने वाली मर्मस्पर्शी कहानी है। अन्त में लेखक, जो नायक की जगह प्रतिष्ठित है, सोचता है—'किस भूल के लिए अधिक लज्जा अनुभव करूं—काल्पनिक भय में पसीना-पसीना हो जाने की भूल के लिए या सच बोल देने की भूल के लिए।'[2] मां के लिए पुत्र की कीमत पर बड़े-से-बड़ा प्रलोभन भी तुच्छ है, पुत्र के लिए वह अपने निजी स्वार्थों का त्याग सहर्ष कर देती है। 'उत्तराधिकारी' कहानी में इस भावना के चित्रण के साथ ही लेखक ने हरसिंह नामक अपने वंश के उत्तराधिकारी के प्रति तड़प को भी बड़ी कुशलता के साथ दर्शाया है।

'घटनाओं का समुचित नियोजन करते हुए रोचकता की सृष्टि और निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति इनकी कहानियों के शिल्प-विधान की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं।'[3]

'यशपाल हिन्दी कहानी में प्रेमचन्द, प्रसाद और जैनेन्द्र के बाद आये, इसलिए उन्हें कहानियों की कलात्मकता के प्रयोग के महत्त्व का ज्ञान था। राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि—'प्रेमचन्द की तुलना में यशपाल में अधिक कलात्मक अन्तर्दृष्टि है और उन्होंने अपनी इस प्रतिभा से जहां हिन्दी कहानी को दर्जनों प्रथम श्रेणी की उत्कृष्ट कहानियां दीं, वहीं कहानी के शिल्प को पोथापत्रा और ग्राम से आगे नहीं बढ़ने दिया। 'मक्रील', 'तुमने क्यों कहा था, मैं सुन्दर हूं'—जैसी कहानियां इसका अपवाद हैं। वे हर युग और काल से अपना अभिप्राय व्यंजित करने वाली कहानियां निकाल लेते हैं। अपनी बात के लिए घटनाओं और पात्रों के अनुरूप परिस्थितियों का चुनाव, उनके विकास और संघर्ष में

1. 'मेरी प्रिय कहानियां' : यशपाल, पृ० 12
2. वही, पृ० 131
3. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 1029

समाजवादी यथार्थ की युक्ति, विवरण में संयम, पक्षी की आंख पर निशाना साधने की लक्ष्योन्मुखता और वांछनीय प्रभावसृष्टि का जैसा आत्मविश्वास यशपाल में है, उसे विरल ही कहा जाएगा। कहानी के शास्त्रीय सुथरे रूप के के कारण, वैचारिक मतभेद के बावजूद, वह संकीर्णतम समालोचकों द्वारा भी आदृत है और उन्हें सन् 40-50 के बीच का सबसे प्रभावशाली कहानीकार माना जाता है।'[1]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक कहानीकारों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की विशिष्टता असंदिग्ध है। इनका जीवन-सम्बन्धी अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। अपनी कई श्रेष्ठ कहानियों के कथानक इन्होंने इतिहास से ग्रहण किये हैं। बौद्धकाल, मुगलकाल एवं राजपूत काल से सम्बन्धित इनकी कहानियों की संख्या लगभग चार-सौ पचास है, जो कि परिणाम की दृष्टि से विपुल है। इन्होंने उपन्यास, निबन्ध, इतिहास, धर्म, राजनीति, चिकित्सा-शास्त्र, पाकशास्त्र—जैसे अनेकानेक विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई और इन विषयों से सम्बन्धित इनके 86 ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कई पुस्तकें अप्रकाशित भी हैं।

शिल्प एवं संरचना की दृष्टि से अनुपम शास्त्री जी की प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी' मुगलकालीन घटना को लेकर लिखी गई, जिसमें इसकी नायिका की स्वभावगत सरलता और शाहजहां के शक की परिणति की दुखद गाथा पिरोई गई है। इसी प्रकार 'आवाजिन' कहानी में भाग्य की विडम्बना का जिक्र मिलता है। सन् 1857 की क्रांति की पृष्ठभूमि में रचित यह कहानी अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुर शाह 'जफर' की पोती गुलबानू के इर्द-गिर्द बुनी हुई है। 'भारतीय साहित्य कोश' में इन ऐतिहासिक कहानियों में विद्यमान रसाप्लुत शैली की दुर्लभता का संकेत मिलता है।[2]

इनका सम्पूर्ण कहानी-साहित्य 'दुखवा मैं कासे कहूं', 'धरती और आसमान', 'सोया हुआ शहर', 'बाहर-भीतर' एवं 'कहानी खत्म हो गई' इन पांच भागों में प्रकाशित हुआ है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री मूलतः पुनर्जागरण दृष्टि के कहानीकार हैं। एक अर्थ में उन्हें प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का कहानीकार कहा जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने उनके विषय में यही लिखा है कि 'अनेक विषयों पर लिखने के

---

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 35
2. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, पृ० 384

कारण इनमें विस्तार तो है, पर गहराई बहुत कम है। इनकी भाषा-शैली युगानुरूप साचे में नहीं ढली और न पुरानेपन को त्याग सकी। ···भारतीय संस्कृति के गौरवपूर्ण और अन्धकारमय काल को अपना कथ्य बनाकर इन्होंने परतन्त्रता के काल में हमें हमारे गौरवपूर्ण अतीत की झांकी दिखाकर राष्ट्र-निर्माण की दिशा में जो कार्य किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है, भारतीय साहित्य और संस्कृति को इनका यही सच्चा योगदान है।'[1]

शास्त्री जी का कहानियों पर कोई स्वयं का कथा-चिन्तन नहीं मिलता है। कहानी के मूल्यांकन की दृष्टि से अन्य कहानीकारों ने भी उन पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया है, इसलिए उनके कथा-चिन्तन के सन्दर्भ में उनकी कहानियों का विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं हुआ। उनकी कहानियों से जिस कथा-दृष्टि का आभास मिलता है, वह मूलतः वर्तमान को अतीत-बोध ही नहीं, बल्कि अतीत-बोध से भी परिचालित करने का है। अतीतबोध और परम्परामोह जयशंकर प्रसाद में भी है, लेकिन वो अतीत को भविष्य की रोशनी में भी देखते हैं। विपुल कहानी-भण्डार में से सिर्फ कुछ ही कहानियों का ऐतिहासिक महत्त्व का बन पाना चतुरसेन शास्त्री की कहानीकार रूप की सीमाओं को ही दर्शाता है, लेकिन हिन्दी कहानी की परम्परा में, एक कहानीकार के नाते भी चतुरसेन शास्त्री उल्लेखनीय तो है ही।

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न, व्यक्ति-मन की भीतरी दुनिया के चितेरे हैं और मूलतः व्यष्टि-बोध के कहानीकार हैं। उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक-दार्शनिक परिस्थितियों का चित्रण व्यक्ति को केन्द्र में रखकर ही किया गया है। राजेन्द्र यादव का भी मानना है कि—'उनका नायक' व्यक्ति है और प्रायः 'मैं' का प्रतिरूप इस व्यक्ति के साथ प्रारम्भ में कहीं देश और क्रान्ति की पृष्ठभूमि भी है, लेकिन कहानियों में वह सामने नहीं आती। यह व्यक्ति अपनी सामान्य और सहज व्यक्तिगत उलझनों को कहानी का रूप देता है।'[2]

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने जैनेन्द्र की 'कहानी : अनुभव और शिल्प' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि जैनेन्द्र का कथा-क्षेत्र में उद्भव एक आकस्मिक किन्तु अद्भुत ऐतिहासिक घटना है।' कहानी-कला-3' में प्रेमचन्द ने यह लिखा था हम हर विषय की भांति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं

1. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 384
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 28

और जो लेखक मानवीय हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसकी रचना सफल समझी जाती है, इस दृष्टि से जैनेन्द्र प्रेमचन्द्र के द्वारा सुझाए गए रास्ते पर आगे चलकर मानव-मन के गूढ़तम रहस्यों को व्यक्ति-मन के माध्यम से परिभाषित करने वाले कहानीकार हैं। इस प्रकार की कहानियों के लिए जिस सक्षम भाषा की आवश्कता होती है, वह उनमें है।

'हिन्दी कथा-साहित्य के अब तक के इतिहास में प्रेमचन्द्र के समानान्तर और किसी का व्यक्तित्व अनुभव किया जा सकता है, तो सिर्फ जैनेन्द्र जी का। अपनी व्यक्तिमत्ता के प्रति एकाग्रनिष्ठा के कारण ही जैनेन्द्र जी समाजवादी लेखकों की अपेक्षा कहीं ज्यादा व्यापक मानवीय संवेदना और दृष्टि के रचनाकार रहे हैं। व्यक्ति के 'सामाजिक' होने से कहीं ऊपर, उसके सिर्फ 'व्यक्ति' (मनुष्य) ही होने की अवधारणा को जैनेन्द्र जी का समग्र कृतित्व एक अप्रतिम साक्ष्य देता है।'[1]

'प्रसाद का कथा-साहित्य' पुस्तक में भी जैनेन्द्र जी की इसी प्रवृत्ति का उल्लेख मिलता है—'1928 ई० के आस-पास से जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में पहली बार एक तरह के जीवन-दर्शन की खोज और व्यक्ति के सचेतन मन को टटोलने और उघेड़ने का प्रयास सूक्ष्म स्तर पर शुरू किया।'[2] तथा रामदरश मिश्र का कथन है, 'चूंकि जैनेन्द्र की कहानियां सामाजिक यथार्थ की कहानियां न होकर, व्यक्ति-मन के यथार्थ की कहानियां हैं, इसलिए उनमें सामाजिक परिवेश बहुत क्षीण है और जितना है भी, वह व्यक्ति के मानसिक परिवेश को मूर्त करने के लिए ही आया है और वह प्रायः प्रतीकात्मक अर्थ को भी रखता है।'[3]

अन्तर्मन को रचने के तर्क से जैनेन्द्र में अन्तर्द्वन्द्व की प्रमुखता है, जिसके कारण डॉ० इन्द्रनाथ मदान उन्हें प्रसाद-परम्परा का रचनाकार मानते हुए लिखते हैं: 'प्रसाद की कहानी में जिस आन्तरिक द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देने का प्रयास है, जिस व्यक्ति-सत्य की खोज है, वही प्रयास तथा खोज जैनेन्द्र की कहानी में जारी है। यशपाल ने जीवन की जटिलता को बैचारिक धरातल पर पकड़ने का प्रयास किया है, जैनेन्द्र ने वहां इसे संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति दी है, परन्तु इनकी दृष्टियों में पारस्परिक विरोध भी पाया जाता है। इन दोनों कहानीकारों में निबन्धात्मकता की समानता होते हुए भी जीवनदृष्टियों की विभिन्नता है। यशपाल समष्टि-सत्य के धरातल पर और जैनेन्द्र व्यष्टि-सत्य के स्तर पर जीवन की जटिलता को

---

1. 'विकल्प' (कथा-साहित्य-विशेषांक : 1968) सम्पा० शैलेश मटियानी पृ० 10
2. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : डॉ० गिरीश रस्तोगी, प्रो० जगदीश प्रसाद श्रीवस्तव, पृ० 8
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 30

आंकते हैं। इसलिए जैनेन्द्र आन्तरिक जीवन की उलझनों पर ही अधिक बल देते हैं, मानसिक गांठों को खोलने में अधिक व्यस्त हैं, परतों को उघाड़ने में अधिक संलग्न हैं।'[1]

दरअसल जैनेन्द्र की एक भूमिका चिन्तक की भी है। चिन्तक की पहली चिन्ता वस्तु, स्थिति या व्यक्ति, प्रत्येक को उसके अन्तर्जागतिक विस्तार में देखने की होती है और संश्लिष्टता में भी। जैनेन्द्र जी अनुभूति या अनुभव को एक दार्शनिक की-सी दृष्टि और भंगिमा में देखते हैं और इसका प्रभाव उनकी कहानियों में देखा जा सकता है। उनके यहां 'मनोजगत' के क्रिया-कलाप कहानी का ज्यादा मुख्य अंग हैं, अनिवार्यतः बाहरी परिवेशगत व्यवहारों के और यही उन्हें प्रेमचन्द्र के 'समांतर' करने वाली बात है। तब डॉ० रामदरश मिश्र का यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही माना जायेगा कि—जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने के स्थान पर उनसे टकराहट अनुभव की। उन्होंने कहानी को एक सीधी रेखा में आगे बढ़ाने के स्थान पर उसे एक नया मोड़ दे दिया। इस मोड़ से आरम्भ होने वाली कहानी अपनी चेतना और संरचना दोनों में नई थी। जैनेन्द्र ने एक दार्शनिक मुद्रा के साथ व्यक्ति की संकांत मनःस्थिति को उजागर करना चाहा, इसके लिए उन्होंने हलका-हलका बाहरी परिवेश भी लिया, किन्तु मूलतः मानसिक परिवेश ही प्रधान रहा। इस मानसिक परिवेश के मनोवैज्ञानिक सत्यों की पहचान करना-कराना ही इनकी कहानियों का उद्देश्य है, किन्तु जैनेन्द्र को अन्य मनोवैज्ञानिक लेखकों से सहजता के बिन्दु पर अलगाया जा सकता है। जैनेन्द्र कहीं भी ऐसा आभास नहीं देते कि वे किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के सहारे आन्तरिक सत्य की पहचान उभार रहे हैं, वे तो आसपास के जाने-पहचाने पात्रों में मूर्त अन्तर्सत्यों को ही बहुत सहज भाव से पकड़ लेते हैं और बहुत ही सहजता से बातचीत के लहजे में उसे रूपायित कर देते हैं?'[2]

डॉ० मदान मानवीय सत्यों के अन्तर्ध्वनित द्वन्द्व को जैनेन्द्र के सन्दर्भ में प्रसाद से जोड़ते हैं और रामदरश जी उसे जैनेन्द्र की स्वाभाविक रुझान का गुण मानते हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से जैनेन्द्र का मूल्यांकन करने पर नये कहानीकार बोधिसत्व मिश्र का निष्कर्ष भी लगभग उपर्युक्त विद्वानों-जैसा ही है। उनके अनुसार—'जैनेन्द्र का हिन्दी कहानी के विकास में बड़ा योगदान था—कहानी में तनाव का श्रीगणेश। यों तो 'उसने कहा था' में, या प्रसाद की कुछ कहानियों में मानसिक संघर्ष की झलकें मिलती हैं, लेकिन जैनेन्द्र के यहां यह संघर्ष वातावरण, चरित्र-

1. हिन्दी कहानी : पहचान और परख : सम्पा० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 19
2. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 26

चित्रण-जैसे कहानी के और अंगों को दाबता हुआ उठता दिखता है। हर कहानी तनाव को लेकर घूमती है। पात्र वे नहीं हैं, जो बाहर दीखते है, असल में वे वही हैं, जो बन्दर से है। यही वह परम्परा थी जिसे आगे चलकर नयी कहानी के दौर में और भी ज्यादा प्रश्रय मिला—जब कहानी और सब अंगों का झटककर खड़ी हुई और जब तनाव की पीड़ा ही कहानी थी।'[1] इसी बात को आगे बढ़ाते हुए जैनेन्द्र की कुछ कहानियों के आधार पर गोविन्द मिश्र अपनी स्थापना को 'नई कहानी' के विकास से जोड़ते हुए यह स्थापित करते हैं कि—'जैनेन्द्र का कहानी, संसार जरूर इस संसार से, सात समुद्र-पार वाला संसार लगता है। वहां के लोग और हैं, वहां की बातें और हैं, और जब जैनेन्द्र इस संसार में उतरते भी हैं तो सिर्फ आदर्श पात्रों और आदर्श बातों के ही बीच। लेकिन जैनेन्द्र की इस काल्पनिकता के पक्ष में भी काफी कुछ कहा जा सकता है—इसी की वजह से जैनेन्द्र का 'कैनवास' आज के किसी भी कहानीकार से क्या, आज की कहानी के कुल कैनवास से बहुत बड़ा है, जो 'चिड़िया' 'बच्चे', 'बाहुबली', 'भद्रबाहु', 'नारद' विज्ञान' और 'अविज्ञान' सभी को समेटता है।'[2]

जैनेन्द्र ने 'विकल्प : 6 के' कथा-साहित्य-विशेषांक' में एक प्रश्न के उत्तर में श्लेश मटियानी को यह जवाब दिया कि—'कहानी में मेरी ओर से मेरी समस्या कम और मन का माना हुआ अपना समाधान अधिक रहता है। प्रत्यक्ष और परिपूर्ण निश्चित के रूप में नहीं, पर दिशा के निर्देश के रूप में अवश्य। इसलिए आदर्श अपनी लेखन-सारणी में मैं यथार्थवाद का बिलकुल पोषण या विश्वास नहीं करता। मैं उस बाद को अनिष्ट मानता हूं। कहानी अक्स देने-भर के लिए हो, तो मेरे लिए वह वृथा हो जाए।'[3] जैनेन्द्र के इस कथन की तुलना में राजेन्द्र यादव की यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है—'प्रेमचन्द की प्लॉटवादी कहानियों की तुलना में जैनेन्द्र की कहानियां बेहद सहज और उन्मुक्त हैं और अपने इसी गुण के कारण वह चेखव और तोलस्तॉय की याद दिलाती हैं।...जैनेन्द्र की घरेलू जीवन की छोटी-छोटी बातें, बहुत ही प्रयत्नशील-सी लगने वाली अपनत्व-भरी शैली, अत्यन्त स्वाभाविक 'टू द प्वाइंट' बातचीत कुछ ऐसा प्रभाव देते हैं, मानो कोई व्यक्ति कहानी 'सुना' नहीं रहा, अकेले में बैठा कुछ बोल-बोलकर सोच रहा हो और आप उसके अनजाने ही सब सुन रहे हों, या आपको बहुत विश्वास में

1. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 38-39
2. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 39
3. 'विकल्प' (कथा-साहित्य-विशेषांक : 1968) सम्पा० श्लेश मटियानी, पृ० 12

लेकर वह यों ही अपने जीवन का कोई टुकड़ा सुनाने बैठ गया हो।'[1]

प्रसाद और प्रेमचन्द युग में जैनेन्द्र को कहानियों के लिए 'कहानी' संज्ञा के प्रयोग पर राजेन्द्र यादव आश्चर्य प्रकट करते हैं। उनके अनुसार 'ये कहानियां अनायास ही चेखव की इस उक्ति की याद दिला देती है : कहानी का न कोई अन्त होता है, न प्रारम्भ'''वह जीवन की एक फांक है।' इसे कुछ ने 'भागती रेल की खिड़की पर उभर आया एक दृश्य फलक' भी कहा है।'[2]

'अज्ञेय ने विशिष्ट व्यक्ति की स्थापना से कहानी लिखना प्रारम्भ किया था, तो उससे अलग जैनेन्द्र ने सामान्य व्यक्ति से विशिष्ट नहीं व्यक्तिगत नायक, व्यक्तिगत भाषा, व्यक्तिगत छोटी-सी घटना या अनुभव, व्यक्तिगत शैली और शिल्प विशिष्ट या शास्त्रीय अर्थ में कहानी नहीं, एक छोटे-से व्यक्तिगत संस्मरण जैसी कोई रचना। जैनेन्द्र का यह 'व्यक्तिगत साधारण' का दावा प्रेमचन्द, प्रसाद और अज्ञेय की तुलना में बहुत ही असाधारण, सहज लगता था।'[3] राजेन्द्र यादव की इस स्थापना से सहमत होना बहुत आसान नहीं है; क्योंकि जैनेन्द्र का जो 'असाधारण सहज व्यक्ति' है, अज्ञेय की कहानियों के व्यक्ति से बहुत भिन्न नहीं है। वस्तुतः दोनों ही रचनाकार व्यक्ति मन को यथार्थ के हेतुओं के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं। जैनेन्द्र की प्रवृत्ति व्यक्ति-मन में गहरे उतर जाने की है, जिसके कारण व्यक्ति सामाजिक जीवन की इकाई न रहकर एक स्थिति में विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम-मात्र रह जाता है। सब कहानियों के बारे में यह सत्य नहीं है, लेकिन अधिकांश कहानियों में यही प्रवृत्ति है। यादव की तुलना में गोविन्द मिश्र ने जैनेन्द्र के योगदान को अधिक सही ढंग से रेखांकित किया है। उनका निम्नलिखित उद्धरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—

'विस्तृत क्षेत्र के बजाय' जितनी तरह के प्रयोग और प्रयोगात्मक विविधता सोची जा सकती है, वह जैनेन्द्र में मिलती है। एक तरह से काल्पनिकता से पकड़े जा सकने वाले करीब-करीब हर आयाम तक जैनेन्द्र ने जाने की कोशिश की। प्रयोग और काल्पनिकता के रास्ते पर जैनेन्द्र आखिरी बिन्दु थे जहां से सिर्फ पलटना ही हो सकता था। यह सही नहीं है कि जैनेन्द्र कुमार के बाद कहानी के पारम्परिक रूप गठन की तोड़ा गया। '''यह तो जैनेन्द्र ने ही कर दिया था। जैनेन्द्र के बाद कहानी ने उस काल्पनिकता को भी छोड़ा, जिस पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता था।'''जब फैंटेसी को कोई उस तरह नहीं जानता था, जैनेन्द्र 'परदेशी', 'नीलम

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 28
2. वही, पृ० 28
3. वही, पृ० 29

देश की राजकन्या,' जैसी कहानियां लिख सकते थे।[1]

'अपना-अपना भाग्य', 'पत्नी,' 'जाह्नवी,' 'खेल', 'चोर,' 'नीलम देश की राजकन्या', 'पाजेब', 'रत्नप्रभा,' 'एक रात,' 'मास्टर जी' आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानियां है, जिनमें व्यक्ति-मन की दुविधाओं, शंकाओं, प्रश्नों तथा गुत्थियों का अंकन हुआ है, डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में जैनेन्द्र की कहानियों में विद्यमान अनुभूति के सम्बन्ध में लिखा है कि 'अनुभूति की गहरी प्रेरणा उनकी कहानियों को वैशिष्ट्य प्रदान करती है---यहां तक कि कथानक, पात्र, परिस्थिति आदि की विरलता भी तीव्र अनुभूति के संस्पर्श से अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो जाती है।'[2] 'जैनेन्द्र कुमार की कहानियां जिन ऊंचाइयों को स्पर्श कर सकीं, वह अपने-आप में पात्रों के मनोविश्लेषण और चित्रांकन की अद्भुत मिसाल है।'[3]

'पत्नी' कहानी में मध्यवर्गीय घरेलू पत्नी को अपने राजनीतिज्ञ पति के साथ जीवन-निर्वाह में कितने त्याग व मानसिक संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ता है, इसका बड़ा ही सहज चित्रण लेखक ने इस कहानी में किया है। 'पत्नी का किस्सा कहने के स्थान पर जैनेन्द्र ने उसे अभिप्रेत परिवेश में मूर्त्त कर दिया है।'''मध्य-वर्गीय परिवार की एक अपढ़ या मामूली पढ़ी-लिखी पत्नी अपने चूल्हे-चौके, घर-गृहस्थी की गन्ध में सनी हुई अपने राष्ट्रसेवी पति के प्रति किस प्रकार अनुभव करती हुई गुजरती रहती है इसका बड़ा ही सहज परन्तु तीखा अहसास यह कहानी जगाती है।'[4]

'जाह्नवी' इनकी दूसरी महत्वपूर्ण कहानी है, जिसमें प्रेम में निराश नितान्त एकाकी जीवन जीती स्त्री का बड़ा मार्मिक वर्णन है। अपने में ही सिमटी जाह्नवी छत पर कौवों को चुगाना ही अपना एकमात्र नित्य कर्म अनुभव करती है। 'कागा सबतन खाइयो···वो नैना मत खाइयो, पिउ मिलन की आस।' इन पंक्तियों के माध्यम से वह अपने अज्ञात प्रियतम का आह्वान किया करती है। इसमें एक प्रेम में टूटी हुई स्त्री की मानसिक दशा की अभिव्यक्ति है किन्तु यह सारी अभि-व्यक्ति एक अनुकूल परिवेश-विम्ब के माध्यम से है।'[5]

बाल-मन की दशाओं, क्रिया-कलापों, हास-परिहास, मानाभिमान को उद्घाटित करते मनोहर और सुरबाला पर आधारित जैनेन्द्र की 'खेल' कहानी

---

1. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 39
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 592
3. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी-कोश' : सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 3
4. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 26
5. वही, पृ० 27

बहुत रसासिक्तता व स्वाभाविकता के साथ उत्पन्न होती है। लेखक ने केवल इन दो बच्चों के माध्यम से बालमनोविज्ञान का बड़ा मनोहारी दृश्य उपस्थित किया है। इनकी 'चोर' कहानी भी बाल-मन में छिपे रहस्यों-जिज्ञासाओं, भय, कौतूहल का चित्रण प्रस्तुत करती है।

'चोर' कहानी में बच्चे के मन में अंकित भय और उसे उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का बड़ा ही सुन्दर चित्र है। वास्तविक चोर से बच्चे का साक्षात्कार उस भय को समाप्त कर देता है, इस सत्य की प्रतीति से कहानी समाप्त होती है।[1]

बाल-मन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करने वाली कहानियों में जैनेन्द्र की 'पाजेब' कहानी की अद्वितीयता असंदिग्ध है। इस ढंग की (मनोवैज्ञानिक) कहानियों के सम्बन्ध में ए० एस० बेकर का यह कथन बिलकुल सही उतरता है कि 'यथार्थवाद के प्रति आधुनिक लेखक की आकांक्षा उसे समय के किसी सीमित क्षण या क्रिया के सीमित क्षेत्र पर जो कि भली-भांति सर्वेक्षित किया जा सके, या समझा जा सके—पर दृष्टि केन्द्रित करने को बाध्य करती है। परिणामस्वरूप वह कहानियों को वस्तु-सामग्री में बार-बार खोजता है, जो कि पहले के लेखकों से दाय के रूप में कुछ भी न प्राप्त करने से सम्बद्ध है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में वह कथावस्तु की संश्लिष्टता का बहुत-ही अल्प प्रयोग करता है; क्योंकि वह (ऐसा लेखक) कथा-वस्तु की संश्लिष्टता को कृत्रिम मानता है।'[2] परिश्रम में जिसे आधुनिक कहानी कहा गया है, उसकी शुरुआत जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक कहानियों से मानी जा सकती है, इसलिए उपर्युक्त बातें जैनेन्द्र की कहानियों के विषय में भी चरितार्थ होती हैं।

'पाजेब' कहानी कहीं भी पाजेब के विषय में न होकर बालक आशुतोष पर पड़ते मानसिक दबावों का बेहद करुण चित्र उपस्थित करती है। डॉ० रामदरश मिश्र भी लिखते हैं कि 'शीर्षक से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह कहानी पाजेब पर लिखी गई है, पाजेब तो एक माध्यम है मन:सत्य की परतों तक पहुंचने का। यह मन:सत्य है बालक का।'[3]

'पाजेब' कहानी की प्रकृति की आधुनिकता के सम्बन्ध में कहा जा सकता है 'सीधे-सीधे या खुले रूप में कुछ न कहकर व्यंजित करना, संकेतित करना या

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 28
2. 'दस्टडर्न ऑफ माडर्न शार्ट स्टोरी' : सम्पा०—शिव के० कुमार तथा कैथ मेकन
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 30

अन्तर्निहित करना समकालीन तकनीक में सबसे अधिक वांछित है।'[1]

कहानी में प्रयुक्त घरेलू वातावरण के बीच छोटे-छोटे संवादों की सक्षमता अद्भुत है। भाषा सांकेतिक व पढ़े-लिखे संस्कारी मध्यवर्गीय परिवार की सहज घरेलू बोलचाल की भाषा है।

'नीलम देश की राजकन्या' कहानी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी एक अद्भुत अनुभव का उल्लेख करते हैं—'एक बार मुझे ख्याल है, सन्ध्यान्तर अकेले एक मैदान में से जाते हुए, मुझे अपनी चेतना पर एक अजब तरह का दबाव अनुभव हुआ। था कहीं कुछ नहीं, तो भी एक डर लगा। बाहर का न-कुछ ही जैसे जाने क्या कुछ हो गया था और उसकी सीधी प्रतिक्रिया मेरे अन्तर मानस पर होती थी। मैं तेज चलने लगा था और सांस फूलने लगी थी। छाती धक्-धक् कर रही थी। वह कुछ एक ऐसा अनुभव था कि कुछ देर टिकता और अधिक तीव्र होता तो उसके नीचे जान ही सुन्न पड़ गई होती। कोरे डर से जाने कितने मर गए हैं। यह डर जिसे कोरा कहते है, क्या है? और मानो उसी का सचेतन भाव से पुनः स्पर्श पाने के लिए मैंने एक कहानी लिख दी।'[2]

जैनेन्द्र के इस अनुभव के आधार पर ही डॉ० नामवर सिंह ने यह टिप्पणी की है कि 'नीलम देश की राजकन्या' से प्रमाणित होता है कि आधुनिक युग में प्राचीन शैली की 'फैन्टेसी' लिखना कितना मुश्किल है, मुश्किल और साथ ही खतरनाक भी।[3]

इनकी कहानियों में अनेक विधियों को अपनाया गया है जिसमें फैंटेसी, जैसे 'नीलम देश की राजकन्या,' दृष्टान्त और संवाद जैसे 'तत्सत्,' जिज्ञासा जैसे 'बी-एट्रिस,' 'परदेसी,' 'दे दिन'; संकेतात्मकता और रूपकात्मकता जैसे 'दो चिड़ियां' 'लाल सरोवर,' 'वह,' 'सांप,' 'एक यौं'। कहानी-लेखन के क्षेत्र में यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीय, सामाजिक आदि विभिन्न प्रकार की कहानियां भी लिखी हैं, किन्तु मुख्यता दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक कहानियों की ही रही है।

जैनेन्द्र की कहानियों में प्रेमचन्द के शिल्प की आन्तरिकता नहीं है, बल्कि भारतीय कहानी-मात्र की आन्तरिकता है। डॉ० रामदरश मिश्र का मानना है कि 'जैनेन्द्र की कहानियों में प्रेमचन्द की कहानियों की एसीसि, घटना-संकुलता, नाटकीय उतार-चढ़ाव, आकस्मिक संयोगवादिता नहीं है, उनका भीतरी संघर्ष

---

1. 'द स्ट्रक्चर ऑफ मॉडर्न शॉर्ट स्टोरी': सं० शिव के० कुमार तथा कैथ-मेकन
2. 'कहानी? नयी कहानी': डॉ० नामवर सिंह की पुस्तक से उद्धृत, पृ० 83-84
3. वही, पृ० 85

कथानक की सूक्ष्मता, सांकेतिकता तथा उतार-चढ़ाव हीन सहजता प्राप्त कर लेता है।'[1] 'जैनेन्द्र प्रेमचन्द से इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि वे कहानी कहने से भागते हैं। घटनाओं को वे प्रायः छोड़ते जाते हैं या उनकी जगह संकेतों से काम लेना पसन्द करते हैं।'[2]

राजेन्द्र यादव के इस कथन से कुछ सीमा तक सहमत हुआ जा सकता है कि 'कहानी के परम्परागत शिल्प को तोड़कर उसे नया स्वरूप देने से भी अधिक मैं जैनेन्द्र का महत्त्व इसमें मानता हूं कि उन्होंने कहानी को एक बेलौस सहज-स्वाभाविक, पारदर्शी भाषा और भंगिमा दी, अपनापन और खुलाव दिया —अज्ञेय का नायक अपने विशिष्ट अनुभव और उसकी सहज अभिव्यक्ति के संघर्ष में जूझता व्यक्ति है, तो जैनेन्द्र का नायक सहज अनुभव को जीता और उसमें भाग लेने को आमंत्रित करता व्यक्ति। दोनों में समानता यह है कि यह 'सहज' और 'विशिष्ट' दोनों लेखकों की अपनी उपलब्धि है।'[3]

जैनेन्द्र की कहानियों की भाषा को सपाटता के अर्थ में पारदर्शी नहीं कहा जा सकता, जैसा राजेन्द्र यादव कहते हैं; क्योंकि उनकी भाषा सामान्य कथा-भाषा से थोड़ी भिन्न है और वह अपनी और अपनी सत्ता के बल पर भी आकर्षित करती है। पाठक से थोड़े चिन्तन और विराम की मांग करती है, जो पारदर्शी भाषा का गुण नहीं हो सकता। डॉ० गिरीश रस्तोगी और प्रो० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने जैनेन्द्र की भाषा के जिन गुणों का निम्नलिखित उद्धरण में संकेत किया है, वे पारदर्शी भाषा के गुण न होकर, ठोस भाषा के गुण है। दृष्टि परिवर्तन से जैनेन्द्र की भाषा और शिल्प में भी परिवर्तन दिखाई देता है। सूक्ष्मतम भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर संकेतों और कार्यों का सहयोग लिया है और भाषा की लक्षणा-व्यंजना शक्तियों को खूब पहचाना है। साधारण शब्दों के साथ ही कहीं वह चतुर गल्प-शिल्पी लगते हैं, कहीं चिंतक और कहीं भावुक शिल्पी। डॉ० शिवदान सिंह के अनुसार 'जैनेन्द्र ने बाह्य और आंतरिक जीवन के उभयपक्ष को पूरी-पूरी मनोवैज्ञानिक सच्चाई के साथ समन्वित करने की चेष्टा की है और हिन्दी कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की है और इस प्रकार हिन्दी का बौद्धिक स्तर ऊंचा उठाया है।'[4] इस उद्धरण से जैनेन्द्र जी की भाषागत या

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 30
2. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 592
3. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 29
4. 'प्रसाद का कथा-साहित्य' : गिरीश रस्तोगी, जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 9

शिल्पगत विशिष्टताएं पूरी तरह उभर नहीं पातीं, लेकिन उनकी उपलब्धियों का समाकलन इसमें अवश्य है।

जैनेन्द्र के कथा-चिन्तन और उनकी कहानियों की तुलना करने पर यह नतीजा निकलता है कि उनका कथा-चिन्तन और उनकी कहानियां, दोनों ही एक गहरी आंतरिकता से उत्पन्न होते हैं। अन्यों के लिए जो विशिष्ट हो सकता है, वह उनके लिए स्वाभाविक है, इसीलिए राजेन्द्र यादव सहजता का बार-बार उल्लेख करते हैं। इसके बावजूद कहानियों में वह बौद्धिक दार्शनिकता या उबाऊ जिज्ञासा नहीं मिलती है, जो उनके उपन्यासों में पाई जाती है। जैनेन्द्र का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि वे जिस प्रकार अपने कथा-चिन्तन में निर्बन्धता अथवा शिल्पहीन शिल्प की बात करते हैं, वैसे ही अपनी कहानियों में भी सहज चिन्तन शैलता पर बल देते हैं। उनकी भाषा ने, जैनेन्द्र की कहानियों की इस सहजता का हिस्सा होते हुए भी मूल्यवान शक्ति के रूप में आगे के रचनाकारों को निश्चय ही एक दिशा दी है। चिन्तन कैसे भाषा में एक 'निजता' को सम्भव बनाता है, इसका जैनेन्द्र हिन्दी कहानी में सबसे बड़ा उदाहरण है। हिन्दी कहानी का मूल्यांकनपरक अवलोकन करने में अज्ञेय, निर्मल वर्मा, रामकुमार--जैसे कहानीकारों की कहानियों की शक्ति को पहचानने के लिए जैनेन्द्र के स्रोत की ओर लौटना पड़ेगा।

अज्ञेय

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-कहानी में 'अज्ञेय' एक मात्र ऐसे कहानीकार हैं, जिनकी कहानियों पर उनके बौद्धिक व्यक्तित्व का प्रभाव प्रमुख रूप से झलकता है। उनका समस्त लेखन उनकी मौलिकता का परिचायक है। अज्ञेय की कहानियों का रचनाकाल सन् 31 से प्रारम्भ होकर 50 तक लगभग सहज गति से आगे बढ़ते हुए, क्रमशः मन्द पड़ते-पड़ते, 59 तक जाकर थम जाता है। सन् 31 से 50 तक के दरम्यिान उन्होंने 60 कहानियां लिखीं व 50 से 59 तक के बीच 7। यहीं वे अपने कहानी लिखना छोड़ने, या कहानी के उनसे छूटने, की बात स्वीकार करते हैं।[1]

अज्ञेय स्वयं अपनी कहानियों को चार दौर में बांटते हुए लिखते हैं: 'पहली खेप की कहानियां क्रान्तिकारी जीवन की हैं, क्रान्ति-समर्थन की हैं—और क्रांतिकारियों की मनोरचना और उनकी कर्म-प्रेरणाओं के बारे में उभरती शंकाओं की हैं।···पुराने गुप्त कर्मी आतंकवादी का खुले समाज में एक 'जाने हुए' व्यक्ति

1. 'अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियां' (भाग 1), पृ० 5

के रूप में जीने का, समाज से मिलने वाले सम्मान के बीच उस समाज के और उस सम्मान के खोखलेपन का अनुभव करने का यह युग कहानियों की दूसरी खेप का युग है।'''तीसरी खेप की कहानियां सैनिक जीवन से, और उन प्रदेशों के जीवन, समाज अथवा इतिहास से जिनमें सैनिक जीवन बिताया, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। '''इसके बाद की कहानियों का एक और समूह है जिसे चौथी खेप भी कहा जा सकता है : ये कहानियां भारत-विभाजन के विघात और उससे जुड़ी हुई मनःस्थितियों की कहानियां हैं।'[1]

मधुरेश के शब्दों में—'उनकी कहानियां क्रान्ति और विद्रोह की पृष्ठभूमि से शुरू हुई थीं और बहुत से वैयक्तिक-सामाजिक धरातलों को छूती हुई वे क्रमशः आत्मनिष्ठ और आत्मकेन्द्रित होती गई हैं। बहुधा ही उनके विरुद्ध असामाजिकता का आरोप भी लगाया गया; क्योंकि उनकी कहानियां जीवन को उस रूप में नहीं स्वीकारतीं जैसा वह अपनी सारी सहजता में है।'[2]

अज्ञेय की कहानियों का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात् यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनकी कहानियों का मूल स्वर व्यक्ति और व्यक्ति-मन के भावों को विश्लेषित कर अभिव्यक्ति देना है। अज्ञेय की अतिशय आत्मकेन्द्रित और व्यक्तिवादी दृष्टि के सम्बन्ध में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का विचार है : 'अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रकृति के कहानीकार हैं। उनकी कहानी-कला का मूल धरातल व्यक्ति-चरित्र है। इसका बड़ा लेकिन सहज कारण यह है कि 'अज्ञेय' की दृष्टि मूलतः कवि की दृष्टि है, समाज-सुधारक की दृष्टि नहीं जो सामाजिक अव्यवस्थाओं के इतिवृत्त उपस्थित करता चलता है।'[3]

डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह कथन भी उनकी इसी वैयक्तिकता की ओर संकेत करते हैं—'अज्ञेय' की कहानी में आधुनिकता की चुनौती को वैयक्तिक धरातल पर ही स्वीकारने का प्रयास है, व्यक्ति-सत्य के स्तर पर ही जीवन की जटिलता तथा उसके मूल्यों को व्यक्त करने का प्रयत्न है।'[4] परन्तु डॉ० मदान अज्ञेय की इस वैयक्तिकता के पीछे सामाजिकता की भूमिका भी स्वीकारते हैं, 'यह कहना अनुचित होगा कि इनकी कहानी में सामाजिक चेतना का नितान्त अभाव है। इसके बजाय यह कहना अधिक संगत होगा कि इनका कहानीकार जीवन तथा जगत का चित्रण एवं मूल्यांकन वैयक्तिक संवेदना के धरातल पर

1. 'अज्ञेय की संपूर्ण कहानियां : (भाग-2), पृ० 7-10
2. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 7
3. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 261
4. 'कहानी की कहानी' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 20

करता है और सामाजिक मान्यताओं को भी इसी कसौटी पर परखता है।'[1]

डॉ० मदान से पूर्णतः साम्य रखता हुआ डॉ० रामचन्द्र तिवारी का मत भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है, 'अज्ञेय के लिए, प्रारम्भ से ही, सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है।···उनकी दृष्टि व्यक्ति-वैशिष्ट्य की ओर केन्द्रित रही है। यों व्यक्ति समाज की ही इकाई है। उसे समझने-समझाने के प्रयत्न में समाज स्वतः सन्दर्भित हो जाता है। इसलिए 'अज्ञेय' द्वारा विश्लेषित व्यक्ति मात्र मन:कल्पना या प्रतीक नहीं हैं। उनकी मानसिक रचना समाज के बीच में ही हुई है। इसीलिए सामाजिक वैषम्य और अन्याय के प्रति एक प्रकार के तीक्ष्ण व्यंग्यपूर्ण विद्रोह का भाव भी उनकी कुछ कहानियों में मिलता है। सब मिलाकर 'अज्ञेय' व्यक्ति-मन के गहनतर स्तरों के सूक्ष्म स्पन्दन को अभिव्यक्ति देने वाले कहानीकार माने जा सकते हैं।'[2]

यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के अन्तर्मन को रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है। अज्ञेय की यथार्थ की अवधारणा हिन्दी के कई कहानीकारों से भिन्न है। वे यथार्थ के बाह्य स्वरूप को उसके हेतुओं से जोड़कर देखते हैं। एक अजीब प्रकार के बाह्याभ्यंतरण में उनका विश्वास है। अज्ञेय की 'सम्पूर्ण कहानियां' की भूमिका में उन्होंने इसी वास्तविकता के उद्घाटन को महत्त्व दिया है। सम्भवतः 'सांप' 'पठार का धीरज' और 'कलाकार की मुक्ति' आदि प्रतीकात्मक कहानियां, जिनमें न जीवन है और न उसका स्पन्दन ही, को लेकर ही उन पर असामाजिकता व जीवन से कटे होने का आरोप प्रायः लगाया जाता है।

···'अज्ञेय की अधिकांश रचनाएं दिमाग को भले ही छूती हों, मन को कभी नहीं छूतीं। ('शेटरवास्त' और 'बदला' इसके अपवाद हैं) दूर की कौड़ी लाने के प्रयास में, वे, दैनन्दिन अनुभूतियों को प्रायः अनदेखा और अनछुआ कर जाते हैं। जिन्दगी से कट जाने और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के सत्य की अभिव्यक्ति का साहस न रखने के कारण इधर वे पन्त ही की नकल में अध्यात्म की शरण में चले गए हैं।'[3]

जैनेन्द्र और अज्ञेय, दोनों की कहानियां व्यक्ति-मन और मानवमन से सम्बद्ध होने के कारण मनोवैज्ञानिक है, परन्तु अज्ञेय की कहानियों में मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ बौद्धिकता भी है। 'अज्ञेय का गरिष्ठ व्यक्ति उनकी कहानियों को एक निजता प्रदान करता है। इस निजता की बुनावट बड़ी जटिल

---

1. 'कहानी की कहानी' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 20
2. 'हिन्दी का गद्य-साहित्य' : डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० 559-60
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 242

है। इसीलिए उनकी कहानियों में लेखक की वैचारिकता, अनुभव, अध्ययन, तटस्थता, मानवीय प्रतिबद्धता आदि का बड़ा ही जटिल सहअस्तित्व एक ओर 'रोज', 'शरणदाता,' 'होलीबोन् की बत्तखें'—जैसी मार्मिक कहानियों की सृष्टि करता है तो दूसरी ओर ढेर सारी शुष्क बौद्धिक संरचना से ग्रस्त रचनाएं उगलता है।'[1]

'जैनेन्द्र की तुलना में अज्ञेय की कहानियां अधिक सायास और घोषित कला-संचेतना की कहानियां लगती हैं। एक का आग्रह सहज होना है, तो दूसरे का विशिष्ट।'[2]

'जहां जैनेन्द्र अपनी बौद्धिकता की संवेदना में, आयास को सहजता में, सावधानी को लापरवाही में घुला-मिलाकर अपनी कहानियां अत्यधिक घरेलू बना देते हैं, वहां अज्ञेय की कहानियां एक बौद्धिक अभिजात व्यक्ति की तरह एक कसी हुई बौद्धिक दृष्टि, अनुभव-वैशिष्ट्य, अध्ययन-सम्पन्नता और मितभाषिता में सतत सावधान दिखाई पड़ती हैं।'[3]

अज्ञेय जी की कहानियों को जैनेन्द्र जी की कहानियों की तुलना में देखने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि दोनों की पद्धति मनोजगत में पैठ की होने के बावजूद, कहानियों की प्रभावान्विति भिन्न है।

हिन्दी के अधिकांश कहानीकारों की तुलना में अज्ञेय की कहानियों में वस्तुगत विविधता कहीं बहुत अधिक है, जिसके पीछे उनका देश-विदेश सम्बन्धी ज्ञान व स्वयं की प्रखर आन्तरिक दृष्टि की भूमिका काम करती है। रामदरश मिश्र के शब्दों में—'ये कहानियां कहीं तो व्यक्ति की प्रेमजनित यातना को पकड़ती हैं (रोज), कहीं सामाजिक विषमता और उससे उत्पन्न किसी व्यथा को (लेटरबाक्स); कहीं शक्ति की असहायता का चित्रण करती हैं (हजामत का साबुन) तो कहीं उसकी अदम्य जिजीविषा और ऊर्जा का (खिलौना बाबू, देवी सिंह); कहीं देश के बंटवारे से उत्पन्न साम्प्रदायिक आग में झुलसते मानवों की कथा कहती हैं (शरणदाता, लेटरबाक्स, बदला, मुसलिम-मुसलिम भाई-भाई) तो कहीं स्वाधीनता संग्राम से जुड़े हुए क्रांतिकारियों के जीवन को देखती हैं। (कड़ियां, पुलिस की सीटी, छाया), कहीं पौराणिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों से एक फैंटेसी निर्मित कर समकालीन या चिरंतन मानव-प्रश्नों को उठाती हैं, तो कहीं समकालीन सन्दर्भों में उठे हुए प्रश्नों को एक परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं। ('पठार का धीरज', 'कलाकार की मुक्ति'); किन्तु इन सारे

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 37
2. वही, पृ० 35
3. 'कहानी स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 30

विषयों और सन्दर्भों को लेकर जो रचना होती है उसमें अज्ञेय की वही अहंनिष्ठ आत्मिकता लक्षित होती है।'[2]

'रोज' अज्ञेय की श्रेष्ठतम कहानी कही जा सकती है। यह पहले 'मैंथीन' नाम से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी की चुनिंदा कहानियों में भी इसका उल्लेख किया जाता है। प्रारम्भ से अन्त तक आने में विषाद को समेटे यह कहानी कथा-नायिका मालती के जीवन की एकरसता, टूटन व उदासी को जिस अभूतपूर्व कलात्मकता के साथ अभिव्यक्ति देती है वह देखते ही बनता है। कहानी का केन्द्र बिन्दु मालती की यांत्रिक मानसिकता है। कहानी की प्रारम्भिक पंक्तियां जिस परिवेश को चित्रित करती हैं वह मालती की मनःस्थिति को ही उद्घाटित करती है—दोपहर में उस सूने आंगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मंडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझिल और प्रकम्पमय और सन्नाटा खिंचा हुआ था:—मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचान कर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय-से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई।'[3]

कहानी का अन्त भी मालती के जीवन की गहन उदासीनता का ही सूचक है: 'तभी ग्यारह का घण्टा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घण्टे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भांति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घण्टा-ध्वनि के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा, 'ग्यारह बज गये···'[3] स्वयं अज्ञेय जी के अनुसार—'कहानी का यह अन्त एकरसता के क्रम को अपने भीतर से और आगे को फेंकता है, उसे समेटकर कोई अन्तिमता या समाधान नहीं देता। कहानी अपने संश्लिष्ट प्रभाव के साथ पाठक के भीतर गतिमान रहती है।'[4]

मालती के द्वारा प्रयुक्त किये गए 'रोज ही ऐसा होता है' (कई बार), 'तीन बज गए', 'चार बज गए', 'ग्यारह बज गए', से उसकी पीड़ा और अधिक घनी-भूत रूप में ध्वनित होती है। यहां तक कि अपने एकमात्र बेटे के खाट पर से गिरने के बाद भी वह अविचलित व निरपेक्ष भाव से कहती है—'इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।'[5] यह कथन मालती की एकरसता के

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 36
2. 'मेरी प्रिय कहानियां' : अज्ञेय, पृ० 43
3. वही, पृ० 43
4. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 38
5. 'मेरी प्रिय कहानियां' : अज्ञेय, पृ० 54

चरम को दर्शाता है। इस कहानी की संरचना वर्णनात्मक नहीं, बल्कि चित्रात्मक, संवादात्मक और काव्यात्मक अधिक है। आत्मकथात्मक है।

'एक विषम परिवेश में एक जीवन्त व्यक्तित्व विशेषतया नारी का व्यक्तित्व किस प्रकार पथराकर यंत्रवत बन जाता है और उसके सारे आचरण में, सबंधों में, संवेदनाओं में एक अवसन्न उदासी रेंगने लगती है, यह कहानी इसी संवेदना की अभिव्यक्ति करती है। मालती की इस 'मोनोटनी' की तीव्रता के लिए लेखक ने उसके जीवन्त उद्दाम अतीत और उस अतीत से लिपटे उसके दूर के भाई (जो भाई कम है, एक परोक्ष प्रणय-भावना से युक्त सखा अधिक है) को खड़ा किया है। अतीत की उन्मुक्तता, जीवन्तता और सहचर-भावत्व के सन्दर्भ में वर्तमान की एकरसता, उदासी और टूटन कितनी गहरी हो उठती है।'[1] 'उनकी प्रसिद्ध कहानी 'मैक्रीन' (रोज़) की तारीफ़ केवल मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के लिए की जाती रही है, किन्तु इस बात पर लगभग ध्यान नहीं दिया गया है कि वह परम्परागत वैवाहिक विधान में गर्भित क्रूरता का सांकेतिक उद्घाटन भी करती है।'[2]

अज्ञेय की दूसरी बेहद चर्चित कहानी 'हीलीबोन् की बत्तखें' रोज़ की ही परम्परा में आती हैं। यह कहानी नायिका हीली के सूनेपन के इर्द-गिर्द घूमती है। चौंतीस वर्षीया इस खसिया युवती की मनोव्यथा और सूक्ष्म मनोभावों को बहुत सहजता के साथ कहानी में उभारा गया है। जब कैप्टन दयाल उससे उसके घर की सफ़ाई की तारीफ़ करता है तो उसके हृदय में छिपी वेदना इन शब्दों में मुखर होती है—'हां कोई कचरा फैलाने वाला जो नहीं है।'[3] इतने संक्षिप्त से व सरल वाक्य में हीलीबोन् के अतीत, वर्तमान और भविष्य का अकेलापन व सूनापन सब संश्लिष्ट है।

'हीलीबोन् की बत्तखें' अज्ञेय की इस प्रतिनिधि कहानी का शिल्प इति-वृत्तात्मक है, परन्तु फिर भी वह ढीली-ढाली न होकर, आदि से अन्त तक पूर्ण व ठोस है। मानवीय संवेदना की सहज भूमि इस कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि है। खसिया भाषा के थोड़े-से शब्दों, भौगोलिकता, स्थानों और व्यक्तियों के कुछेक नामों, आचार-व्यवहार व सामाजिक स्थिति आदि की कहानी की पृष्ठभूमि व वातावरण के निर्माण में अपनी अहम भूमिका है, तथा इन सबके वर्णन कहानी की पृष्ठभूमि को एक सम्पूर्णता से युक्त करते हैं।

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 37
2. 'दस्तावेज़' (अक्टूबर 85), सम्पा० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 67
3. 'मेरी प्रिय कहानियां' : अज्ञेय, पृ० 91

कहानी का अन्त ऊपरी तौर पर अत्यन्त नाटकीय प्रतीत होता है, परन्तु गहरे जाकर देखने से वह अप्रत्याशित होने के बावजूद आश्चर्यजनक रूप से स्वाभाविक और कलात्मक है। इस कहानी में निहित संकेतात्मकता ही उसे श्रेष्ठ बनाती है। कहानी के संकेत और उनसे पैदा हुआ प्रभाव बहुत ही सूक्ष्म और कलात्मक है। संकेतों की केन्द्रीभूत एकता ही कहानी के प्रभाव को बढ़ाती है और होली की संवेदना के लिए सार्थक और अपेक्षित पृष्ठभूमि पैदा करती है।'[2]

'रोज' और 'हीलीबोन् की बत्तखें' के अतिरिक्त 'मेजर चौधरी की वापसी', 'पगोड़ा वृक्ष', 'विधवा', 'जयदोल', 'शरणदाता', 'खितीन बाबू', 'कलाकार की मुक्ति', 'पठार का धीरज' इनकी अविस्मरणीय कहानियां हैं।

गंगाप्रसाद विमल का विचार है कि 'अज्ञेय की संवेदना को आधुनिक इसलिए नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनके पात्र, विचार और स्थितियां हमारे आधुनिक संसार की नहीं हैं।'[2] परन्तु संसार का न होना ही आधुनिकता नहीं है। आधुनिकता का सम्बन्ध होने से उतना नहीं जितना देखने से है। अज्ञेय कथा-चिन्तन और कहानियां दोनों में मानव-सम्बन्धों के उस बदलाव को देखते और रचते हैं जो नया और घटमान है, इसलिए वे आधुनिक हैं। हालांकि आधुनिकता रचना के मूल्यांकन का प्रतिमान नहीं है—नवीनता अवश्य है। पुराने को भी नयी चेतना से देखने पर संवेदनात्मक मुख बदल जाता है।'''अत्यन्त निश्चयात्मक स्वर में यह कहा जा सकता है आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में अज्ञेय का स्थान एक मौलिक, प्रवर्तक तथा सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में शीर्षस्थान पर अक्षुण्ण है और रहेगा।'[3]

अन्य अनेक आलोचकों की तुलना में मार्कण्डेय ने अपेक्षाकृत संतुलित मूल्यांकन किया है कि कुल मिलाकर एक अजीब तरह का मिला-जुला प्रभाव अज्ञेय की कहानियां मन पर छोड़ जाती हैं। विचार, शिल्प और वस्तु की दृष्टि से उनमें भिन्नता है और स्तर में इतनी असमानता कि सहसा इन्हें एक ही लेखक की कृतियों के रूप में पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। कारण बहुत साधारण है—'शरणार्थी' (1948) की कहानियां, 'परम्परा', (1944), 'सेव और देव' (1937), 'बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे' (1941) और 'कविता और जीवन—एक कहानी'(1937) तथा कुछ इधर-उधर की लिखी

1. 'आज की कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : यशुरेश, पृ० 9
2. 'अज्ञेय का रचना-संसार' : गंगाप्रसाद 'विमल', पृ० 166-167
3. 'अज्ञेय का कथा-साहित्य' : ओम प्रभाकर, पृ० 161-162

हुई कहानियां सब एक जगह आ मिली हैं।'[1]

मार्कण्डेय की तरह अज्ञेय की कहानियों के विषय में राजेन्द्र यादव की स्थापना न केवल महत्त्वपूर्ण है, बल्कि संतुलित भी है।

'अज्ञेय ने एक दृढ़, निर्भीक, अडिग और यायावर नायक ही हिन्दी कहानी को नहीं दिया, उनके विशिष्ट व्यक्तित्व के अनुरूप भाषा को संयत गरिमा, शैली को प्रतिनिष्ठित भंगिमा, शब्दों को सूक्ष्म अर्थ-संस्कार और शिल्प को गम्भीर सार्थक तराश भी दी है। उनके एक-एक शब्द, यहां तक कि विराम-चिह्न, एक पंक्ति और एक स्थिति को इधर-से-उधर नहीं किया जा सकता। उनकी कहानियों का विकास प्रौढ़तर मस्तिष्क की—जीवन को अधिक-से-अधिक गहराई से जानने, समझने और अभिव्यक्ति देते जाने की प्रक्रिया का लेखा है। मन के जटिलतम स्तरों, संश्लिष्ट मनोभावों को भाषा द्वारा सम्प्रेषित करने के प्रयत्न में उन्होंने उसे विलक्षण अभिव्यंजना दी है। प्रारम्भ की कहानियां क्रमशः तीव्र, प्रखर, बौद्धिक, जिज्ञासा में विकसित होती चली गई हैं और बिना एक विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर पहुंचे उनका 'रस' लेना संगत नहीं है। उनके पास एक वैज्ञानिक की दृष्टि, कवि के उपकरण और अपनी विशिष्ट आत्मनिष्ठता है ''इसलिए उनमें सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, प्रयोगात्मकता और एक सूक्ष्म ढंग से अपने को सही, ऊंचा सिद्ध करने, कभी-कभी 'ऊंचाई' से आतंकित करने का भाव भी है।'[2]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हिन्दी के उन कथाकारों में हैं, जिन्होंने न केवल महत्त्वपूर्ण कहानियां लिखी हैं, बल्कि कहानियों के विषय पर समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में तथा 'कहानी की हद्दें-सरहदें', 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' पुस्तकों में हिन्दी कहानी के समकालीन परिदृश्य पर विचारोत्तेजक स्तरों पर अपने विचार भी व्यक्त किये हैं। कथा-चिन्तन के स्तर पर भी उनकी एक अपनी विशेष भूमिका है।

'उर्दू में अश्क का नाम वेदी, कृश्नचन्दर, मण्टो और इस्मत के साथ लिया जाता है और हिन्दी में प्रेमचन्द और यशपाल के साथ। आज की कहानी पर अश्क की बहुत ही गहरी छाप है।'[3] 'कांकड़ा का तेली', 'डाची', 'एलंग', 'बैंगन

---

1. 'कहानी की बात' : मार्कण्डेय, पृ० 88
2. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : सम्पा०—राजेन्द्र यादव, पृ० 31
3. 'उत्तर श्रेष्ठ कहानियां' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', (प्रकाशकीय), पृ० 9

■ पीछा' कहानियों की हिन्दी और उर्दू आलोचकों ने प्रशंसा की है। उर्दू के सुप्रसिद्ध आलोचक सादिक मोहम्मद ने 'उर्दू साहित्य का इतिहास' में 'कांकड़ा का तेली' को उर्दू कहानी की महत्वपूर्ण कहानी माना है।

अश्क अपने कहानीकार बनने के पीछे एक अनजाने विद्रोह की भावना का हाथ मानते हुए लिखते हैं—'मैं जिस परिवार और वातावरण में पल रहा था, उसकी असंगतियों और कुण्ठाओं ने मुझे कवि और कथाकार बना दिया था।'[1]

'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' नामक बृहद् संकलन में 'अश्क' जी द्वारा लिखी गई संगृहीत दो सौ कहानियों में से सत्तर कहानियां सकलित हैं, जिनमें उनके लेखन-काल के साथ-साथ उनके विभिन्न रंगों, शैलियों, रूपों तथा प्रयोगों की प्रतिनिधि कहानियां एक जगह इकट्ठी उपलब्ध हो जाती है। अपनी कहानियों की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है—'मैंने यद्यपि मोपासां, ओ' हेनरी और माम से कला सीखी है, पर मेरी कहानी लिखने की प्रक्रिया धीरे-धीरे चेखव के निकट होती गई। ज्यों-ज्यों जीवन की अनुभूतियां गहरी हुईं, मैं जीवन से चल लेकर उन्हीं के द्वारा अपनी बात कहना (पहले आधारभूत विचार चुनकर उस पर काल्पनिक पात्र गढ़ने से) बेहतर समझने लगा।'[2] इस प्रकार स्पष्ट देखा जा सकता है कि अश्क जी हिन्दी के उन वरिष्ठ कहानीकारों में है, जिन्होंने अपने कहानी लेखन को कहानी सम्बन्धी चिन्तन के इर्द-गिर्द रखकर भी देखा और अपनी पद्धति को तदनुसार बनाया है।

मधुरेश के विचार में सारी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं और विश्व-चेतना के बावजूद उनकी कहानियां जैनेन्द्र-अज्ञेय की कहानियों से अलग हैं और सामाजिक विसंगतियों के प्रति सारी चेतना और आक्रोश के बावजूद वे यशपाल की कहानियों-जैसी नहीं हैं।[3]

जीवन और जगत के प्रति अश्क की दृष्टि-चेतना जागरूक रही है और इसी के फलस्वरूप उनकी कहानियों में विविधता भी पाई जाती है। सामाजिक जीवन के कटु-यथार्थ से लेकर पारिवारिक और वैयक्तिक जीवन की अनेक विसंगतियों को अश्क ने अपनी कहानियों की वस्तु का विषय बनाया है। अपने निजी पारिवारिक जीवन के अनुभव से लेकर समय-समय पर प्रतीत होने वाले संघर्षों की ध्वनि उनकी कहानियों में बार-बार गूंजती है। 'अश्क' की सामाजिक दृष्टि अत्यन्त प्रगतिशील रही है तथा उन्होंने अपनी रचनाओं में तेज व्यंग्य का सहारा

---

1. 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (भूमिका), पृ० 25
2. वही
3. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 9

लेते हुए शक्ति के साथ अपने सामाजिक मंतव्यों को व्यंजित भी किया है।[1] स्वयं 'अश्क' जी ने भी 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' नामक पुस्तक में अपनी कहानियों के समाजपरक होने की बात स्वीकार की है : मेरी कहानियां सदैव समाजगत रहीं, समाज की कुरीतियां, कुण्ठाएं, आन्दोलन मेरी कहानियों में प्रतिबिम्बित होते रहे, व्यक्ति के मन में भी यदि मैंने झांका, तो उसे समाज के परिपार्श्व में रखकर ही, और यह सब मैंने कला का पूरा ध्यान रखकर करने का प्रयास किया।'[2] 'कांकड़ा का तेली', 'डाची', 'चारा काटने की मशीन' आदि कहानियां उनकी उपर्युक्त रचना-प्रक्रिया के स्वरूप का सशक्त उदाहरण है। 'डाची', 'कांकड़ा का तेली', 'आकाशचारी', 'बैंगन का पौधा', 'अजगर' आदि कहानियां जहां एक ओर शोषण की प्रक्रिया और स्वरूप का खुलासा करती है वहीं शोषित वर्ग की असहायता; विवशता को भी बखानती हैं।

'मनुष्य-ग्रह !' अश्क की पहली मनोवैज्ञानिक कहानी है। पूर्णरूप से मनोवैज्ञानिक होते हुए भी, इसका अन्त बेहद स्वाभाविक है। कथानायक पण्डित परसराम अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त जिन मानसिक द्वन्द्वों से गुजरते हैं, उसका मनोविश्लेषण ही इस कहानी का मुख्य कथ्य है। 'प्रेम की वेदी', 'नरक का चुनाव', 'चित्रकार का मौत', 'निशानियां' आदि कहानियां काल्पनिक है। 'क्रैप्टन रणवीर' कहानी हमें यह बताती है कि कैसे हम न चाहते हुए भी परिस्थितियोंवश भाई-भतीजावाद के समर्थन के लिए विवश हो जाते हैं तथा आजकल योग्यता नहीं सिफारिश का बोलबाला है। 'तकल्लुफ' 'अश्क' की हास्य-व्यंग्य की कहानियों की श्रेणी में बेहतर कही जा सकती है। शिष्ट औपचारिकता के निर्वाह में आदमी कैसे मारा जाता है, यह इस कहानी को पढ़कर समझा जा सकता है।

अश्क का कथा-संसार मूलतः मध्यवर्गीय जीवन का चित्र है। यों लेखक ने समाज के सभी वर्गों को अपनी कहानियों का विषय बनाया है किन्तु मध्यवर्गीय-जीवन की समस्याओं व विसंगतियों को मुख्य रूप से उठाया गया है। 'काले साहब' और 'आकाशचारी' आदि कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन का खोखला अहंकार प्रदर्शित है। निम्नवर्गीय जीवन की आर्थिक कठिनाइयों से जूझते मनुष्य की दारुण व कारुणिक कथा 'बैंगन का पौधा', 'डाची', 'कांकड़ा का तेली' आदि कहानियों में है। डॉ० रामदरश मिश्र ने 'अश्क' को मार्क्सवादी दृष्टिकोण का कहानीकार माना है : 'मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर कहानियां लिखने वालों

1. 'संचेतना', दिसम्बर 67, पृ० 13
2. 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 44

में यशपाल के पश्चात् 'अश्क' का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।'[1] डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ का कहना है कि 'दरअसल 'अश्क' समाजवादी और मनोवैज्ञानिक कहानीकारों के मिले-जुले तेवर के कहानीकार हैं। उनमें व्यंग्य की धार प्रेमचन्द और यशपाल की याद दिलाती है और यौन-समस्याओं पर लिखते समय 'अज्ञेय' जैनेन्द्र की-सी सूक्ष्मता का परिचय देते हैं।'[2]

यौन-सम्बन्धों की टूटन और उसकी व्यथा को उनकी 'नासूर', 'अंकुर' आदि कहानियों में स्वर मिला है। 'अश्क' के 'पलंग' नामक कहानी-संग्रह की कहानियाँ सेक्स की कुण्ठाओं व सूक्ष्म चित्रण को लेकर चलती है। हालांकि इसके पहले भी 'अंकुर', 'उबाल', 'चट्टान' आदि कहानियों में उन्होंने प्रेम की अनुभूति को वैयक्तिक स्तर पर अभिव्यक्त किया है परन्तु 'पलंग' संग्रह की कहानियों तक आते-आते वह सेक्स को एकदम खुले रूप में चित्रित करते है। 'ठहराव', 'बेबसी', 'पलंग', 'क्षण और मुस्कान' आदि इस संग्रह की कहानियों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। 'पलंग' 'अश्क' की बहुचर्चित कहानी है। इसका कथानक बहुत संक्षिप्त-सा है। पूरी कहानी स्थितियों और कथानायक केशो की मनःस्थितियों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्लेषण करती हुई अपनी यात्रा पूरी करती है। कहानी का शिल्प इतिवृत्तात्मक है। परन्तु वह कहानी को कहीं बोझिल नहीं बनाता, बल्कि कहानी की थीम में सहायक ही है। हां, 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' कहानी वास्तव में अनावश्यक विस्तार से युक्त है।

सन् 1937 ई० में लिखी गई यथार्थवादी कहानी 'डाची' 'अश्क' की सर्वाधिक लोकप्रिय व सफल कहानी है तथा उनकी कहानियों में इसी कहानी को सर्वप्रथम यथार्थवादी कहानी की संज्ञा का श्रेय प्राप्त है। 'डाची' कहानी इस तथ्य की गवाह है कि गरीब आदमी को किस प्रकार अपनी छोटी-से-छोटी इच्छाओं को पूरा करने के लिए कितनी जद्दोजहद उठानी पड़ती है और उसके बाद भी सम्पन्न लोगों के द्वारा वह हविया ली जाती है, इस भावना के साथ कि गरीबों की इच्छाओं-सपनों का क्या महत्त्व। इस प्रकार कथा-नायक शाकर की अपनी पुत्री को डाची भेंट करने की अदम्य इच्छा अधूरी ही रह जाती है। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में, 'गरीब आदमी की सारी भावात्मक दुनिया किस प्रकार शोषक के हाथों एकाएक छिन्न-भिन्न हो जाती है और वह मौन भाव से उसे देखता रहता है, इसे 'डाची' कहानी बड़ी सुन्दरता से उभारती है। किन्तु यहां कहीं भी शोषक-शोषित-सम्बन्धों के प्रगतिशील फार्मूलों का आरोपण नहीं लक्षित होता है। यह सत्य बहुत सहज भाव से उभरता है। और 1937 में लिखी गई या इस तरह की

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 49
2. 'हिन्दी कहानी : एक अंतर्यात्रा' : डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ, पृ० 31

अन्य कहानियों का इस फार्मूले से बच जाना अपने-आप में एक बहुत बड़ी बात है।'[1]

'डाची' कहानी का सबसे गहरा महत्त्व इस बात में है कि यह भाषा, शैली, शिल्प, संवेदना, दृष्टि और कथावस्तु—इन सभी स्तरों पर अचूक कहानी है। इस कहानी को विश्व की श्रेष्ठ कहानियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह देखना विस्मयकारी (और कष्टदायी भी) हो सकता है कि अश्क जी के बाद कहानी के लेखन में 'डाची' के स्तर की कहानियां एक-दो भी मुश्किल से मिलेंगी। उनकी कहानियों की मुख्य खूबियों के बारे में डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार—'इनकी गम्भीर कहानियां चुनौती का परिणाम हैं और 'अंगभीर' कहानियां पाठक के लिए मनोरंजन का।'[2] अश्क जी की कहानी-यात्रा सम्बन्धी मधुरेश की निम्न टिप्पणी उनके कहानी-कला के क्रमागत विकास का पूरा ब्यौरा बेहद स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करती है—

'अश्क' की कहानी-कला के बहुत-से मोड़ और पड़ाव हैं और जो रास्ता उन्होंने तय किया है, वह खासा लम्बा और वैविध्यपूर्ण है। उनकी प्रारम्भिक कहानियां एक काल्पनिक आदर्श से अनुप्राणित थीं, जो जीवन के यथार्थ और वास्तविकताओं की मामूली-सी आंच का सहारा पाने में भी नितान्त असमर्थ साबित हुई। यहीं से उनके समस्त कृतित्व का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ प्रारम्भ होता है। अश्क की कहानी-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विकास के दौर में वह पीछे नहीं छूटते और जो भी सार्थक और सामयिक है उसे अपनाने में उन्हें कभी कोई गुरेज नहीं है। उनकी कहानियों में जीवन का आग्रह क्रमशः बढ़ता गया है और शिल्प के प्रति सारी जागरूकता के बावजूद वह प्रायः ही उससे बंधते नहीं हैं। जीवन को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकारना ही उनकी कहानियों की सबसे बड़ी शक्ति है।'[3]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के कथा-चिन्तन में अनुभव की सहज प्रामाणिकता और द्वन्द्वात्मक यथार्थ की सामाजिक चिन्ता के प्रति ही आग्रह मिलता है। 'वर्तमान-साहित्य' के सद्यः प्रकाशित कथा विशेषांक में 'महिला कहानी लेखिकाओं' पर लिखते हुए 'अश्क' जी ने अनुभव की सहज प्रामाणिकता के साथ-साथ कहानीपन की कमी की ओर बार-बार संकेत किया है। 'अश्क' जी का जोर निश्चय ही उन नयी अनुभव-स्थितियों पर है, जो अपनी भिन्नता और स्वाभाविकता के कारण कहानी में जीवन्तता पैदा करती है, और यह जीवन्तता प्रभावशाली ढंग से कहानी

1. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 49-50
2. 'हिन्दी कहानी : अपनी जबानी' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 110
3. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 9

के अन्त तक छायी रहती है। 'डाची' 'कांकड़ा का तेली' उनकी ऐसी ही कहानियां हैं, जिनका संकेत ऊपर किया गया है। सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और बाह्य यथार्थ के प्रति आग्रह ने मानव-मन को समझने में अश्क की कहानियों में मदद की है और इसी-लिए वे कहानियों पर लिखते समय इन पर अधिक आग्रह करते हैं। सतत परिश्रम, अनुभव के प्रति खुलापन, प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति से सामाजिक सम्बन्ध बनाए रखने की कोशिश और शिल्प के प्रति स्वाभाविक आग्रह उनके कथा-चिन्तन और कहानियों में पाया जाता है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

'उग्र' स्वतन्त्र विचारधारा के कथाकारों में अपनी अलग पहचान रखते हैं। 'प्रेमचन्द-परवर्ती कथा-साहित्य में बहुत-से ऐसे कथाकार हैं जो किसी प्रकार की विचारपाटी के अन्तर्गत नहीं आते। उनमें सामाजिक जीवन-चेतना की पहचान है किन्तु वे मार्क्सवादी नहीं कहे जा सकते। उन्हें मनोविज्ञान से गहरा लगाव है किन्तु वे मनोविज्ञानवादी नहीं कहे जा सकते। उनके अपने-अपने अनुभवों के आधार पर सामाजिक चेतना और मनोवैज्ञानिक चेतना का एक मिला-जुला रूप उनकी कहानियों में संक्षित होता है। किन्तु उन्हें इसी आधार पर प्रेमचन्द के ठीक-ठीक समीप नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक तो इनकी कहानियों में आद्यंत यथार्थ का तनाव रहता है और उसके साथ किसी आदर्श का गठजोड़ नहीं रहता। यह दूसरी बात है कि इनकी कहानियां अपनी मानवीय संवेदना में आदर्श ध्वनित करती हैं। दूसरे, इनकी रचना में गृहीत वस्तु अपेक्षाकृत अधिक रोजमर्रा की जिन्दगी की वस्तु होती है जिसमें हम एक व्यक्ति, एक परिवार, एक नगर, एक वर्ग की जिन्दगी के छोटे-छोटे व्यापारों और उनसे सम्बद्ध मानसिकता को भी चित्रित होते पाते हैं।···इस धारा में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर और राधाकृष्ण के नाम उल्लेख्य हैं।[1]

इतना लम्बा उद्धरण 'उग्र' की कथा-रचना की विषयभूमि को जानने के लिए अपेक्षित है। अपनी निर्भीक अभिव्यक्ति, अतियथार्थपरक दृष्टि और अक्खड़ व्यक्तित्व के कारण उनका लेखन अद्वितीय प्रतीत होता है। उग्र की अतियथार्थ-वादिता का स्वरूप उनके बहुचर्चित 'चाकलेट' (कहानी-संग्रह) की भूमिका में उनके इस कथन से भी स्पष्ट होता है—'अगर सत्य को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देने में कोई कला हो सकती है, तो मेरी इन कहानियों में भी कला है और यदि

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' ; डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 52

कला हमेशा शुद्ध सत्य ही नहीं हुआ करती, तो मेरी ये प्रक्षिप्त कहानियां कलाशून्य हैं। मैं उस कला को लिखना नहीं चाहता, मैं उस कला को जानने की चेष्टा भी नहीं करना चाहता।'

उग्र ने अपने लेखन का आरम्भ सन् 1922 में किया। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में ये अपने उग्र स्वर तथा यथार्थवादी दृष्टि के लिए प्रख्यात हैं। समाज की अप्रकृत वासनाओं तथा कुत्सित वृत्तियों का निर्ममतापूर्वक पर्दाफाश करने में बेजोड़ हैं।'[1] सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के प्रभाव के कारण उनकी कहानियां राजनीतिक और सामाजिक हैं। डॉ० रामदरश मिश्र लिखते हैं कि—'अपनी राजनीतिक कहानियों में उन्होंने अंग्रेजी शासन की विसंगतियों और उनसे युद्ध करती भारतीय ऊर्जा का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। इस प्रक्रिया में आपने तथाकथित सुन्दर के असुन्दर और असुन्दर के सुन्दर का बड़ा मार्मिक उद्घाटन किया है। 'जल्लाद', 'चांदनी', 'उसकी मां' आदि श्रेष्ठ कहानियां इस सन्दर्भ में देखी जा सकती हैं। जल्लाद के क्रूर कर्म के पीछे छिपी उसकी बलिहारी ममता का 'उसकी मां' में क्रान्तिकारी बच्चों के प्रति एक दीनहीन अपढ़ मां के अगाध वात्सल्य, बलिदान और शक्ति का, देश के वास्ते बच्चों के आत्म-बलिदान का और 'चांदनी' में अपने सच्चे प्रेम के लिए एक सामान्य बालिका की एक बड़ी शक्ति से टकराहट और बलिदान का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है।'[2] इनका राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'बिगारियां' कहानी-संग्रह अपनी विद्रोहपूर्ण राष्ट्रीय चेतना को स्वर देने की चेष्टा के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। 'इन कहानियों में अंग्रेजी शासन और सामंती जीवन के भीतर निहित अमानवीय क्रूरता, कायरता और पाशव-विलास-भावना का उद्घाटन हुआ है।'[3]

'उग्र' ने अपनी सामाजिक कहानियों में समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, कुप्रथाओं व बुराइयों का इतने खुले एवं उग्र रूप में वर्णन किया है कि कहीं-कहीं वो अश्लील भी हो गई हैं।

'उग्र जी ने परम्परा से आती हुई रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के प्रति खुलकर विद्रोह किया है। समाज के जिस पक्ष को भी उन्होंने देखा है, गहराई से देखा है और उसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर दिया है चाहे उस चित्रण में अश्लीलता आ गयी या असंयम।'[4] डॉ० रामदरश मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग

1. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 129
2. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 52-53
3. वही, पृ० 53
4. 'हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान' : डॉ० रघुवरदयाल, पृ० 57-58

पहचान' में अपना मत इस रूप में व्यक्त किया है—'उग्र की सामाजिक कहानियों में बड़ी उग्रता के साथ सामाजिक विसंगतियों का, अमानवीय रीति-रिवाजों का, घिसे-पिटे मूल्यों का, पाखंडों और मिथ्याचारों का विरोध किया गया है।' 'कला का पुरस्कार', 'खुदाराम', 'कुमुदिनी' आदि कहानियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अन्य कहानियां 'आंखों से आंसू', 'काने का ब्याह', 'हत्यारा' अनमेल विवाह पर तीखे प्रहार से युक्त हैं। इनकी बहुचर्चित कहानी 'मोको चुनरी की साध' बाल-विवाह और वैधव्य जीवन की विडम्बना पर आधारित बहुत बढ़िया कहानी है। 'ब्राह्मण द्रोही' कहानी जातिवाद की विरोधी है। 'शाप', 'दिल्ली की बात' 'डोजख की आग', 'ईश्वरद्रोही', 'खुदा के सामने आदि कहानियों में' साम्प्रदायिकता फैलाने वाले, धर्म के नाम पर रक्तपात करने वाले अराजक तत्वों की धज्जियां उड़ाई गई हैं। डॉ० गोपाल राय का मानना है कि 'प्रेमचन्द की तरह उग्र भी सामाजिक चेतना के लेखक थे और वे आदर्शवादी भी प्रेमचन्द से कम न थे, पर समाज के नग्न यथार्थ को उन्होंने ऐसे कच्चे रूप में पेश किया कि तत्कालीन पाठकों और विशेषकर समीक्षकों ने उन्हें पश्चिमी प्रकृतवाद का अनुगामी समझ लिया। उनकी कहानियों में अनुभूति की तीव्रता कुछ कम है और सामाजिक शोषण, अनाचार एवं कुप्रथाओं के प्रति आक्रोश तनिक ज्यादा है। यही कारण है उनकी कहानियां उतना बेचैनी नहीं, जितना चौंकाती और झकझोरती हैं···व्यंग्य का जैसा पैनापन उनकी कहानियों में मिलता है, वैसा बहुत कम लेखकों में सुलभ होता है।'[1]

'प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथाकारों में उग्र का अपना अलग व्यक्तित्व है। यह अलगाव उनकी शैली का है। उग्र स्वभाव से बड़े ही स्वच्छन्द और व्यवस्था-विरोधी रहे हैं इसलिए उनकी शैली में एक मस्ती है, अल्हड़ आत्मीयता है।'[2] अज्ञेय जी 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' में उनकी कहानियों की भिन्न-भिन्न शैलियों का उदाहरण कहा है। भाषा-शैली, कल्पना, आकर्षण सब कुछ अनूठा है। उनकी एक कहानी 'डोजख की आग' में उनकी शैली का नमूना देखिए—

'मेरी एक मां थी। मस्जिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान की तरह पाक।'[3]

उपर्युक्त उद्धरण में उपमाओं का अनुपम सौन्दर्य व्याप्त है। भाषा-शैली

---

1. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 91-92
2. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 52
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : 'अज्ञेय', पृ० 42-43

एकदम सहज व सरल है। 'सजीव एवं सशक्त पद-विन्यास और व्यावहारिक तथा प्रवाहपूर्ण भाषा-प्रयोग इनकी शैलीगत विशेषताएं हैं।'[1] 'गद्य के शैलीकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।'[2] शैली की दृष्टि से उग्र के लेखों, रचनाओं और कृतियों में जीवन की परिस्थितियों के प्रति तीव्र कटाक्ष, कटु आक्रमण और विरोध स्पष्ट झलकता है। 'उग्र' के पास यथार्थ और आक्रोश की भाषा के साथ-साथ नितान्त पौरुषपूर्ण शैली भी है।'[3]

'मौलिकता की दृष्टि से 'उग्र' की रचनाओं में साहस और शक्ति का परिचय मिलता है। 'उग्र' ने सदैव उसी मौलिकता की खोज में कभी-कभी साहित्यिक स्तर की भी परवाह नहीं की है। यह कारण है कि 'उग्र' ने जितना भी लिखा है, वह यद्यपि सब-का-सब साहित्यिक स्तर से उतना महत्त्वपूर्ण न हो, फिर भी अपनी मौलिकता के कारण उसका एक विशिष्ट स्थान है। 'उग्र' जिस युग में थे, उसमें शायद भाषा और दृष्टि दोनों में एक आदर्शवादी आग्रह अधिक था। प्रत्येक आदर्शवादी युग में समसामयिकता का बोध प्रायः खो जाता है। ऐसे युग में भी अपनी नितान्त समसामयिक अनुभूतियों को लिख देना और उसकी यथार्थपरक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करा देना कम महत्त्व की बात नहीं है।'[4]

'व्यक्तित्व की मौलिकता और उसका स्वतन्त्र रूप इस समय सिर्फ बेचन शर्मा 'उग्र' में मिलता है। समाज के अनावृत चित्रण के कारण भले ही आलोचकों ने उन पर प्रहार किया हो, लेकिन समाज के कुत्सित पक्ष का निर्ममतापूर्वक उद्घाटन ही उन्हें स्वतन्त्र लीक का कहानीकार बनाता है। जो तीखापन, चुटीलापन और चुभता व्यंग्य उनकी कहानियों में मिलता है, वह आज के सन्दर्भ में उनकी कहानियों पर फिर से विचार करने के लिए विवश करता है। प्रसाद के रोमांटिसिज्म और प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से अलग उनकी कहानियां आज के तीखे तेवर की कहानियां हैं, जिसे पहचाना जाना चाहिए।'[5]

आधुनिक आलोचना में प्रसिद्ध समीक्षक के लिथ वर्क ने 'फिलॉसफी आफ लिटरेरी फार्म' पुस्तक में 'डी बॉकिफ' (असलियत को सामने लाना) को आधुनिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण गुण माना है। सार्त्र ने 'ह्वाट इज लिटरेचर' पुस्तक में 'उद्घाटन' को साहित्य का सर्वप्रमुख गुण माना है। इस दृष्टि से उग्र की

1. 'भारतीय साहित्य कोश' : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 129
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग-2), सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 315
3. वही
4. 'प्रसाद का कथा साहित्य' : डॉ० विरोज रस्तोगी, जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, पृ० 8

कहानियां अपने से पूर्व के रचनाकारों की तुलना में आधुनिकता के उस पक्ष को प्रतिष्ठित करती हैं, जो अनेक कारणों से प्रेमचन्द, प्रसाद और सुदर्शन के द्वारा सम्भव नहीं हो सका।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने बहुत अधिक कहानियां नहीं लिखी हैं। कथा-चिन्तन भी उनका बहुत-ही कम उपलब्ध है। दरअसल आगे चलकर उनका मुख्य कार्यक्षेत्र सम्पादन कर्म बन गया और कुछ वर्ष अपने सम्पादक-जीवन के आखिरी दौर में, वो हिन्दी की श्रेष्ठ कहानी, पत्रिका 'द्वारिका' के सम्पादक भी रहे।

उनकी कहानियां सोद्देश्यता को आधार बनाकर चलने वाली कहानियां हैं। प्रेमचन्द और सुदर्शन की भांति चरित्रों की क्रियाशीलता और घटनाओं का सहज विश्वसनीय प्रवाह तो उनमें नहीं मिलता है, लेकिन लोक जीवन में पाई जाने वाली आदर्शवादी विश्वसनीयता उनमें पाई जाती है। कहानी-समीक्षक मधुरेश ने लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानियों का मूल स्वर आदर्शवादी है। उनकी कहानियां न तो जैनेन्द्र की कहानियों की भांति शैलीगत आकर्षकता और दार्शनिक धरातल लिए हैं और न यशपाल की कहानियों की भांति एक पैनी और जागरूक सामाजिक चेतना ही उनमें है। उनकी कहानियां प्रायः ही प्रेमचन्द और सुदर्शन के भावबोध की कहानियां हैं। कहानी के अन्दर पूरा कथानक, विस्तृत चरित्र-चित्रण उनकी कहानियों को बहुत-कुछ एक निश्चित-सा ढांचा देते हैं। शिल्प के प्रति उनका आग्रह एकदम नहीं है। व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण और कहानी गढ़ने का परम्परागत रूप प्रायः उनकी सारी कहानियों में मिलता है। 'पतझर,' जैसी एकाध कहानियां अपवाद मात्र हैं जहां वह सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता की ओर झुकते हैं। वैसे उनकी कहानियों का प्रतिनिधि रूप 'सिकन्दर डाकू' और 'चिन्दयी की कीमत' जैसी कहानियों में मिलता है जिनकी अन्तर्भूत दृष्टि मूलतः आदर्शवादी है और बहुधा ही जाने-अनजाने तो लेखक प्रेमचन्दयुगीन हृदय-परिवर्तन के फार्मूले को दोहराता है। 'वापसी' उनकी प्रतिनिधि कहानियों के बहुत से ऊपर होने पर उनकी और कहानियों से थोड़ी अलग है। वह एक मानवीय धरातल पर लिखी गई कहानी है और प्रभाव की दृष्टि से बहुत सफल है।'[1]

इनकी कहानियों में से सबसे अधिक चर्चित कहानी 'वापसी' रही है, जो उषा प्रियंवदा की 'वापसी' से नितान्त भिन्न है। 'वापसी' कहानी करुणा और

1. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 13

प्रेम के दो मूलभूत आदर्शों पर टिकी हुई कहानी है। विद्यालंकार जी की यह कहानी अपने परिवेशगत सन्दर्भ को आदर्श की तुलना में ही रखती है ताकि आदर्श अधिक सशक्त और विश्वसनीय बन सके। इसका विश्लेषण करते हुए मधुरेश ने एक स्थान पर लिखा है—'चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और प्रेमचन्द की दृष्टि में कोई मौलिक अन्तर नहीं। 'वापसी' इस अर्थ में थोड़ी अधिक सामयिक है कि यह युद्ध की भयावहता को उभारकर आज के संकट का बोध भी दे सकी है। अन्यथा उसमें भी मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों को उभारने वाली प्रवृत्ति ही अधिक है।'[1] 'वापसी' कहानी के सन्दर्भ में मधुरेश का ही कहना है कि 'परिवेशगत सूक्ष्मताओं से अधिक लेखक की दृष्टि मानवीय करुणा और चरित्र के आदर्श पर रही है और उसमें उसे पूरी सफलता मिली है।'[2]

वे अपने केन्द्रीय भाव के अनुसार कहानी गढ़ लेते हैं, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा भी है—'मेरी कल्पना में प्रायः सबसे पूर्व कहानी का मूलभाव आता है, कथानक नहीं।''' हां कहानी का केन्द्रीय भाव अवश्य स्पष्ट रूप से मेरे सम्मुख रहता है।'[3] उनकी 'वापसी' कहानी में युद्ध की नृशंसता का यथार्थ चित्रण है। परिवेश के सूक्ष्म वर्णन के बावजूद लेखकीय दृष्टि मानवीय संवेदना के बिन्दुओं को स्पर्श करती है।

इनकी अन्य महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं—'मास्टर साहब,' 'क, ख, ग,' 'कामकाज,' 'बीबीस घण्टे,' 'एक सप्ताह,' 'गोरा,' 'बचपन,' 'सन्देश,' 'ओस्,' 'शराबी,' 'भय का राज्य,' 'पगली,' 'ताड़ का पत्ता' आदि।

'चन्द्रगुप्त विद्यालंकार मूल्यों के विघटन से गुजरते हुए अन्ततः किसी सकारात्मक जीवन-मूल्य को अपना समर्थन देते दिखाई देते हैं। 'वापसी' में एक बच्ची तमाम नफरत को प्यार में बदल देती है। 'मास्टर साहब' कहानी संकेत करती है कि विभाजन के क्रूर दौर में भी मानवीय मूल्य एकदम स्वाहा नहीं हो गए थे। 'पुलाव और सरदी' आर्थिक अभाव की विभीषिका को व्यंजित करती है।'[4]

'पहला नास्तिक' की भूमिका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में पहले कथ्य आता है; शेष ढांचा वह कथ्य ही निर्मित करता है। यह स्वीकृति आदर्शवादी, नैतिकतावादी या सोद्देश्यतावादी रचनाकार की विशेषता है। क्योंकि कहानी का मूल या केन्द्रीय भाव अपना आवरण या

---

1. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 56
2. वही, पृ० 15
3. 'पहला नास्तिक' : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृ० 11
4. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तर्यात्रा' : डॉ० बेदप्रकाश अमिताभ, पृ० 32

कथानक खुद निर्मित करता है, इसलिए कहानी की पूरी संरचना उस कथ्य को अधिकतम विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करने के लिए निर्मित होती है। इस प्रकार की कहानियां एक बहुत अधिजातवर्ग के पाठकों के लिए नहीं है, बल्कि सामान्य जनता के लिए अधिक सार्थक होती है। वह इनमें अधिक रस लेता है। इस प्रकार की कहानियों की भाषा निश्चय ही पारदर्शी और घटना या कथावस्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कालक्रमिक होती है।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर हिन्दी में मूलतः नाटककार और जीवनीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके कथा-चिन्तन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे प्रेमचन्द, शरतचन्द से प्रभाव ग्रहण करने के साथ-ही-साथ अपने समय के स्वतन्त्रता आन्दोलन, संस्कृति-पुरुषों—जैसे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू से भी प्रभावित रहे हैं जिसके कारण साहित्य के बारे में उनकी धारणा प्रेमचन्द की तरह से आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी बन गई है। 'संघर्ष के बाद' के पहले संस्करण की भूमिका में विष्णु प्रभाकर ने अपनी कहानियों तथा कहानी-मात्र के विषय में जो कुछ लिखा है उससे यह कहा जा सकता है कि उनके कथा-चिन्तन और कहानियों में अद्भुत साम्य है। उनकी 'धरती अब भी घूम रही है,' एक बहुचर्चित कहानी है। यह कहानी हमारे सामाजिक जीवन को लेकर एक बहुत बड़ा व्यंग्य है। एक ओर उसमें हमारे समाज का नैतिक-सामाजिक स्खलन प्रतिबिम्बित होता है, वहीं बालमनोविज्ञान के सम्दर्भ में कुछ करुणा और मार्मिक दृश्य उद्घाटित होते है।···प्रभाव की दृष्टि से वह जितनी घनी बन पड़ी है, मौलिकता की दृष्टि से उतनी ही बहुत भी।'[1]

यह कहानी जिस समय छपी थी, उस समय इस अर्थ में बहुत चर्चित हुई थी कि मनुष्य की त्रासदी का अन्त अभी नही हुआ है। यह कहानी मानव-मात्र के प्रति जहां गहरी मानवीय संवेदना को व्यक्त करती है, वहीं दूसरी ओर यथार्थ की स्थिति को भी रेखांकित करती है। चूंकि विष्णु जी अनेक विधाओं में लिखते रहे हैं—कहानी, उपन्यास, नाटक, रिपोर्ताज, जीवनी, स्केच—इसलिए उनकी कहानियों में नाटक आदि के प्रभाव भी मिलते है। आदर्श और यथार्थ का जो अनोखा मिश्रण अन्तर्वृत्तियों की गहरी पहचान के साथ पाया जाता है वह उनकी कहानियों को काफी सीमा तक मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की कहानियां बना देता है। वैसे भी विष्णु जी मनुष्य की बाह्य अभिव्यक्ति को उसके भीतरी

1. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 12-13

सोच का बाह्याभ्यंतरण मानते हैं, जिसके कारण उनका जोर अन्तर्मन को अधिक सटीक ढंग से चित्रित करने पर रहता है। सामाजिक जीवन और आर्थिक परिस्थितियां कथ्य के लिए सन्दर्भ का कार्य करती हैं, जो उनकी कहानियों की कथावस्तु बनती है—उनका आत्मकथ्य है कि—'हमारे सामाजिक जीवन में जो भ्रष्टाचार घर कर गया है, उसके सम्बन्ध में अनेक घटनाओं से मुझे परिचित होने का अवसर मिला है, और उनका जो प्रभाव मुझ पर पड़ा है, उन्हीं का सामूहिक रूप यह है।'[1]

सामाजिक जीवन से प्राप्त अनुभव का सोच के माध्यम से परिवर्तित होकर कहानियों के रूप में रूपान्तरण एक जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करता है। यह आस्था विष्णु प्रभाकर को राजेन्द्र यादव द्वारा सम्पादित हंस में प्रकाशित 'एक कुत्ती और' कहानी में विसंगति-बोध को आधार बनाकर व्यक्त की गई है। महेश दर्पण ने कहानी-कोश की भूमिका में लिखा है कि 'विष्णु प्रभाकर मूलतः सामाजिक चेतना सम्पन्न कथाकार है। स्वस्थ जीवन-दृष्टि उनकी विशेषता है। 'सुराज' और 'धरती अब भी घूम रही है'—जैसी कहानियों के रचनाकार की इधर की कहानियों को भी पढ़े तो इनकी कहानी-कला के प्रति एक सहज आस्था उपजती है जो 'जिन्दगी एक रिहर्सल,' 'एक कुत्ती और,' 'पैड़ियों पर उठते पदचाप' जैसी कहानियां अब भी दे रही हैं।'[2]

'भारतमाता की जय' 'जीवनदीप,' 'नंगी चट्टान'—जैसी कहानियों में आत्मबलिदान के महत्त्व के साथ-ही-साथ साहस, दृढ़ता और भारतीय स्त्रियों की निष्कपट प्रेम-भावना का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है जो इन कहानियों को ऐतिहासिक और समसामयिक बनाता है। मधुरेश ने ठीक ही लिखा है कि 'शैली और अभिव्यक्ति की दृष्टि से विष्णु प्रभाकर की कहानियां बहुत-कुछ जैनेन्द्र कुमार की कहानियों के निकट-सी लगती हैं; परन्तु उनमें कथातत्त्व के प्रति उदासीनता एकदम नहीं है और उनकी कहानियों का सामाजिक सन्दर्भ उन्हें अतिरिक्त क्षमता से सम्पन्न करता है। एक ओर उन्होंने पैनी दृष्टि से सामाजिक स्खलन को देखा है और उसे तटस्थ संवेदनशील अभिव्यक्ति दी है, वहीं दूसरी ओर वह पात्रों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूत्रों को बड़े कौशल से पकड़ते हैं। शिल्प के प्रति अतिशय आग्रहशील न होने पर भी उनकी कहानियों का शिल्प मन-मस्तिष्क पर अपने संस्कार छोड़ता है। उनके शिल्प की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह चमत्कारहीन सहज और अनारोपित है। बहुधा ही परम्परागत नैतिकता और रूढ़ मान्यताओं का विरोध उनकी कहानियों में हुआ है और वह

1. 'धरती अब भी घूम रही है' : (भूमिका), विष्णुप्रभाकर, पृ० 5
2. 'स्वातन्त्र्योत्तर (हिन्दी कहानी-कोश)' : सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 7-8

वर्जनाओं से बाहर निकले हैं।'[1]

विष्णु प्रभाकर की 'तांगेवाला' कहानी जहां पुलिस की क्रूरता और अमानवीयता का संकेत करती है, वहीं एक त्रासदी का अत्यन्त कारुणिक रूप भी प्रस्तुत करती है। विष्णु प्रभाकर की अधिकांश कहानियां जिस बिन्दु पर समाप्त होती हैं, वहां वे भारतीय परम्परा की कहानियों की भित्ति सिरे से पुनः प्रारम्भ होती है। अर्थात् पाठक को सोचने के लिए बाध्य करती हैं। 'स्वप्नमयी' कहानी पद्य-शैली में लिखी गई कहानी है, परन्तु वह पंगु-जीवन के विरोध में भी है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'साहित्य कोश' भाग-2 में विष्णु प्रभाकर पर लिखते हुए उनकी कहानियों के बारे में लिखा है कि—'कहानियों में हमें कोमल क्षणों की मार्मिक संवेदना मिलती है' कहीं-कहीं दुरूहता भी, किन्तु अभी तक केवल अच्छी झलकियां मात्र मिलती हैं, उसकी विवश अनिवार्यता इनकी कृतियों में नहीं दीख पड़ती। इसलिए यह आसानी के साथ कहा जा सकता है कि विष्णु जी की कहानियां, रोचक होने के साथ-साथ, संवेदनशील भी हैं। चरित्र-चित्रण में कहीं-कहीं आदर्शवादी वृत्ति खटकती अवश्य है, लेकिन कहानी के प्रवाह को वह रोकती नहीं। इसलिए वह बाधा न पहुंचाकर, जहां संघर्ष को तीव्र बनाती है, वहीं सफल भी हुई है।'[2]

अमृत राय

अमृत राय की कहानियों के विषय में कृष्णचन्दर ने लिखा है, 'अमृत राय महज कहानी लिखने के लिए कहानी नहीं लिखते बल्कि कहानी लिखते वक्त उनके सामने जिन्दगी के और समाज के और चरित्र और वर्गों के मसले रहते हैं, उनकी टक्कर रहती है और उस टक्कर से कुछ निष्कर्ष निकलता है।'''जिन्दगी और समाज के बारे में उनका एक जीवन-दर्शन है जिसे वह अपनी कहानियों में लागू करते हैं।'[3] और यह जीवन-दर्शन उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। यह दृष्टिकोण अमृत राय के 'बीज' उपन्यास के दौर के आस-पास लिखी गई कहानियों में मिलता है। अमृत राय उन कहानीकारों में हैं, जिनकी कहानियों और उपन्यासों में सामाजिक जीवन की गतिविधियों की स्पष्ट झलक मिलती है। वे एक प्रकार से वैयक्तिक भावावेग और सामाजिक निष्कर्षों से जुड़ी हुई कहानियां होती हैं। 1940 के आस-पास 'आज की कहानी पर कुछ विचार' में

1. 'हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 11
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' (भाग-2), विष्णु प्रभाकर, पृ० 5
3. 'लाल धरती' : अमृत राय (भूमिका)

उन्होंने यह लिखा है कि 'कुछ दिन पहले तक जो बातें कुछ धूमिल और अस्पष्ट-सी जान पड़ती थीं, वे अब दिनोंदिन साफ होती जा रही हैं। उनमें से एक यह है कि प्रगतिशील कहीं ही जी सकती है, यदि प्रगतिशील कहानी से हम आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तत्त्वों से अनुप्राणित कहानी समझें। जो क्रान्ति की शक्ति को समझता है, उस ओर से जागरूक है और जो एक वर्ग-मानवता (अर्थात् जो मानवता को स्वीकार करते हुए भी वर्गों को नकारने पर अपने को बाध्य नहीं पाता बल्कि जो विकास को वर्ग-संघर्ष का इतिहास मानता है) के प्रति अपना नैतिक उत्तरदायित्व अनुभव करता है, केवल ऐसा साहित्य ही जी सकता है, जी रहा है।'[1]

उनकी यह प्रगतिशील दृष्टि उनकी कहानियों में लक्षण की तरह मिलती है। कहानी कोश की भूमिका में महेश दर्पण ने लिखा है कि—'समाजवादी संचेतना के कथाकार अमृत राय अपनी सहज अभिव्यक्ति और प्रगतिशील दृष्टि-कोण के कारण एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार के तौर पर इसी दौर में उभरकर सामने आए। 'कस्बे का एक दिन,' 'एक सांवली लड़की', 'हजार मन राख और एक चिंगारी' जैसी उनकी पहले की कहानियों का प्रभाव अब भी देखा जा सकता है।'[2] उनकी कुछ कहानियां हैं, 'आह्वान', 'एक सांवली लड़की', 'हजार मन राख और एक चिंगारी', 'गीली मिट्टी', 'कस्बे का एक दिन', आदि। 'जीवन के पहलू', 'इतिहास', 'लाल धरती', 'कस्बे का एक दिन', 'भोर से पहले', 'कठघरे' आदि इनके कहानी-संग्रह हैं। इन संकलनों की अधिकांश कहानियों में सामाजिक जीवन की विषमताओं, रूढ़ियों, मर्यादाओं के प्रति सुविचारित दृष्टिकोण मिलता है जो कहानी पर समय-समय पर व्यक्त किये गए विचारों का प्रतिनिधित्व करता हुआ लगता है। 'नयी कहानी' में उनकी कहानियों का विश्लेषण करते हुए 'आलोचना' (पुर्णांक्) में सुप्रसिद्ध आलोचक मधुरेश ने ठीक ही कहा है कि—'आह्वान' रूढ़, जर्जर संस्कारों और नये समाज के निर्माण के शाश्वत संघर्ष की एक मर्मस्पर्शी कहानी है। शिल्प की दृष्टि से वह भले ही उतनी महत्त्वपूर्ण और नयी न हो, जैसा कि 'चित्रफलक' और 'समय', परन्तु वह अमृत राय के जीवन-दर्शन को उसकी समग्रता में रेखांकित करती है।

अमृत राय हिन्दी के उन कहानीकारों में हैं, जिनके प्रारम्भिक दौर की कहानियों में मार्क्सवादी विचारों के प्रति गम्भीर निष्ठा के कारण कहानियों की एक रूढ़ि विकसित होती दिखाई देती है और वह रूढ़ि अमृत राय की कहानियों में उनके नूतन संग्रह तक में है। वस्तुतः किसी कहानीकार की कहानियों के

1. 'नयी समीक्षा' : अमृत राय, पृ० 53
2. 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी कोश' : सम्पा० महेश दर्पण, पृ० 8

कथा-समय, उसकी रचना-दृष्टि और सामाजिक जीवन के प्रति दृष्टिकोण के ताल-मेल से बचते हैं। अमृत की कहानियों में यह 'कथा-समय' प्रगतिशील विचारधारा के आग्रह के कारण बहुत शीघ्र विकसित हो गए हैं फिर भी 'समय' कहानी को लेकर मोहन राकेश की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है—'अमृत राय की कहानी 'समय' थीम की दृष्टि से नयी नहीं है, फिर भी उसमें अपना एक नयापन है।'''कहानी बहुत ही आत्मीय ढंग से लिखी गई है, जिससे गीता की व्यथा सहज ही पाठक की अपनी व्यथा बन जाती है और गीता के पत्र को पढ़ चुकने के बाद उसे कुछ ऐसा महसूस होता है जैसे वह स्वयं भी गीता के प्रति कुछ अपराधी हो। कहानी की एक और विशेषता उसके निहित संकेत में भी है'''कहानी के वातावरण में आरम्भ से अन्त तक समायी हुई उदासी है, उसके दोनों पात्रों के मौन में जो विकल ट्रेजेडी है, उससे यह कहानी बहुत दिन तक याद रहने वाली कहानियों में अपना स्थान बना लेती है।'[1]

1933 ई० से कहानियां लिखना आरम्भ करने वाले अमृत राय अभी भी लिख रहे, जिसके कारण रचना के प्रति उनकी दृष्टि समाज के प्रति उनकी दृष्टि के बराबर बदलती रही है। 'बीज' से लेकर 'सुख-दुःख' तक, जिस प्रकार उपन्यासों में स्वतन्त्रता के बाद से उत्पन्न मोहभंग की स्थिति बढ़ती गई है, वैसे ही कहानियों में भी। मार्क्सवादी विचारों के प्रति आस्था ■ बावजूद इससे सम्बद्ध राजनैतिक दलों के प्रति जो तटस्थता का भाव उनकी विचारधारा और साहित्य तथा 'आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा' में मिलता है, वह उनकी कहानियों में भी बढ़ता गया है। 'आह्वान' कहानी से लेकर 'कस्बे का एक दिन' तक, जहां यथार्थ और भविष्य के प्रति गहरी आस्था है, वहीं उसके बाद के संकलनों में एक अजीब प्रकार की बेचैनी तथा अविश्वसनीयता मिलती है।

'कस्बे का एक दिन' के अन्त में अमृत राय ने लिखा है कि 'लेखक जिस सामाजिक परिवेश, जिन पात्रों और जिस कथावस्तु को लेकर चलता है, वे भी एक हद तक लेखक को एक खास निष्पत्ति की ओर जाने पर विवश करते हैं। 'कस्बे का एक दिन' में नवनिर्माण के तत्वों की सूचना न होने के पीछे मेरी अक्षमता के साथ-साथ उस सामग्री की आंतरिक अक्षमता भी है, जिसने 'स्कैच' के ईंट-गारे का काम किया है। इस प्रश्न पर विचार करते समय इन दोनों ही बातों का ध्यान रखना पड़ेगा और पूरी कहानी या स्कैच पर इसी सम्यक् दृष्टि से विचार करना पड़ेगा'[2]

इस उद्धरण से जब हम अज्ञेय के 'विपथा' कहानी-संग्रह पर नवम्बर 1944

1. 'नयी कहानियां' : जुलाई 1960, सम्पादक भैरवप्रसाद गुप्त, पृ० 78
2. 'कस्बे का एक दिन' : अमृत राय, पृ० 43

में 'हंस' में छपी उनकी समीक्षा—जिसमें कि उन्होंने यह लिखा है कि 'क्योंकि उनमें एक म्रियमाण समाज-व्यवस्था का ही चित्रण है, नये विश्व का प्रकाशन उनमें नहीं है। जीवन के कोलाहल से अलग हटकर उसकी विकृतियों को समझने का जो प्रयत्न किया गया है, उसी का परिणाम ये कहानियां हैं जो प्रथमतः अपनी दुरूह कहानी-कला के कारण समझ में नहीं आतीं। कहानी ही नहीं जाव पड़ती और दूसरे विषयवस्तु में इतने घोर नैराश्य में डूबी हुई हैं कि उनसे अरुचि हो जाती है। इन कहानियों के रूप और विषयवस्तु दोनों पर लेखक की जनविरोधी प्रवृत्ति की छाप है।'[1] से तुलना करने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि 1944 से 1960 के बीच न केवल उनके कथा-चिन्तन में बदलाव आया है, बल्कि कहानियों की सम्पूर्ण रचना में परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अमृतराय की कहानियों में बाद में मनोभावों के विश्लेषण और अन्तर्वृत्तियों के पहचान की जो क्षमता बढ़ती गई है वह प्रगतिशीलता के सिद्धान्तों के आरोपित करने के दृष्टिकोण से क्रमशः हटते जाने से ही सम्भव हुई है।

भीष्म साहनी

भीष्म साहनी कहानी की मूल प्रेरणा का स्रोत जीवन को ही मानते हैं और 'मेरी प्रिय कहानियां' की भूमिका में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—'कहीं-न-कहीं, कोई जाना-पहचाना पात्र, कोई वास्तविक घटना उसकी तह में रहते हैं। पूर्णतः कल्पना की उपज कहानी नहीं होती, कम-से-कम मेरा ऐसा ही अनुभव है, जिंदगी ही आपको कहानियों के लिए कच्ची सामग्री जुटाती है, जहां हम समझते हैं कि कहानी हमने मात्र अपनी 'सोच' में से निकाली है, वहां भी उसे किसी-न-किसी रूप में जीवन का ही कोई संस्कार अथवा प्रभाव अथवा अनुभव का ही कोई निष्कर्ष उत्प्रेरित कर रहा होता है।'[2] उनकी दृष्टि में वही कहानियां, अधिक प्रभावशाली और महत्वपूर्ण बन जाती हैं, जिनमें व्यापक स्तर पर सार्थकता पाई जाती है। ऐसी ही कहानियां उन्हें विशेष रूप से प्रिय हैं और इसी आधार पर उन्होंने अपनी प्रिय कहानियों का चुनाव भी किया कि वो सामाजिकता और प्रासंगिकता का प्रतिनिधित्व करें।

कहानियों की व्यापक सार्थकता से उनका अभिप्राय है कि अगर उनमें से कोई सत्य झलकता है, तो वह सत्य मात्र किसी व्यक्ति का निजी सत्य ही न रहकर बड़े पैमाने पर पूरे समाज के जीवन का सत्य बनकर सामने आए, जहां

1. 'हंस' (नवम्बर 1944) समा०-अमृत राय, पृ० 161-162
2. 'मेरी प्रिय कहानियां' : भीष्म साहनी, पृ० 7

वह अधिक व्यापक संदर्भ ग्रहण कर पाए, किसी एक की कहानी न रहकर, पूरे समाज की कहानी बन जाए, जहां वह हमारे यथार्थ के किसी महत्वपूर्ण पहलू को उजागर करती हुई अपने परिवेश में सार्थकता ग्रहण कर ले।'[1]

प्रेमचन्द और यशपाल के बाद, सामाजिक चेतना-सम्पन्न तथा सामाजिक यथार्थ के प्रति सजग कहानीकार की हैसियत से भीष्म साहनी की कहानियों में एक विशेष प्रकार की सामाजिक प्रतिबद्धता है, जिसका निर्वाह उन्होंने बड़ी ईमानदारी के साथ किया है। मधुरेश की इस संदर्भ में यही सम्मति है कि—'इस बात में बहुत हद तक सच्चाई है कि उनकी कहानियों का मूल संस्कार या तो प्रेमचंदयुगीन है या फिर उसका वह रूप है, जो प्रेमचन्द के उन परवर्ती साहित्यकारों के यहां उपलब्ध है, जो सामाजिक सोद्देश्यता और प्रयोजन के साहित्य में विश्वास रखते हैं।'[2]

ऊपरी तौर पर सीधी-सपाट प्रतिभासित होने वाली उनकी कहानियों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में किसी-न-किसी ठोस सत्य की अभिव्यक्ति निहित रहती है। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार, 'उनकी कहानियों में अर्थ-गर्भत्व है? यही अर्थ या ध्येय उनके रचनाकार को सार्थकता देता है। भीष्म साहनी की कहानियों में जीवन का सत्य इसी तरह खंड के भीतर से, किंतु उसे खंडित करता हुआ, पूर्ण की ओर संकेत करता है; खंड की सीमा को तोड़कर पूर्ण से मिलता है, मुख्यार्थ को बाधित करके समग्र अर्थ को व्यंजित करता है, जीवन की हर छोटी घटना के भीतर से सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता का अनुभव कराता है।'[3]

काल-सम्बन्धी चेतना व काल की महत्ता को कलाकार व लेखक के संदर्भ में परिभाषित करते हुए भीष्म साहनी लिखते हैं—'अपने समय और काल को लांघकर कभी कोई नहीं जिया, भले ही वह कोई कलाकार हो, या बढ़ई या डॉक्टर। इस दृष्टि से एक लेखक भी वैसा ही सामान्य जीव है, जैसा कोई अन्य जीव। न इसके पर होते हैं, न सींग और इस दृष्टि से कलाकार अपने को आंकता है। अपनी कला के दर्पण में अपने काल के जीवन, उसकी विषमताओं, विरोधाभास को ही उतारता है।'[4] उक्त विचार उनकी कहानियों के संदर्भ में बिलकुल सही उतरते हैं। वास्तव में उन्होंने अपने काल के जीवन, उसकी विषमताओं तथा विरोधाभासों को अपने कथा-साहित्य में यथासम्भव पकड़ने और उभारने का सफल प्रयास किया है।

---

1. मेरी प्रिय कहानियां : भीष्म साहनी, पृ० 6-7
2. 'आज की कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृष्ठ 31
3. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 26
4. 'सारिका' (अक्तूबर 1965) सं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृ० 31

भीष्म साहनी के अग्रज बलराज साहनी द्वारा उनकी रचना-प्रक्रिया और विचारो पर की गई यह टिप्पणी भीष्म के समग्र कथा-साहित्य को समझने-परखने व मूल्यांकन करने मे सहायक है : 'भीष्म के मिजाज में एक और खूबी मैंने यह देखी कि उसमें जल्दबाजी नहीं है।...कहानी की कथावस्तु का चुनाव भी वह बड़े धीरज से करता है। साधारण लोगों के जीवन की छोटी-छोटी बातें वह खुद अपनी आंखों से देखता है, उन लोगों की सामाजिक और व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है, पात्रों को कल्पना में से नहीं, जीवन में से खोजता और चुनता है। लिखते समय भी वह कहता है कि इस यथार्थपन में ही कहीं रत्न-माणिक छिपा हुआ होता है, जो कलाकार या लेखक की प्यार-भरी जोड़-तोड़ के कारण कभी-न-कभी नंगा होकर अपनी चमक दिखा जाता है। भीष्म न तो किसी साहित्यिक वाद-विवाद में पड़ता है, और न ही किसी सिद्धान्त के आधार पर लिखता है। वह वही कुछ लिखता है, जो उसे खुद को अच्छा लगे, जो उसे खुद समझ आए।'[1]

उनके अब तक प्रकाशित सात कहानी-संग्रहों के नाम इस प्रकार हैं : 'भाग्यरेखा' (1953), 'पहला पाठ' (1956), 'भटकती राख' (1966), 'पटरियां' (1973), 'वाङ्चू' (1978), 'शोभायात्रा' (1981) एवं 'निशाचर' (1983)।

'भीष्म साहनी की कहानियों में वर्ग-वैषम्य और आर्थिक-विपन्नता को प्रमुख रूप से स्वर दिया गया है। सामाजिक प्रतिबद्धता कहानीपन का आग्रह उनकी विशेषता है। समूची नयी कहानी मे सामाजिक चेतना के प्रति उन जैसा सहज और सम्पूर्ण लगाव शायद ही किसी का है—जैसे वे अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को अपनी रचना में नियोजित कर देते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में कहानी की विधा का एक सरल बहाव और सादगी है, काश वे परम्परागत बोध के पठार से आगे बढ़कर बोधहीनता की नयी सच्चाई को भी देखते।'[2]

इसी क्रम में भारत यायावर के विचारों को भी रेखांकित किया जा सकता है। उनका कहना है कि 'सामाजिक प्रतिबद्धता के नाम पर उपदेश देने की प्रवृत्ति रचना के सौंदर्य को न सिर्फ बिगाड़ देती है, बल्कि उसे नीरस और प्रभावहीन भी बना देती है। भीष्म साहनी ने सामाजिक प्रतिबद्धता के नाम पर अपनी कहानियो में ऐसी प्रवृति कहीं-कही अपनाई है। उन्होंने अपनी बात कहने के लिए कई 'राजा-रानी' या 'ऋषि-महर्षि' को आधार बनाकर 'शोभायात्रा', 'रानी महतो', 'पहला पाठ', 'अनोखी हड्डी', 'भटकती राख', 'अमोड़ा' जैसी सशक्त

1. 'सारिका' (अगस्त 1965) सं० चंद्रगुप्त विद्यालंकार, पृ० 35
2. 'कहानी की बात' : मार्कण्डेय, पृ० 65

और महत्वपूर्ण कहानियां हिंदी को दीं, पर इन कहानियों की सोद्देश्यता समकालीन जीवन यथार्थ के प्रति व्यंग्य या प्रहार करने में है, न कि उपदेश परकता में।'[1]

'उपदेश' के योग्य आदर्शवादिता का भीष्म जी की कहानियों में कहीं अभाव नहीं, लेकिन यह 'उपदेशात्मकता' स्थूल नहीं, बल्कि कलात्मक रूप में है। भीष्म साहनी के कहानी-संग्रह 'भटकती राख' की समीक्षा करते हुए मधुरेश लिखते हैं : 'भीष्म साहनी की कहानियां जिन तत्त्वों से निर्मित है, वे अपनी सम्पूर्ण समाजधर्मिता के बावजूद किसी भी धरातल पर संकीर्णता और पक्षधरता की गंध नहीं छोड़ते। वे मनुष्य की सामान्य अनुभूतियों की सहज-सामान्य छवियां हैं, जो रूढ़ियों और संस्कारों पर चोट करने पर भी किसी प्रकार की तल्खी और आवेग से मुक्त है। जिस जीवन की वे कहानियां हैं; उसका सीधा और गहरा परिचय लेखक को है।'[2]

'संकीर्णता और पक्षधरता की गंध नहीं छोड़ते' से तात्पर्य स्थितियों को व्यापक संदर्भों में देखने तथा प्रतिबद्धता का स्थूल प्रदर्शन नहीं करने का ही हो सकता है।

भीष्म साहनी की कहानियों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए कहा गया है कि—'आज चारों तरफ प्राचीन मूल्यों और मान्यताओं में बड़ी तेजी के साथ बदलाव आ रहा है। द्रुत गति से आता यह बदलाव मानव सम्बन्धों के क्षेत्र में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अपने एक लेख में श्रीकांत वर्मा कहते हैं—'स्त्री को साड़ी बदलने में जितना वक्त लगता है, सम्बन्ध बदलने में उससे भी कम समय लगता है।'[3]

भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', इस बहुचर्चित कहानी की मूल विषय-वस्तु सम्बन्धों में आ चुके परिवर्तन से ही सम्बन्धित है। डॉ० रघुवीर सिन्हा के विचार भी इस कहानी के संदर्भ में दृष्टव्य हैं—'चीफ की दावत इस तरह अपने समय के मूलभूत परिवर्तन को मुखर करती है, जो परिवार में भूमिकाओं के टूटने या क्रमशः विघटित होते चले जाने और पारस्परिक दृष्टिकोण ((एटीट्यूड) के उदासीन होते जाने के कारण दिखाई देने लगा है···पीढ़ियों के बीच इस अन्तर और दायित्व बोध से क्रमशः पलायन के एक बहुत अच्छे ट्रीटमेन्ट

---

1. 'मूल्यांकन' : (कहानीकार मूल्यांकन विशेषांक मार्च 1985) संपादक डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण व सच्चिदानंद धूमकेतु, पृ० 83
2. 'आज की कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 112
3. 'नई कहानी : दशा-दिशा-सम्भावना' ; सं० सुरेन्द्र, पृ० 229

की यह कहानी बन गई है।'[1] और इसी कहानी के संदर्भ में डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं—'चीफ की दावत' में अपनी निरक्षर और बूढ़ी मां ही एक समस्या बन गई, जैसे घर के 'फालतू सामान'; बल्कि सामान से भी बड़ी समस्या। सामान को छिपाना तो आसान है, लेकिन इस जीवित सामान का क्या करें? और इस तरह शामनाथ एक कुत्ते की तरह अपनी मां को इस घर से उस घर में छिपाता फिरता है। उधर मां है कि लड़के के इस व्यवहार का बुरा नहीं मानती, बल्कि स्वयं ही अपने अस्तित्व से संकुचित हुई जा रही है और लड़के के भले के लिए अपने को यहां से वहां छिपाती फिरती है। एक विडम्बना वह भी है, परन्तु हुआ यह कि शामनाथ ने जिस चीज को इतना छिपाया, आखिर में वह खुल ही गई। चीफ ने मां को देखा ही नहीं, बल्कि बुरी हालत में देखा। परन्तु शामनाथ की खबराहट के बावजूद स्थिति सुधर गई। चीफ मां से स्वयं मिले। और अन्त में शामनाथ ने देखा कि जिस सामान को छिपाने के लिए उन्होंने इतनी परेशानियां उठाईं, वह खुल ही नहीं गया बल्कि हितकर भी साबित हुआ। यहां तक कि दावत से भी बढ़कर। यह सबसे बड़ी विडम्बना है। और गहरे जाकर देखें तो मां केवल एक चरित्र नहीं, बल्कि प्रतीक भी है। प्रतीक सम्पूर्ण प्राचीन का।'[2]

कहानीकार मार्कण्डेय ने इसी कहानी के बारे में लिखा है कि 'मिस्टर शामनाथ-जैसे मध्यवर्गीय चरित्र की चीफ को खुश करने और तरक्की पाने की इतनी वयनीय मंसा है कि वह जीवन के अत्यन्त मार्मिक मूल्यों तक के प्रति अमानवीय हो उठता है। लेकिन भीष्म का दामन मां के उसी परम्परागत रूप में अटका रह जाता है कि कुछ भी हो मां, मां ही है।...जीवन की स्थापित मान्यताओं से टूक-टूक होकर भी उसके प्रति आन्तरिक मोह छोड़ न पाने की प्रक्रिया ही भीष्म की रचना प्रक्रिया है।'[3]

'खून का रिश्ता' भीष्म साहनी की वर्तमान समाज में पैसे के आधार पर सम्बन्धों की अहमियत का खुलासा करने वाली अत्यन्त मर्मस्पर्शी कहानी है। अर्थ जीवन मूल्य के रूप में आंका जाने लगा है। इस कहानी में बाबूजी के सगे भाई का केवल आर्थिक स्थिति मजबूत न होने से भयंकर निरादर होता है। बाबूजी की पत्नी कहती—'अपने रईस भाइयों को छोड़कर इस मरदूद को साथ ले जायें?

---

1. 'आधुनिक हिन्दी कहानी: समाजशास्त्रीय दृष्टि': डॉ० रघुवीर सिन्हा, पृ० 80-81
2. 'कहानी: नई कहानी': डॉ० नामवर सिंह, पृ० 25-26
3. 'कहानी की बात': मार्कण्डेय, पृ० 64

सारा शहर बू-बू करेगा।'[1] लड़की मनोरमा व्यंग्य करती—'बाबूजी की पगड़ी पहन ली तो बाबूजी ही बन बैठे हैं।'[2] बाबूजी के पुत्र बीरजी को ससुराल से मिला एक चम्मच जब ससुराल ही छूट आता है, तो खून के रिश्ते मंगल सेन की जेबें तक देखी जातीं। उनका भतीजा, जिसकी शादी है और जिसने बहुत कहकर मंगलसेन को अपनी ससुराल भिजवाया था, चम्मच खो जाने पर कहता है—'आपको इसीलिए भेजा था कि आप चीजें गंवा आयें।'[3]

'खून का रिश्ता' कहानी में जहां चाचा मंगलसेन को अपने ही परिवार के लोगों के द्वारा बेहद उपेक्षित और प्रताड़ित किया जाता है, वहीं दूसरी कहानी 'चाचा मंगलसेन' में दुखी-निर्धन लोगों के बीच उसे सही आश्रय मिलता है।

'अमृतसर आ गया है' में साम्प्रदायिक चेतना को मानवीय अस्मिता और स्वपक्ष-बोध की गहरी अनुभूति और आश्वस्ति के संदर्भ में चित्रित किया गया है। इसमें देश की आजादी को प्राप्त करने में कितने कारुणिक प्रसंगों से गुजरना पड़ा, इसकी भी सांकेतिक रूप में व्यंजना की गई है। उनकी वर्ग-वैषम्य को रेखांकित करने वाली कहानी 'साग-मीट' लगभग नामक एक नौकर को लेकर खड़ी की गई है। जिसकी मौत का जिम्मेदार परिवार उसकी नमकहलाली और सज्जनता के बावजूद अपना वर्ग-चरित्र नहीं छोड़ता। पूरी 'कहानी' बड़े सामान्य और ठंडे ढंग से आगे बढ़ती है।'[4]

'वीवर' एक कुत्ते की कहानी है, जिसमें मनुष्यों की हृदयहीनता करुण रूप में चित्रित हुई है। 'गहरे और सूक्ष्म मनोभावों की कल्पना भीष्म साहनी के लिये विरल नहीं है, इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'वीवर' कहानी है, जहां एक कुत्ते के मनोभावों की उद्भावना और समाज के अभिजात्य दम्भ पर बड़ा कलात्मक व्यंग्य उन्होंने किया है। वास्तव में भीष्म साहनी का क्षेत्र सामान्य जनजीवन है।'[5]

'सिफारिशी चिट्ठी' एक क्लर्क की बड़ी विडम्बनापूर्ण कहानी है, जो प्रारम्भ में पदोन्नति के लिए सिफारिशी चिट्ठी उपलब्ध होने की बात से अपने जीवन का सबसे अधिक आनंदित दिन अनुभव करता है। उसे अपनी तमाम कुस्थितियां सुधरती नजर आती हैं, पर बाद में उसे इस चिट्ठी के भयंकर परिणाम भी होते नजर आते हैं। अंत में काफी अंतर्द्वन्द्व के बाद वह खन्ना साहब को सिफारिशी चिट्ठी लिखने से मना कर देता है।[6]

1.2.3. 'झटकती राख' : भीष्म साहनी, पृ० 54, 59, 61

4. 'कहानी : संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, पृ० 154

5. 'आज की हिंदी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 31

6. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, पृ० 87

'कुछ और साल', 'सिर का सदका', 'माता-विमाता', 'यादें', 'पटरियाँ', 'कटघरे' और 'अपने-अपने बच्चे' आदि भीष्म की अन्य प्रमुख कहानियाँ हैं। 'चंगो का जाया' अत्यंत कारुणिक दृश्य उपस्थित करने वाली कहानी है।

'शोभायात्रा' कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियां अपनी जनोन्मुखी दृष्टि, वस्तुगत सच्चाई और रचनात्मक सादगी के लिये 'क्लासिक' का गौरव प्राप्त करने-योग्य कहानियां हैं। इन कहानियों में 'फैसला' के जज शुक्ला जी हों, या 'रामखेलावनी' के रिटायर्ड अफसर रामचंदानी -- सही आदमी इस व्यवस्था में बराबर अव्यावहारिक और उपहास का विषय है। 'निमित्त' में यदि भाग्य और भगवान को ही कारण मानने वाले 'निमित्त मात्रों' की क्रूरता और चालाकी का कलात्मक खुलासा हुआ है, तो 'शोभायात्रा' सत्ता के 'अहिंसा परमोधर्मः'-रूपी ढोंग को उघाड़ती है। दूसरी ओर 'खिलौने'-जैसी कहानी है, जिसमें बच्चे और खिलौने के माध्यम से आधुनिक जीवन की भयावह कैरियरिस्ट संवेदनहीनता का मार्मिक चित्रण हुआ है।—हालांकि यह ब्योरा भीष्म जी के कहानी-संग्रह 'शोभायात्रा' में परिचयात्मक रूप में दिया गया है, लेकिन स्पष्ट है कि यह एक सारपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है।

हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान में उपेन्द्रनाथ अश्क लिखते हैं 'भीष्म का शिल्प सीधा, सरल और जिंदगी हमारी जानी-पहचानी है। व्यंग और करुणा भीष्म की कहानियों के प्रमुख गुण हैं। भीष्म निम्न मध्यवर्गीय परिवारों के अंतरंग चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन चित्रों को देखते-देखते कभी होठों पर मुस्कान आ जाती है; अभी कण्ठ में गोला-सा अटकता है; कभी आंखें हल्के से झलमला आती हैं और कभी-कभी कहानी के अंत पर पहुंचकर यहरी टीस उठती है। आधुनिक कहानी की पेचीदगी, पक्षधीकारी प्रतीकात्मकता, व्यक्तिपरकता, सूक्ष्मता और कदाचित शक्ति भीष्म को यहां नहीं है। उनकी कहानियां समाजपरक हैं। कहानी का सीधा सरल चलचित्र मन को बांधे रखता है। भाव उतरती-चढ़ते रहते हैं और कहानी के अंत पर पहुंचकर मन को असंतोष नहीं होता। कारण यही है कि पुराने विषय को भी भीष्म लेते हैं, तो उसके नये कोण को उजागर कर देते हैं।'[1]

भीष्म साहनी की कहानी सम्बंधी अवधारणाओं और उनकी कहानियों की तुलनात्मक पारंपरिकता से जो नतीजे निकलते हैं, वे यही सिद्ध करते हैं कि विचारधारा यदि अनुभव की सम्पुष्टि से जीने का अंग बन जाती है तो कहानियों से कृत्रिमता: गायब हो जाती है यदि वह नहीं बन पाती है तो कहानियां बासी और उबाऊ हो जाती हैं। यही कारण है कि भीष्म की कहानियों में स्वाभाविकता

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 250

और सरलता के साथ यथार्थ की नवीनता भी है।

भीष्म साहनी के कहानी-साहित्य के संदर्भ में डॉ० मदान का वक्तव्य उद्धृत करना संगत होगा—'भीष्म साहनी की कहानी की रचना-प्रक्रिया सरल, सहज और सपाट होने का आभास देती है। वह अज्ञेय की तरह इसमें जटिलता लाने से परहेज करते हैं, लेकिन वैयक्तिकता-सामाजिकता के बारे में वह पूरी तरह सजग हैं। इनकी पूरी कहानी में सामाजिक चेतना के प्रति सहज लगाव है। इनकी सादगी में सहजता है और सहजता में सादगी। इनकी पहले की कहानियों में 'चीफ की दावत' का जो स्तर है, वही बाद की कहानियों में है ('यादें' और 'फिकारिजो चिट्ठी') न यह उठा है और न गिरा है।''' कहानीकार साधारण लोगों की छोटी-छोटी बातों को कहानी में लेते हैं और इनको साधारण स्तर पर अंकित करते हैं। इनकी कहानी को न तो 'व्यापक संकेत' देने की चिन्ता है और न नये प्रयोग में उलझने की चाह, न ही बुजारत डालने का शौक और न ही पहेली बनने का। भीष्म साहनी की कहानी, जिस रूप में हिन्दी कहानी पढ़ी जाती है, और जीती है, देश में गतिशील है, काल में नहीं। इसमें संदर्भों की विविधता है, आयामों की नहीं। यही इसकी उपलब्धि तथा सीमा है।'[1]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार 'भीष्म साहनी की अधिकांश कहानियां आज के समाज की विसंगतियों पर व्यंग्य करती है। कला की अपेक्षा वे वस्तु को ज्यादा महत्त्व देते हैं।'[2] भीष्म साहनी ने जब लिखना प्रारम्भ किया था, तब 'नई कहानी' आंदोलन का जोर था। 'ऐसे में उनकी वस्तुनिष्ठ दृष्टि और रचनात्मक सादगी को बिल्कुल चालू चीज कहकर आधुनिकतावादियों ने नकारने की भरपूर कोशिश की। पर उनकी कहानियों की यह शक्ति ही है, जो आज उन्हें हिन्दी के पांक्तेय श्रेष्ठ यथार्थवादी कथाकारों के बीच प्रतिष्ठित किए हैं।'[3]

भीष्म जी व्यक्तित्व और भाषा की एकरूपता के दुर्लभ उदाहरणों में से एक हैं। जितना सादगी और विनम्रता से भरा उनका व्यवहार होता है, भाषा जैसे उसका पर्याय मात्र लगती है और अत्यंत सादगी से भरी यही भाषा जिस तरह 'चीफ की दावत', 'इंद्रजाल' और 'पटरियां'-जैसी सर्वथा अविस्मरणीय कहानियों को पढ़ने वाले के मन पर छा देती है, उससे सहसा मुक्त नहीं हुआ जा सकता। सहज भाषा के माध्यम से गहनतम मानवीय संवेदना को रचना के

1. 'हिन्दी कहानी : अपनी जबानी' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 113-114
2. 'द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास' : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 190
3. 'मूल्यांकन' (कहानीकार मूल्यांकन विशेषांक) मार्च 1985, पृ० 91

धरातल पर ले आने की यह लेखकीय सिद्धि हिन्दी के कहानीकारों में अगर लगभग अद्वितीयता की हद तक किसी में है, तो शायद सिर्फ भीष्म जी में। इसी का परिणाम है कि शिल्प और आधुनिकता के तमाम तथाकथित आंदोलनों से असम्पृक्त रहकर भी भीष्म जी हिन्दी के पाठक, लेखक, और आलोचकों में समान रूप से अपना अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु

रेणु मूलतः कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। रेणु जी की आत्म रचना, 'पाण्डुलेखा' का उल्लेख करते हुए डॉ० भारत यायावर कहते हैं कि उन्होंने अपने कथाकार होने के बारे में लिखा है, 'बचपन से ही मुझे कथा-कहानी सुनने और सुनने का शौक रहा है। सुनने का शौक तो बहुत बाद में चलकर पैदा हुआ, और वह भी शायद इसलिए कि बचपन से ही इतने तरह के लोगों को नजदीक से देखने-समझने का मौका मिला कि बाद में चलकर मैंने महसूस किया—मेरा प्रत्येक परिचित अपने-आप में अनगिनत कहानियों की खान है। बस, फिर क्या था, कलम उठाई और कथा सुनने के शौक में लग गया। ...इस बीच स्कूल-जीवन और उसके बाद के मेरे अनगिनत मित्र-परिचित, गाँव-घर की घटनाएं मेरी कहानियों का ताना-बाना बनी हैं और उन्हीं से अपनी अच्छी-बुरी कहानियां बुनी हैं।'[1] पर बावजूद इसके वास्तविकता यह है कि रेणु के लेखन का प्रारंभ कहानियों से नहीं, बल्कि कविताओं से हुआ।

इनकी प्रारंभिक कहानियां, जो साप्ताहिक 'विश्वमित्र' में प्रकाशित हुई, वे हैं—'तट बाबा', 'न मिटने वाली भूख', 'पार्टी का मत', 'पहलवान' को ढोलक' 'कलाकार', 'प्राणों में घुले हुए रंग' इत्यादि। परन्तु जिन कहानियों से रेणु की कहानीकार के रूप में एक अलग निश्चित, पूर्ण व ठोस पहचान बनती है, इनमें छठे दशक में प्रकाशित 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' 'अपरंपरा' में प्रकाशित, निकष-1 (सं० धर्मवीर भारती) में प्रकाशित 'साल पान की बेगम', कल्पना में प्रकाशित 'सिरपंचमी का सगुन' आदि कहानियां है, जिनका संग्रह 'ठुमरी' शीर्षक से 1959 में प्रकाशित हुआ। अपने इस पहले ही कहानी-संग्रह से रेणु एक महत्त्वपूर्ण कहानीकार के रूप में पहचाने जाने लगे। जैसे 'मैला आंचल' एवं 'परती परिकथा' के प्रकाशन के साथ ही उन्हें प्रेमचन्द की परंपरा का एक श्रेष्ठ उपन्यासकार माना गया, उसी प्रकार अपने पहले ही कहानी संग्रह 'ठुमरी' से

1. 'फणीश्वरनाथ रेणु : चुनी हुई रचनाएं-1-सं० भारत यायावर, पृ० 11-12

रेणु की गणना प्रेमचंद की परंपरा के श्रेष्ठ कहानीकारों के रूप में की जाने लगी। सन् पचास के बाद ग्रामीण परिवेश से युक्त आंचलिक कहानियां भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी आदि कई लेखक लिख रहे थे, पर रेणु की कहानियों ने ही ऐसी कहानियों की ओर व्यापक रुचि और पाठकीय माहौल पैदा किया।

1960 से 66 के बीच लिखी उनकी चौदह कहानियों का दूसरा संग्रह 'आदिम रात्रि की महक' 1967 ई० में प्रकाशित हुआ और 1970 से 72 तक की लिखी कहानियों का तीसरा संग्रह 'अग्निखोर' 1973 में प्रकाशित हुआ। मृत्योपरांत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित, पर लगभग गुम हो चुकी कहानियों के दो संग्रह भारत यायावर के वर्षों की खोजों के फलस्वरूप प्रकाश में आए, जो क्रमशः 'एक श्रावणी दोपहरी की धूप' (1984) एवं 'अच्छे आदमी' (1986) शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इन पांचों संग्रहों के अतिरिक्त लगभग एक संग्रह-भर कहानियां अभी भी अप्राप्य हैं, जिनकी खोज हो रही है। इस तरह कुल मिलाकर रेणु की लगभग अस्सी कहानियां प्रकाशित हुई। 'हिन्दी के बहुत कम लेखक हैं जिन्होंने इतना कम लिखा हो, पर गुणात्मक दृष्टि से जिनका साहित्य इतना महत्त्वपूर्ण हो।'[1]

यूं रेणु की चुनी हुई कहानियों के अब तक तीन संकलन 'रेणु की श्रेष्ठ कहानियां', (सं० राजेन्द्र यादव, 1963), [illegible] अप्राप्य है; 'मेरी प्रिय कहानियां' (सं० रेणु, 1973), एवं 'प्रतिनिधि कहानियां' (सं० मोहन गुप्त, 1984) प्रकाशित हुए हैं। ये तीनों संकलन छोटे हैं, परन्तु भारत यायावर के संपादकत्व में प्रकाशित 'रेणु: चुनी हुई रचनाएं-1' में पहली बार उनके प्रारंभिक दौर की कहानियों से लेकर अन्तिम दौर तक की कहानियां भी हैं, जिसमें रेणु के कहानी-लेखन के हर दौर एवं हर प्रकार को समेटने का प्रयास किया गया है।

'रेणु' का आगमन हिंदी कहानी के क्षेत्र में यद्यपि देर से हुआ, किंतु उन्होंने अपनी पहचान व श्रेष्ठता बहुत कम समय में ही शीर्षस्थ कहानीकारों के बीच स्थापित कर ली थी। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने लिखा है—'रेणु यद्यपि कहानी-क्षेत्र में देर से आये, लेकिन आये पक्के पैरों से।'[2] डॉ० धनंजय वर्मा के शब्दों में—'रेणु' का आगमन हिंदी-कथा साहित्य में एक धूमकेतु की तरह हुआ। आते ही उन्होंने महत्त्व के शिखरों का स्पर्श किया। इसका प्रधान कारण नये-नये अंचलों

1. 'फणीश्वर नाथ रेणु' : चुनी हुई रचनाएं' : सं० भारत यायावर, पृ० 14
2. 'हिंदी कहानियां और फैशन' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 52

की तलाश थी—नये अंचल केवल वस्तु के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा और संवेदना के भी।'[1]

'रेणु' अपने आत्मकथ्य में स्वीकार करते है कि मेरी कहानियों का मूल उद्देश्य मनुष्य की खोज है, यहीं वे आलोचक-वर्ग के उनसे सदैव असन्तुष्ट एवं पाठक-वर्ग के सन्तुष्ट होने की बात भी करते हैं—'मेरे साधारण पाठक मेरी···स्पष्ट-वादिता अथवा सपाटबयानी से सदा सतुष्ट हुए हैं। और साहित्य के राजदार पंडित-कथाकार-आलोचको ने हमेशा नाराज होकर मुझे 'एक जीवन दर्शनहीन-अपदार्थ-अप्रतिबद्ध-व्यर्थ रोमांटिक प्राणी' प्रमाणित किया है।···सारे तालाब को गंदला करने वाला जीव। इसके बावजूद कभी मुझसे इससे ज्यादा नहीं बोला गया कि अपनी कहानियों में मैं अपने को ही ढूढता फिरता हूं—अपने को, अर्थात् आदमी को।'[2] अर्थात् 'रेणु' के कथाकार ने जो इतने पात्रों से, इतनी जीवन स्थितियों से परिचित कराया है—'दरअसल उसकी पूरी कोशिश 'आदमी' की तलाश के तहत हैं और इसी में उसके कथाकार होने की सार्थकता है।'[3] अपनी रचनाओं की भूमिका के लेखन को अत्यन्त कठिन एवं अप्रिय मानते हुए 'रेणु' शमशेर बहादुर सिंह की इन पंक्तियों को प्रस्तुत कर देते है, 'बात बोलेगी, मैं नहीं···राज खोलेगी, बात ही···मैं नहीं!···'[4] प्रकारान्तर से इससे यही ध्वनि निकलती है कि यदि रचना स्वयं नहीं कुछ कहती, तो लेखक के अलग से कहने का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता।

रेणु ने अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संग्रह 'ठुमरी' के साथ हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रवेश किया। चंद्रेश्वर कर्ण का मानना है कि 'इन कहानियों के साथ उन्होंने 'एक नई राह' का अन्वेषण' ही नहीं किया, अगुवाई भी की।···जो यह मान-बूझकर चल रहे थे कि उपन्यास तो आंचलिक हो सकता है, कहानी नहीं। 'ठुमरी' की कहानियां ऐसे आलोचकों के लिए रेणु का सर्जनात्मक उत्तर थी।'[5] कमलेश्वर के शब्दों में 'रेणु की कहानियों ने इस क्षेत्र में सर्वथा अछूती भाव-भूमियों को उद्घाटित किया। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आंचल' और 'ठुमरी' की कहानियों ने ग्रामांचल पर लिखी जा रही कहानियों की भंगिमा ही बदल दी और नई दृष्टि से सम्पन्न, नयी कलात्मक अभिव्यक्ति के धरातल पर इन कहानियों

1. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 194
2. 'मेरी प्रिय कहानियां' (भूमिका) : फणीश्वरनाथ 'रेणु'.
3. 'फणीश्वरनाथ रेणु : चुनी हुई रचनायें-1. स० भारत यायावर, पृ० 19
4. 'मेरी प्रिय कहानियां' (भूमिका) : फणीश्वरनाथ 'रेणु'
5. 'नई कहानी' (आलोचना विशेषांक) : सं० सतीश जमाली, पृ० 15

ने एक नयी लीक डाली।'[1]

रेणु की कहानियां 'ठुमरीधर्मा' कही जाती हैं। स्वयं रेणु ने 'ठुमरी' की भूमिका में लिखा है कि इस संग्रह की सभी कहानियां 'ठुमरीधर्मा' हैं। 'ठुमरीधर्मा, इस अर्थ में कि इन कहानियों का अन्तर्भाग एक है। ये कहानियां हैं— रसप्रिया, तोर्षोदक, ठेस, नित्यलीला, पंचलाइट, सिरपंचमी का सगुन, तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम, लालपान की बेगम, तीन बिंदिया। एक ही राग, एक ही संवेदना, एक ही इच्छा, एक ही लगाव के इर्द-गिर्द घूमती हैं—ये कहानियां।'[2]

'ठुमरी' की भूमिका में आगे रेणु कहानियों के 'ठुमरीधर्मा' होने का अर्थ समझाते हुए कहते हैं, 'एकाधिक कथाओं में, एक ही विशेष मुहूर्त को विभिन्न परिवेश में रखकर रूपायित किया गया है। इस संग्रह की सभी कहानियों का मूल स्वर मानवीयता की तलाश है। विभिन्न कहानियों में जीवन के अलग-अलग संदर्भों, सम्बन्धों, अनुभवों और भावों में मानवीयता की अभिव्यक्ति को रूपायित किया गया है। ठुमरी में मूल स्वर के साथ सहायक स्वर भी होते हैं। इन ठुमरी धर्मा कहानियों के कथानायक ने मूल स्वर के साथ सहायक स्वरों को भी साधा है, मानवीयता की तलाश की प्रक्रिया में अमानवीय स्थितियों को भी उजागर किया है; तभी मानवीयता की तलाश संदर्भ और पूर्णता के साथ व्यक्त हुई है।'[3] वस्तु ही नहीं, इन कहानियों की संरचना भी 'ठुमरीधर्मा' है। उनकी 'तीन-बिंदिया' कहानी इस दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट एवं उल्लेखनीय है।

रेणु की कथा-यात्रा का प्रारम्भ 'नई कहानी' के दौर से और अन्त अपनी जीवन-यात्रा के साथ होता है। 'रेणु की कथा-यात्रा इस काल की हिन्दी कहानी के विकास के विभिन्न पड़ावों से होकर गुजरी है। 'नई कहानी' के दौर में गांव के जीवन पर कहानियां लिखने वाले कुछ और भी कहानीकार थे : उनकी कहानियों में 'अहा! ग्राम्यजीवन भी क्या है' का जो भाव है, वह 'रेणु' की कहानियों में नहीं है। वे न तो गांव के विरह में व्याकुल कथाकार हैं और न गांव को जड़ता का गढ़ मानने वाले। उनकी दृष्टि ग्रामीण जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ पर है, जिसमें 'फूल भी है, शूल भी, कीचड़ भी, चंदन भी। (मैला आंचल की भूमिका)'[4]

ग्रामीणपरिवेश हमें प्रेमचंद के कथा-साहित्य में भी उपलब्ध मिलता है,

---

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 28
2. 'निरंतर' (वर्ष-3, संख्या 1-2) : सं० नरेशचंद्र चतुर्वेदी, गिरिराज किशोर
3. 'ठुमरी' (भूमिका) : फणीश्वरनाथ 'रेणु'
4. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, पृ० 9

परन्तु 'प्रेमचंद का ग्रामीण परिवेश, वस्तुतः वे जिसके कथाकार थे, आदर्श से लिपटा-सना है। उनका यथार्थ भी आदर्श की इतनी परतों के नीचे है कि उसे उकेरना सामान्य पाठक के लिए सहज सम्भव नहीं होता। प्रेमचंद ग्रामीण आदर्श से अपने को असम्पृक्त नहीं कर पाते।'·· ऐसे में रेणु ही एकमात्र कथाकार हैं, जिनके कथा-साहित्य में गांव अपनी शक्ति-सौंदर्य-सीमा के साथ, पराजय और विश्वास के साथ अभिव्यक्त हुआ है।'[1]

डॉ० धनंजय वर्मा भी रेणु को ग्राम-कथाओं की परम्परा की अग्रिम कड़ी मानते हुए कई अर्थों में प्रेमचंद से भी श्रेष्ठ कहानीकार साबित करने की कोशिश करते हैं—'ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण तो दोनों में है, लेकिन प्रेमचंद में जहां ग्राम्य जीवन से सहानुभूति है, वहीं रेणु में आत्मीयता और तादात्म्य है। वे गहरे उतरकर उस जीवन को समस्याओं और उसके सम्पूर्ण और समग्र व्यक्तित्व को उभारते हैं—एक दर्शक की हैसियत से नहीं, एक भोक्ता की हैसियत से, उन्हीं में से एक होकर।'[2]

'रेणु' की कथा रचना की वास्तविक जमीन ग्रामांचल ही है। लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्होंने शहरी जीवन की कथा नहीं लिखी है। 'अग्निखोर' कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियां शहरी मध्यवर्ग के जीवन पर आधारित है। 'रेखाएं: वृत्तचक्र' उनके अन्तिम दिनों की आत्मकथात्मक कहानी है। 'ठुमरी' से 'अग्निखोर' तक पहुंचते उनकी कहानियों में कलात्मक ह्रास परिलक्षित होने लगता है। 'रेखायें: वृत्तचक्र' में 'रेणु' ने लिखा है—'जिस कंठ से मैं चम्पाकली की तुनुक चंचुड़ियों के टूटने के शब्द को कुशलता से प्रस्तुत कर दिया करता था, उससे अब फटे झांझ की-सी आवाज निकलती है।'[3] इस उद्धरण को उनकी प्रारम्भिक कहानियों से 'अग्निखोर' कहानी-संग्रह की कहानियों में आये अन्तर के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। 'ठुमरी' से 'आदिम रात्रि की महक' लेते हुए जब 'रेणु' 'अग्निखोर' तक आते हैं, उनकी रचनात्मकता शिथिल हो जाती है।'[4]

ग्रामीण जीवन की गहरी समझ और कलात्मक क्षमता से उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त जटिल है। डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है—'इस रोमांटिक यथार्थ का चटकीला रंग 'रेणु' की कहानियों में खूब दिखाई देता है। वे आदिम रस-गंधों के कथाकार हैं।' 'गांव की धूल-माटी', 'आंगन की धूप', 'बैलों की घंटियां', 'धान की झुकी हुई बालियां', 'चमकता चावल', 'गीने की साड़ी', 'कड़वा तेल', 'लठवा

1. 'नई कहानी' (अंक : 4 सितम्बर, 79 : सं० सतीश जमाली, पृ० 16
2. 'नई कहानी: सन्दर्भ और प्रकृति' : सं० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 194
3. 'रेणु : चुनी हुई रचनायें-1' सं० : भारत यायावर, पृ० 333
4. 'नई कहानी' (अंक : 4, सितम्बर, 79 : सं० सतीश जमाली, पृ० 23

सिंदूर की मिश्रित गंध', मेला-ठेला, झमकता गीत, हंसी-ठिठोली, गुदगुदाती पीठ, खुशबूदार मुस्कान आदि के वर्णन में गांव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। वे अकेले आंचलिक कहे जा सकते हैं।'[1]

'रेणु' को हिंदी कथा-साहित्य में आंचलिक लेखक के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त है, बल्कि यहां तक कहा जा सकता है कि 'आंचलिक' शब्द उनके माध्यम से ही ठोस अस्तित्व ग्रहण करता है। परन्तु भारत यायावर लिखते हैं—'स्वयं 'रेणु' आंचलिकता को लेकर चल रहे बहस को बेमानी समझते थे। वे उपन्यास को सिर्फ उपन्यास और कहानी को सिर्फ कहानी मानने के पक्षपाती थे— आंचलिक आदि किसी विशेषण जोड़ने के नहीं। यद्यपि उनके अधिकांश कथा साहित्य को आंचलिक कहा गया है। 'रेणु' ने 'मैला आंचल' की भी रचना भारत के एक पिछड़े गांव को प्रतीक मानकर की थी, जैसे प्रेमचंद ने 'गोदान' की रचना की थी, पर उनके उपन्यास और कहानियों को 'आंचलिक' कहकर एक क्षेत्र विशेष की सीमा में बांध देने का प्रयास किया गया, जैसे अन्य क्षेत्रों के जीवन से, उनकी समस्याओं से उनका कुछ लेना-देना ही न हो। 'रेणु' ने विरोध किया था।'[2]

'रेणु' की सर्वाधिक चर्चित कहानी 'तीसरी कसम' (जिस पर बेहद कलात्मक फिल्म भी बनी है) इसी ग्रामीण परिवेश पर आधारित नायक हीरामन के प्रेम की अत्यन्त संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है। 'तीसरी कसम' कहानी की संवेदना पूरे परिवेश में व्याप्त है, परिवेश द्वारा ही उसे मूर्त किया गया है। यह परिवेश देहात का है—मूलतः मेले का परिवेश है, किंतु उसे मेले के परिवेश से जुड़े हुए अन्य परिवेश भी हैं। स्मृति-रूप में दो-दो बार गाड़ी को संकट में डालने वाले परिवेश, एक मेले से दूसरे मेले तक की यात्रा का परिवेश, जिसमें सड़क, नदी आदि संदर्भ में आते हैं। इस परिवेश-संदर्भों में कहानी की संवेदना व्याप्त है। इतना ही नहीं बल्कि ये संदर्भ उस संवेदना को निर्मित भी करते हैं।'[3]

हीरामन का हीराबाई के प्रति जो प्रेम रेणु ने इस कहानी में दर्शाया है, वह इतना सघन, कोमल, गंभीर और निश्छल है कि वह हीराबाई के चले जाने से भीतर तक टूट जाता है और हताश होकर चोरबाजारी का माल व बांस की लदनी की तरह ही कम्पनी की औरत की भी लदनी न करने की तीसरी कसम खाता है।

'तीसरी कसम' ऊपर-ऊपर से सामान्य-सी लगने वाली कहानी है, किंतु भीतर-भीतर यह बहुत गहरे प्रभाव से कसी हुई है। यह प्रभाव स्वीकार की

1. 'आलोचना' (पूर्णांक-33) : सं० डॉ० नामवर सिंह, पृ० 60
2. 'रेणु : चुनी हुई रचनायें'-1 सं० भारत यायावर, पृ० 17
3. 'हिंदी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 37

मनःस्थिति और अस्वीकार की नियति के द्वन्द्व से फूटा हुआ ट्रैजिक प्रभाव है।'[1] हीरामन के हृदय में हीराबाई को लेकर प्रेम और निष्ठा-भाव के तहत जिस प्रकार के आलोड़न उमड़ते हैं रेणु ने उसका बड़ा ही मार्मिक एवं सूक्ष्म चित्रण किया है। पूरी कहानी हीरामन के अकेलेपन की तीव्रतम अनुभूति को ध्वनित करती है—मेले में, अपने साथियों के बीच और लौटती हुई सड़क पर वह एक रिक्तता से भरा है—'जा रे जमाना' को दुहराता हुआ अपने अतीत से कटना चाहकर भी बार-बार वह वहीं लौट जाता है, उस एक बिंदु पर, जहां उसकी रिक्तता का कोश है। अपने परिवेश के भीतर चरित्रों की छोटी-से-छोटी प्रतिक्रिया को एक सम्पृक्त आत्मीयता और रागात्मक तल्लीनता से रेणु ने व्यंजना प्रदान की है।'[2]

डॉ० परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं, 'हीरामन को पीड़ा व्यक्ति के विछोह की पीड़ा नहीं, एक आत्मीय सम्बन्ध के विछोह की पीड़ा है, जिसका निर्माण एक आकस्मिक परिस्थितियों में हुआ था, पर सनातन जान पड़ता है।'[3] रेणु ने इस कहानी में निहित संवेदना का निर्वाह अत्यन्त सहजता के साथ किया है—'संगीत के सूक्ष्म स्वर की ही तरह संवेदना के स्तर पर एक-एक प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड़ती चलती है और अन्त में सब एक घनीभूत प्रभाव में घुल-मिल जाते हैं और कहानी संगीत की अशरीरी ध्वनों या चम्पा के फूल की महक-सी चेतना पर छा जाती है।'[4]

रेणु की 'लाल पान की बेगम' और 'रसप्रिया' आदि 'तीसरी कसम' की परम्परा के अंतर्गत ही आने वाली कहानियां हैं। 'रसप्रिया', 'संवदिया', 'लाल पान की बेगम' जैसी कहानियों में आंचलिकता का पुट 'तीसरी कसम' की अपेक्षा कुछ अधिक गहरा है। 'रसप्रिया' के निम्नलिखित उद्‌गार स्वाधीनता के पश्चात् ग्राम-जीवन में आने वाले मशीनी-वातावरण की ओर संकेत करता है—'जेठ की चढ़ती दोपहरी में खेतों में काम करने वाले भी गीत नहीं गाते हैं।...कुछ दिनों के बाद कोयल भी कूकना भूल जाएगी क्या? ऐसी दोपहरी में चुपचाप कैसे काम किया जाता है। पांच साल पहले तक लोगों के दिल में हुलास बाकी था।...पहली वर्षा में भीगी हुई धरती के हरे-हरे पौधों से एक खास किस्म की गंध निकलती है। तपती दोपहरी में श्रोम की तरह गल

1. 'हिंदी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 102
2. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 195
3. 'हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया' : डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, पृ० 277
4. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 195

उठती थी—रस की डाली वे गाने लगते थे विरहा, चांचर लगनी।'[1] रामदरश मिश्र अत्यंत संक्षेप में इस कहानी का पूरा निचोड़ हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं: 'रसप्रिया' में मिरदंगिया, मोहना की मां और मोहना के बीच तनी हुई कथा धीरे-धीरे वातावरण में है घुलती रहती।...यह प्रेम कथा अपने वातावरण में न केवल धीरे-धीरे घुलती हुई व्याप्त होती रहती है वरन् सामाजिक वातावरण में नयेपन की ओर संकेत भी करती है।[2]

रेणु का सौंदर्य-बोध उनकी कहानियों में, उपन्यासों में स्थान-स्थान पर विद्यमान है। वे प्रेम को सौंदर्य के साथ जोड़ते हैं। 'अच्छे आदमी' का नायक उजागिर सौंदर्य के लिए स्थान-स्थान भटकता है—'उजागिर ने भागलपुर, दरभंगा और पटना जैसे शहरों में घूम-घूमकर नौकरी की। कहीं रूप की झलक नहीं मिली। सब नकलची-कच्ची कली कचनार-जैसी ऊपर से...। इसको भला रूप कहते हैं?'[3] रेणु का सौंदर्य-बोध उनकी भाषा के संदर्भ में भी उल्लेखनीय है। ग्रामीण पात्रों के सौंदर्य-बोध का वर्णन करते समय वे उन्हीं के अनुभव-संसार से उपजी भाषा का इस्तेमाल करते हैं—'हीरामन परदे के छेद से देखता है। हीराबाई एक दियासलाई की डिब्बी के बराबर आईने में अपने दांत देख रही है।...मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्ही-चिल्ली कौड़ियों की माला छरीद दी थी हीरामन ने। छोटी-छोटी नन्ही-नन्ही कौड़ियों की पांती।'[4] 'तीसरी कसम' का ही हीरामन कहता है—"कचराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकता है, दिल-खोल गप तो गांव की बोली में ही की जा सकती है।' इत्यादि कथन रेणु के गांव की बोली व गांव वालों के दिल की एक-एक धड़कन के प्रति रागात्मक लगाव के परिचायक हैं। 'रेणु' की कहानियों में ग्रामांचल के अनुभवों की विशिष्टता को व्यक्त करने के लिए उस जीवन में रची उसी संस्कृति और भाषा का रचनात्मक जरूरत के अनुरूप व उपयोग हुआ है। वे जनजीवन के अनुभव और यथार्थ को उस जीवन की भाषा, उसके मुहावरे और उस जीवन में घुले-मिले लोकगीतों की पंक्तियों की मदद से जिस प्रामाणिक और प्रभावी रूप में व्यक्त करते हैं, वैसे किसी बाहरी, पराई और कृत्रिम भाषा में व्यक्त कर पाना कठिन है।[5]

---

1. 'रेणु : चुनी हुई कहानियां' : सं० भारत यायावर, पृ० 69
2. 'हिंदी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 119
3. 'रेणु : चुनी हुई कहानियां' : सं० भारत यायावर, पृ० 183
4. वही, पृ० 83
5. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 19

कमलेश्वर ने लिखा है—'यह भाषा, जो नई कहानी ने खोजी है, शुरू-शुरू में खतरे से खाली नहीं थी। यह जोखिम का काम था। यह जोखिम सभी कहानीकारों ने उठाया था—रेणु ने आंचलिक भाषा के रूप में उसे परिष्कार और परिपूर्णता प्रदान कर जोखिम को उपलब्धि में बदल दिया। जो भाषा नागार्जुन से शुरू हुई थी, वह मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, केशवप्रसाद मिश्र, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, राजेन्द्र अवस्थी के संस्कारों से होती हुईरेणु की कहानियों में एक बार फिर शुरू होकर चरम तक पहुंच रही है।'[1] डॉ० सुरेश सिन्हा का कहना है—'ग्राम भाषा किस प्रकार बदल रही है, नगरीय शब्द वहां किस प्रकार विकृत रूप में पहुंच रहे हैं, इन बातों का अध्ययन रेणु ने किया है और ऐसे शब्दों को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। लोकतत्वों के समावेश के बावजूद उनकी भाषा जानदार और सार्वजनीन है।'[2]

रेणु की कहानियों की भाषा जनजीवन के इतिहास और संस्कृति से संपृक्त है। वह पुराने संदर्भों और नये संकेतों से भरी हुई, अनुभवनों को खोलने वाली भाषा है। वह पाठकों को ग्रामीण जीवन से आत्मीय बनाकर उस जीवन के अनुभवों की विशिष्टता का बोध कराने वाली भाषा है। वह ग्रामीण जीवन के यथार्थ को मूर्त, जीवंत और संवेद्य बनाने वाली स्पंदनशील भाषा है।'[3]

हिन्दी कथा-साहित्य में रेणु की पहचान एक गहरे लोक-सम्पृक्त कथाकार के रूप में है। वे साधारण जन की आस्था के सजग और मर्मी शिल्पी हैं। लोक-संस्कृति की जितनी गहरी पकड़ रेणु के कथा-साहित्य में है, अन्यत्र दुर्लभ है। अपने कथा-साहित्य की सुदृढ़-भित्ति उन्होंने लोक-भाषा की नींव पर खड़ी की है इसीलिए वह इतनी टिकाऊ और मन को छूने वाली है।...'भाषा का खड़ी बोली का ढांचा होने पर भी उनकी भाषा का पूरा मिजाज ग्रामीण है, जिसे कभी 'आंचलिक' कहने का पुरजोर चलन था।'[4]

'रेणु की सभी महत्त्वपूर्ण कहानियों में एक या दो अविस्मरणीय चरित्र हैं। मानवीयता की तलाश करने वाले कहानीकार के लिए यह स्वाभाविक ही है।... 'तीसरी कसम' के हीरामन, 'रसप्रिया' के पंचकौड़ी, 'संवदिया' के हरगोविंद और 'ठेस' के सिरचन के व्यक्तित्व के विभिन्न जीवन-संदर्भों में मानवीयता के अलग-अलग रूप और पक्ष व्यक्त हुए हैं।'

---

1. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 210
2. 'नई कहानी की मूल संवेदना' : डॉ० सुरेश सिन्हा, पृ० 119
3. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 19-20
4. 'रेणु : चुनी हुई कहानियां' : सं० भारत यायावर, पृ० 17

'रेणु की कहानियों के पात्र—स्त्री पुरुष-सामान्य ग्रामीण परिवेश से आते हुए भी अतिपरिचित और अजनबी एक साथ लगते हैं और यही उनके कथा-पात्रों की 'अद्वितीयता' है। उनकी कहानियों के पात्र जीवन से लबालब भरे हैं तथा उनमें बेपनाह ऊर्जा और उष्मा है। यह रेणु के जीवन के प्रति गहरे लगाव का परिचायक है। तभी वे पंचकौड़ी मिरदनिया (रसप्रिया) ; लल्लू की मां (तीर्थोदक) ; सिरचन (ठेस) ; माधो की मां (सिरपंचमी का सगुन) ; हीरामन (तीसरी कसम) ; बिरजू की मां (लालपान की बेगम) : हाराधन धंत्रकार (तीन बिंदिया) ; बिजया, चुरमुनिया (बिघटन के क्षण) ; देवहा पाड़ा (तबे एकला चलो रे); रामविलास (उच्चाटन) ; करया (एक आदिम रात्रि की महक) फातिमा (जलवा); गनपत (आत्मसाक्षी); रतनी (नैना जोगिन); फूलपत्ती (भित्तिचित्र की मयूरी) जैसे व्यक्ति-चरित्रों की सृष्टि करने में समर्थ हो सके। इन पात्रों के माध्यम से रेणु जीवन के प्रति गहरा विश्वास देते हैं। अपने पात्रों से रेणु की गहरी आत्मीयता है, तभी अनगढ़ पात्र भी संवेदना के धरातल पर निर्दोष और प्यारे लगने लगते है।'

'यही वे 'आदमी' हैं, जिनमें रेणु खुद को ढूंढ़ते हैं—व्यवस्था के द्वारा सताए हुए, उपेक्षित, दलित, पर वैभव मानवीय, जमीन से जुड़े, सांस्कृतिक सम्पदा से सम्पन्न प्रेम और राग में पगे हुए लोग।'''जिनके जीवन से 'एकाकार' होकर रेणु ने ये कहानियां लिखी हैं।

'रेणु हिन्दी के उन रचनाकारों में हैं जिनका सरोकार जीवन-अनुभवों के मूल उत्स से होता है। वे अपने को उस देह-कोश और उसकी माटी-पानी से कभी नहीं बिलगाते जो उनके जीवन-अनुभवों का मूल उत्स और रचनाशीलता का रहस्य है। रेणु के सम्पूर्ण लेखन की सफलता का रहस्य उनकी अपनी रचना-भूमि से पूरी आन्तरिकता से जुड़ाव और लगाव है। उनकी रचनाएं इसलिए अधिक अर्थ-व्यंजक हो गई हैं क्योंकि वे अभिव्यक्तिगत बेचैनी से पैदा हुई हैं। रेणु के कथाचिंतन और कहानियों में सरोकार की दृष्टि से अंतर नहीं है, परन्तु कलात्मकता का तर्क अनुभूति के दबाव से उत्पन्न होता है और यही रेणु की कहानियों की प्राणवत्ता है।

निर्मल वर्मा

निर्मल वर्मा 'नई कहानी' आंदोलन के दौरान उभरे उन कहानीकारों में से हैं, जो राहे-वगाहे अब भी रचनारत हैं। साथ ही वे 'नई कहानी' के चर्चित तथा विवादास्पद कहानीकार हैं। 'कई अर्थों में निर्मल वर्मा नई कहानी के विशिष्ट

कथाकार हैं, जिन्होंने नये वस्तु-क्षेत्र ही नहीं, निर्वाह की एक विशिष्ट भंगिमा और कहानी को एक कलात्मक सार्थकता प्रदान की है। उनकी कहानी पुराने या नये रूढ़ अर्थों में कहानी नहीं है।'[1]

अपनी प्रतिबद्धता के संदर्भ में निर्मल वर्मा कहते हैं: 'जिस क्षण हम अपने कथाकार के इस बाहरीपन को समझ लेते हैं, कहानी की पुरानी विधा हमारे लिए निरर्थक हो जाती है। हम परिचित भूमि से कटकर 'न्यूट्रल ग्राउण्ड' में आ जाते हैं, जहां हर स्थिति गोपनीय है, हर पात्र संदिग्ध है।'[2] स्मृति इस बाहर और भीतर को जोड़ने का काम करती है 'स्मृति अपने में एक खिड़की है ···बाहर और भीतर को जोड़ती हुई।'[3] सम्भवत: इसी वजह से निर्मल वर्मा को अतीत से अतिरिक्त मोह है। पुराने चेपल, पुराने खण्डहर, पुराने किले रिकार्ड, पुरानी डायरियां, उजड़े मन्दिर इस कथ्य की पुष्टि करते हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों में अत्यधिक भावुकता भी इसीलिए है; क्योंकि स्मृति में भावुकता सम्भव है, किंतु; समय का अन्तराल तात्कालिकता के आवेग को काफी कम कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवेग की भावुकता को कम करने के लिए ही निर्मल समय का इतना अंतराल दे देते हैं।'[4]

'निर्मल की कहानियां आम पाठक के लिए नहीं हैं। अत्यन्त सुरुचिसम्पन्न सोफिस्टीकेटेड, अंग्रेजी पढ़े-लिखे, प्यानो और पश्चिमी संगीत से परिचित, बंगलों में रहने, लॉनों पर लेटने और शराबखानों तथा अपने सर्द-गर्म कमरों की तन्हाई में बियर, ड्राई मार्टिनी अथवा कोई अन्य शराब पीने वाले लोगों के लिए हैं। साधारण पाठकों के लिए उनका ठीक-ठीक रस ले पाना कठिन है। हां, जिन लोगों को यह सब मयस्सर नहीं है, वे उस उदास-उदास रूमानी दुनिया में खोकर अपने आपको कुछ क्षण के लिए भूल भले ही जाते हैं, यद्यपि रचना पढ़कर अपने-आपको और भी उदास पाते हैं।'[5]

निर्मल की अधिकांश कहानियों में अतीत की स्मृतियों को बार-बार उभारने का प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, 'डायरी का खेल', 'तीसरा गवाह', 'परिंदे', 'पिछली गर्मियों में' आदि इसका बेहतर उदाहरण हैं।

निर्मल की कहानियों में आए लगभग सभी पात्र अकेलेपन की पीड़ा से ग्रसित

---

1. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति': सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 198
2. 'हर बारिश में' : निर्मल वर्मा : पृ० 46
3. वही, पृ० 101
4. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 58
5. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 248

हैं और यह अकेलापन ही उनकी विशिष्टता भी है। 'निर्मल वर्मा की सभी कहानियों की समान अंतर्वस्तु है, अकेलापन। यह निस्संगता नहीं है। निस्संगता और अकेलापन में फर्क है। निस्संगता जहां अन्य से लगावहीनता है, अकेलापन एक सकारात्मक स्थिति है, जिसको खोना खुद को और सारी स्मृतियों को खो देना है।'[1] धनंजय वर्मा जी उनकी इस वैयक्तिकता पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं, 'निर्मल वर्मा की कहानियां जीवन की वे अनुभूतियां हैं जिन्हें एकान्तिक अनुभूतियां कहते हैं। ये अन्तर्मुखी और व्यक्तिपरक होती हैं। उनका प्रकाश बाह्य नहीं, आन्तरिक होता है। समाज के स्थूल और बहिर्मुखी यथार्थ की ठोस वास्तविकताओं के चित्रण के विपरीत निर्मल वर्मा की चेतना आधुनिक संदर्भों में निरन्तर अकेले होते जा रहे व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुभूतियों की ओर मुड़ी है और सामाजिक जागरूकता या सामाजिक यथार्थ के अस्त्र से उनकी सार्थकता पर चोट नहीं की जा सकती, क्योंकि वह निर्मल वर्मा का उद्देश्य ही नहीं है।'[2]

नयी पीढ़ी के प्रमुख कहानीकार गोविंद मिश्र की दृष्टि में चूंकि निर्मल वर्मा का साथी उनका अकेलापन है। इसलिए वह (लेखन के प्रति) आस्था भी अटूट है। यह बिल्कुल हो सकता है कि निर्मल वर्मा ने अकेलापन न चुना हो, बल्कि अकेलेपन ने उन्हें चुना हो, लेकिन इस अकेलेपन में अपने लिए उन्होंने जो रोशनी पैदा की है, और जिसके सहारे वे अपने ढंग से जाते हैं···वह रश्क की चीज है। किंतु इसी के आगे गोविंद मिश्र यह आपत्ति भी प्रकट करते हैं कि 'जिस परिवेश में अहम, समस्याएं वे हैं, जो स्थूल हैं···वहां रचनाओं में अकेलेपन से ही घूम-फिरकर टकराना क्या उन दूसरी अहम चीजों की तरफ से आंख मूंद लेना नहीं है, दूसरों की पीड़ा से ज्यादा तरजीह अपनी पीड़ा को देना नहीं है।'[3]

देशी एवं विदेशी परिवेश की गंध लिए हुए निर्मल के निजीपन को रूपायित करने वाली उनकी कहानियां 'परिंदे' (1960), 'जलती झाड़ी' (1964), 'पिछली गर्मियों में' (1968), 'मेरी प्रिय कहानियां' (1979) आदि संग्रहों में प्रकाशित हैं।

डॉ० नामवर सिंह निर्मल वर्मा की 'परिंदे' कहानी को 'नई कहानी' की पहली कृति मानते हैं।[4] ···उपेन्द्रनाथ अश्क निर्मल वर्मा के कहानी-संग्रह 'परिंदे' को नामवर सिंह द्वारा जरूरत से ज्यादा महत्व दिये जाने पर आपत्ति प्रकट करते हुए

---

1. 'मूल्यांकन' (कहानीकार, मूल्यांकन विशेषांक) : सं० डॉ० चंद्रेश्वर कर्ण सच्चिदानंद धूमकेतु, पृ० 132
2. 'नई कहानी' : संदर्भ और प्रकृति' : डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 198
3. 'साहित्य का सन्दर्भ' : गोविन्द मिश्र, पृ० 133
4. 'कहानी': 'नई कहानी' ; डॉ० नामवर सिंह, पृ० 52

लिखते हैं कि—'नामवर ने 'परिंदे' की कहानियों में जो विश्वव्यापी संकेत देखे हैं, वे नामवर की कल्पना में ज्यादा हैं, निर्मल की कहानियों में नहीं हैं।'[1]

'परिंदे' कहानी की नायिका अपने प्रेमी मिस्टर गिरीश नेगी की मृत्यु के कई वर्षों बाद तक उसकी स्मृति से मुक्त नहीं हो पाती और अतीत में जीते हुए अकेलापन उसके स्वभाव का अंग बन जाता है। यही कारण है कि ऐसी मनः-स्थिति के होते हुए जब मिस्टर ह्यूबर्ट का प्रेमपत्र लतिका को मिलता है, तो उसे इस बात की प्रसन्नता तो होती है कि उसकी उम्र अभी बीती नहीं है। वह चाहती, तो उसकी गलतफहमी को तुरन्त दूर भी कर देती, उसे ह्यूबर्ट की गलतफहमी से मानो अपने मुख के भ्रम के जुड़ाव का एहसास भी होता है। लेकिन 'ह्यूबर्ट ही क्यों, वह क्या किसी को भी चाह सकेगी ? उस अनुभूति के संग, जो अब नहीं रही, जो छाया-सी उस पर मंडराती रहती है, न स्वयं मिटती है, न उसको मुक्ति दे पाती है। उसे लगा, जैसे बादलों का झुरमुट फिर उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने लगा है, उसकी टांगें फिर निर्जीव, शिथिल-सी हो गई हैं।'[2]

इस कहानी के वातावरण के संदर्भ में, जो कि कहानी का बहुत हिस्सा है, डॉ० धनंजय वर्मा के विचारों को उल्लिखित किया जा सकता है—'परिंदे' का वातावरण और चित्रण विदेशी-सा लगेगा; क्योंकि वह सामान्यतः परिचित भारतीय वातावरण से भिन्न एक विशिष्ट परिवेश का है। अन्यथा अनुभूतियों और संवेदनाओं में वह किसी भी कोण से विदेशी नहीं है। लतिका का मिस्टर नेगी के प्रति वह अटकाव, वह आकर्षण, जो उसके बाद भी उसे मथे डालता है, सालता है, न परिंदों को उड़ता हुआ देखकर, अपने मन की कामना की आपूर्ति और अभाव को झेलता है—क्या भारतीय अनुभूति और संवेदना नहीं है ? कहानी में एक 'वातावरण' छाया है, जो पात्रों की आन्तरिक गतियों और मनःस्थितियों को व्यक्त करता है। हर पात्र अपने वातावरण की सम्पृक्त उपज है। इस कहानी का आस्वाद इस वातावरण से सम्पृक्ति के धरातल पर ही संभव है।'[3]

अपने जीवन में गिरीश नेगी की अनुपस्थिति से लतिका इतने भीतर तक हिल गई है कि उसे स्वयं कोई रास्ता नहीं सूझता और वह जैसे किसी रौ में बही चली जा रही है, उसका अपना सोच कुछ नहीं है—'डॉक्टर, सब कुछ होने के बावजूद वह क्या चीज है, जो हमें चलाये चलती है। हम रुकते हैं, तो भी अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है।'[4]

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 248
2. 'मेरी प्रिय कहानियां'—निर्मल वर्मा, पृ० 27
3. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 199
4. 'मेरी प्रिय कहानियां' (परिंदे) : निर्मल वर्मा, पृ० 59

' 'परिंदे' निर्मल वर्मा की छठवें दशक में लिखी वह औक्त्त कहानी है, जो आज बरसों बाद भी अकेलेपन, टूटते-जुड़ते मानवीय सम्बन्धों, अंतर्व्यथा और मानवीय नियति की सदी की एक बिरली कहानी के रूप में सहज याद हो आती है।'[1]

"निर्मल ने अपनी प्रारम्भिक कहानियों के झिलमिलाते काल्पनिक भावलोक से अपने को जिस तरह अलग किया था, उसी तरह विचित्रताओं और चमत्कारिक कथनों से अपने को बचाकर युग की वास्तविकता को अतीत और भविष्य की संचेतना से जोड़ सकें ; तो शायद अपने युग के सच्चे प्रतीकों के निर्माण का उनका विचार उनकी रचना में और भी गहराई से उतर सके।'[2]

'लंदन की एक रात' निर्मल की विदेशी पृष्ठभूमि पर आधारित एक उत्कृष्ट व प्रतिनिधि कहानी है। इस कहानी में लेखक ने एक ऊंचे कलाकार की तरह उस हॉरर को, जो इस समय दुनिया में रंग-भेद को लेकर अगणित लोगों को संत्रस्त किए हुए है। चित्रित कर दिया है। खूबी यह है कि उस कहानी को पढ़कर यह नहीं लगता कि 'लिंचिंग' का वह दृश्य निर्मल ने कल्पना से लिखा है। फिर लन्दन में बाहर से आने वाले छात्रों की बेरोजगारी, शराबखानों के जीवन और काले लोगों से हमदर्दी रखने वालों के प्रति वहां की गोरे गुण्डों की घृणा तथा विद्वेष का चित्रण निर्मल ने निहायत कुशलता से किया है।'[3]

अज्ञेय जी का मत है कि आतंक का वास्तविक रूप सिर्फ एक कहानी में मिलता है। इस कहानी का आतंक वाकई अदृश्य नियति से प्रेरित है, जहां अबोध निरपराध इंसान बलात् अपराधी बना दिया जाता है। 'लंदन की एक रात' का आतंक सच्चा है, क्योंकि वह वर्ण विद्वेष के अमानवीय रूप से जुड़ा है। यह जोड़ या संबंध अरूप है, कहीं इसकी चर्चा नहीं है, क्योंकि 'आतंक' कभी भी स्पष्ट कारणों से जोड़ा नहीं जा सकता। बावजूद इसके इस आतंक में आत्मा और शरीर को झिंझोड़ देने की पूरी शक्ति है। यह अदृश्य आतंक पहली बार स्थूल रूप से सामने आया है।'[4]

जबकि डॉ० इन्द्रनाथ मदान की दृष्टि में 'इस कहानी में न तो व्यवस्थित कथानक है और न चरित्र-चित्रण। फिर भी यह कहानी है, इसकी अपनी ध्वनि है। अपनी अन्य कहानियों की तरह निर्मल वर्मा इसमें भी अतीत की स्मृति को एक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति देते हैं। तब कहानी बोलने लगती है, कहानीकार नहीं। ···इस कहानी में प्रश्न चिह्न है, परन्तु विराम चिह्न नहीं हैं। इस प्रश्न-

---

1. 'आधुनिक हिन्दी कहानी : समाजशास्त्रीय दृष्टि': डॉ० रघुवीर सिन्हा, पृ०33
2. 'कहानी की बात' : मार्कण्डेय, पृ० 22
3. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 248-49
4. 'माध्यम' ; सं० बालकृष्ण राव, पृ० 83

चिह्न की प्रक्रिया में कहानीकार की आधुनिकता झलकती है।'[1]

निर्मल की कहानियों के बारे में डॉ० उपाध्याय का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है, निर्मल की कहानियां 'नई कविता' के अत्यन्त निकट जान पड़ती हैं। वे नई कहानियां इसलिए लगती हैं, क्योंकि—प्रेमचंद, यशपाल आदि में अनुभूति निमग्नता इस मात्रा में नहीं मिलती। अज्ञेय में चिन्तन प्रधान हो जाता है, या रोमांस, लेकिन निर्मल में स्मृतिजन्य दंश और घेरे को न तोड़ पाने की विवशता, एक अजीब 'पिचलाव' पैदा कर देती है। भाषा की संगीतमय, धीमी-धीमी, लयात्मक चाल और प्रस्तुत को मनोहर रहस्य में बदल देने वाली, शब्द-शक्ति निर्मल को कलाकार कहानी लेखक बना देती है। यहां यथार्थ के न स्पष्ट बोध की चिन्ता है, न अनुभव वैविध्य की, न वास्तविकता के गत्वात्मक रूप की। यहां निराशा की रोमांचक तस्वीर है, जो कलेजे को कहीं काटती भी है और एक स्वाद भी देती है।'[2]

'अंधेरे में' कहानी एक बच्चे के मन में उठते भावों को अत्यन्त कोमल, मधुर शब्दों में स्वर देती है। उस बच्चे के माध्यम से उसकी मां व पिता के मित्र वीरेन चाचा के सम्बन्धों को उद्घाटित किया गया है। बच्चा अपनी मां के विषय में सोचता है कि 'मां की आंखें, मुंह, माथा हर चीज अलग-अलग देखो, तो वैसी ही थी, किन्तु आपस में मिलकर जो भाव बनता था, वह उस चेहरे से बिल्कुल अलग था, जो मैंने अभी कुछ देर पहले वीरेन चाचा के अलबम में देखा था।'[3] इस कहानी का नायक वह बच्चा ही है, जो अपनी मां को तथा उसके वीरेन चाचा से सम्बन्धों को लेकर बेहद उत्सुक है और अपने तथा पिता के प्रति उसे सहानुभूति अनुभव होती है। वह अपने से कहता है, 'कुछ ऐसा है, जो हम दोनों को मां से अलग कर देता है, इसीलिए मां को चाहते हुए भी उन पर सहानुभूति नहीं होती और बाबू से डरते हुए भी, उन्हें देखकर, कभी-कभी मेरे भीतर कुछ दयांसा हो जाता है।'[4]

अपने प्रति भी वह मां को लापरवाह व तटस्थ पाता है और दुःखी होता है, 'कभी-कभी मुझे लगता है कि उन्हें मेरी बीमारी की विशेष चिंता नहीं है। मुझे लगता है कि वह यह भी भूल जाती है कि मैं बीमार हूं। एक दिन जब मैंने केक खाने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने बुआ अथवा बाबा की तरह मेरी नाजायज

1. 'नई कहानियां' (अगस्त, 1965) : सं० भीष्म साहनी, पृ० 46
2. 'समकालीन हिन्दी कहानी की भूमिका' : डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० 9
3. 'मेरी प्रिय कहानियां' : निर्मल वर्मा, पृ० 72
4. वही, पृ० 77-78

मांग का कोई विरोध नहीं किया। चुपचाप अलमारी से केक का एक टुकड़ा तश्तरी पर रखकर मेरे सामने धर दिया और खुद आंखें मूंदकर कुर्सी पर लेटी रहीं।'[1]

निर्मल की कहानियों के ये उद्धरण उनकी दृष्टि और संवेदना की बनावट के बारे में बोलते मालूम पड़ते हैं। निर्मल वर्मा एक ऐसे कहानीकार हैं, जो खुद की सोच को कहानी की संरचना में इस तरह खपाते हैं कि उसकी भूमिका साफ दिखाई पड़ सके। हालांकि भाषा को जिस तरह वस्तु से अधिक महत्त्व देते मालूम पड़ते हैं, इससे कई को असहमति भी हो सकती है। 'रचना में जब अनुभूति को खास अंदाज के रूप में रखा जाने लगता है, तब अनुभूत जीवन लेखकीय रुचि भर बनकर रह जाता है। यह अच्छी बात है कि निर्मल वर्मा ब्यौरे देने से बचते हैं, जैसा कि राजेन्द्र यादव नहीं कर पाते, फिर भी इनमें व्यर्थ का मैनरिज्म कहानी की भाषा को बनावटी कर देता है। 'पिछले गर्मियों में' भाषा का बनावटीपन सम्प्रेषणीयता पर हावी हो गया है।'[2]

निर्मल वर्मा की कहानियां उनकी रोमानी प्रवृत्ति को स्पष्ट करती हैं। उनकी इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं :

'निर्मल वर्मा उन कथाकारों में हैं, जिनके लिए जीवन का अर्थ विदेश-प्रवास, शराब और लड़की है। अधिकांश कहानियां इसी भाव को व्यक्त करती हैं, जिनमें कोई जीवन नहीं है, कोई यथार्थ नहीं है, केवल भावुकता है बोदका, जीवास्की आदि शराबें हैं, प्राग शहर है, पब हैं, पहाड़ हैं, गिरती हुई बर्फ है, सरसराती हुई हवा है और नीली आंखों तथा भूरे बालों वाली कोई टूरिस्ट या विदेशी महिला है। इन आधुनिक प्रसाधनों को जुटाकर वे कहानी के रेशे संगुम्फित करते हैं, जो प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के ब्यौरे-मात्र बनकर रह जाते हैं।'[3]

प्रेम, सेक्स, घुटन, उदासी, चीख, निराशा, भय आदि उनकी कहानियों के प्रिय व केन्द्रीभूत विषय हैं। 'उनकी कहानियों में व्यक्तिगत स्थितियों का रूप मानवीय सम्बन्धों के संदर्भ में प्रस्तुत हुआ है। निर्मल की कहानियों में हमें आज के परिवेश के अलगाव, बेगानापन, 'एलिनिएशन' की एकदम ताजा समझ दिखाई पड़ती है। मानवीय सम्बन्धों के सिलसिले में समय की कारगुजारी को अत्यन्त सूक्ष्मता और संवेदना के साथ चित्रित करना ही ऐसी कहानियों की सार्थकता है। इस सार्थकता के सम्बन्ध में यह संकेत देना जरूरी है कि इसका सौंदर्य प्रत्येक

---

1. 'मेरी प्रिय कहानियां' : निर्मल वर्मा, पृ० 66
2. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 98
3. 'द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास' : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 185

कहानी के विस्तृत विश्लेषण द्वारा ही प्रकट हो सकता है, उसके कतिपय कोणों को उभारकर दिखाने में उतना नहीं, चूंकि विविध कोणों की समग्रता में ही वह सौंदर्य निहित है।'[1]

'परिंदे' तथा 'लन्दन की एक रात' कहानियों के अतिरिक्त निर्मल वर्मा की 'लवर्स', 'अंधेरे में', 'दहलीज', 'अन्तर', 'जलती झाड़ी', 'डेढ़ इंच ऊपर', 'कव्वे और काला पानी' आदि बहुचर्चित व उल्लेखनीय कहानियां हैं।

निर्मल वर्मा की कहानियों में छाये हुए विदेशी प्रभाव की चर्चा के जवाब में स्वयं उनका स्पष्टीकरण द्रष्टव्य है—'वर्षों विदेश में रहने के कारण मेरी कुछ कहानियों में शायद एक बीराने किस्म का 'प्रवासीपन' चला आया है—मुझे नहीं मालूम, यह इन कहानियों को अच्छा बनाता है या बुरा। कुछ भी हो, इन्हें 'विदेशी कहानियां' कहना शायद ठीक न होगा।'''दरअसल किसी लेखक की पृष्ठभूमि विदेशी है, या देशी, यह चीज बहुत ही गौण है। उसका महत्त्व है तो सिर्फ इसमें कि किस सीमा तक और कितनी गहराई से वह किसी खास स्थिति या नियति को छोल पाती है—बल्कि यूं कहें, महत्त्व की कोई चीज है, तो सिर्फ यह ही—बाकी सब राख है।'[2]

मधुरेश के कथन में भी यही दृष्टि दिखाई पड़ती है। उनके अनुसार अपनी कहानियों में 'यूरोपीय समाज और उसकी समस्याओं और अनुभूतियों को वह उसी के नितांत निजी परिवेश में देखते हैं और ऐसा वह सफलता से इसलिए कर पाते हैं; क्योंकि उस जीवन से उनका गहरा परिचय और आन्तरिक लगाव है।'[3]

दरअसल निर्मल वर्मा के स्वयं की कहानियों के संदर्भ में दिये गए स्पष्टीकरण से इतना तो तय है कि उन्हें अपने अनुभव-संसार की सीमाओं का ज्ञान है, लेकिन वो संवेदना और दृष्टि तथा कलाबोध के सहारे 'अनुभूति' को 'अनुभव' में बदलने का भरोसा रखते, और ऐसा प्रयास करते हैं। इतना मानना होगा कि किसी भी लेखक के रचना-कर्म में उसके स्वयं के जीवनानुभवों की एक गहरी और निर्णायक भूमिका होती है। निर्मल वर्मा अपने संसार की सीमाओं को संवेदन और बोध के उपकरणों से लांघना चाहते रहे हैं। डॉ० नामवर सिंह उनमें 'जीवन की समझ' देखते हैं। निर्मल की कहानियों के प्रभाव के पीछे जीवन की गहरी समझ और कला का कठोर अनुशासन है। बारीकियां दिखाई नहीं पड़ती हैं, तो प्रभाव की तीव्रता के कारण अथवा कला के सघन रचाव के कारण।'''

1. 'आधुनिक हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रगति चेतना' : डॉ० लक्ष्मण दत्त गौतम, पृ० 503
2. 'मेरी प्रिय कहानियां' : निर्मल वर्मा, पृ० 7
3. 'आज की हिंदी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 37

निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है, उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करना चाहा है, उन्होंने प्रचलित कहानी-कला के दायरे से भी बाहर निकलने की कोशिश की है, यहां तक कि शब्द की अभेद्य दीवार को लांघकर शब्द के पहले के 'मौन' जगत् में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया है और वहां जाकर प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध के द्वारा वस्तुओं के मूल रूप को पकड़ने का साहस दिखलाया है।'[1]

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि निर्मल वर्मा की कहानियों की विशिष्टता का कारण उनका शिल्प है, लेकिन आक्रान्त करने की सारी शक्ति के बावजूद निर्मल की कहानियां शिल्प प्रधान एकदम नहीं हैं। अतीत के अबाध विस्तार और विखराव को समेटकर चलने की कोशिश में उनका यथार्थ खण्ड-खण्ड होकर उभरता चलता है। वहां सायास जुटाई गई स्थितियां भी अनायासता का भ्रम पैदा कर सकने में सफल होती हैं। यही कारण है कि वहां कुछ भी आरोपित न होकर सब कुछ बड़ा सहज और स्वाभाविक मालूम देता है। यह शिल्प चेतना-प्रवाह और पूर्वालोकन का ही एक रूप है लेकिन सहज, अनारोपित और प्रयासहीन।'[2]

डॉ० विजयमोहन सिंह निर्मल वर्मा की प्रतीकन क्षमता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—'निर्मल वर्मा की कहानियों की संरचना में उनकी संवेदना के अनुरूप प्रतीकों, बिम्बों तथा संकेतों की भरमार है।। अकेलापन तथा आतंक व्यंजित करने वाले जितने बिम्ब निर्मल वर्मा की एक-एक कहानी में मिलते हैं, उतने बहुतों के पूरे साहित्य में नहीं मिलेंगे। निर्मल अभी कहानियों के पूरे परिवेश को बिम्बों और प्रतीकों में बदल देते हैं और अमूर्तन की इस प्रक्रिया में उनके सारे पात्र भी सिमटकर 'प्रतीक' भर रह जाते हैं—हवा, पत्तियां, बारिश, 'नेमप्लेट, लेटरबाक्स, घर, बादल, नदी और उनकी कहानियों के सभी प्रिय उपकरण जीवित, सन्दर्भ बनने के बजाय अमूर्त प्रतीक बन जाते हैं; क्योंकि उन सबका संबंध किसी-न-किसी रहस्य से है, किसी रहस्यपूर्ण मौन से—जो कभी पूरी तरह नहीं खुलता। 'परिंदे', 'जलती झाड़ी', 'मायादर्पण' आदि तो उनके प्रसिद्ध प्रतीक शीर्षक हैं ही।'[3]

नये बिम्ब वस्तुतः नये कहानीकारों के विकसित ऐन्द्रियबोध के सूचक हैं और जो कहानीकार जितना ही संवेदनशील है, उसकी कहानी का वातावरण उतना ही मार्मिक और सजीव हुआ है। इस दृष्टि से निर्मल वर्मा की कहानियां

1. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 63-64
2. 'आज की हिंदी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 38
3. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह, पृ० 63

सबसे अधिक प्रभावशाली हैं। संगीत की जैसी सूक्ष्म संवेदना निर्मल ने व्यंजित की है, वह नई कहानी की बहुत बड़ी उपलब्धि है। 'परिंदे' कहानी में 'पियानो के संगीत के सुर रुई के छुई-मुई रेशों से अब तक मस्तिष्क की थकी-मांदी नसों पर फड़फड़ा रहे हैं। संगीत के सुर मानो एक ऊंची पहाड़ी पर चढ़कर हांफती हुई सांसों को आकाश की अबोध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं।'[1]

अतीत की सुखद स्मृतियों के अतिरिक्त कहानीकार की अधिकांश कहानियों का परिवेश संगीतात्मकता से आप्लावित है। 'परिंदे', 'दहलीज' आदि कहानियों में संगीत रूमानियत की हद तक जाता है तथा यह संगीतात्मकता कहानी को अधिक संवेदनशील भी बनाती है। निर्मल का संगीत के प्रति यह रुझान 'डायरी का खेल' 'पिकचर पोस्टकार्ड' आदि में भी झलकता है। इस प्रसंग में डॉ० नामवर सिंह का यह कथन एकदम उचित जान पड़ता है कि 'निर्मल ने संगीत का चित्रण केवल वातावरण-चित्रण के लिए ही नहीं किया है, बल्कि संगीत के उस राग धर्म (हारमोनी) को भी व्यक्त किया है, जिसके द्वारा विविध वस्तुएं पिघलकर अपनी पृथक सत्ता खोती हुई, एक भावधारा में बदल जाती है।'[2] 'परिंदे' की नायिका लतिका को चैपल में संगीत सुनकर ऐसी ही अनुभूति होती है।

रागधर्म के अलावा निर्मल के यहां संगीत भूले हुए अर्थ को भी खींच लाने में समर्थ है। यही डॉ० नामवर सिंह का यह कथन भी अपने-आप में सत्य है कि 'संगीत-वर्णन निर्मल के लिए कहानी में केवल शोभा नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया ही संगीतधर्मी है।'[3]

'दहलीज' कहानी में निम्न उद्धरण से निर्मल वर्मा की कहानियों में 'संगीत-धर्मिता' की उपस्थिति स्पष्ट देखी जा सकती है, 'ग्रामोफोन के तवे पर फूल-पत्तियां उग आती हैं, एक आवाज उन्हें अपने नरम, नये हाथों से पकड़कर हवा में बिखेर देती है, संगीत के सुर हवा में झाड़ियों से खेलते हैं, घास के नीचे सोयी हुई भूरी मिट्टी पर तितली का नन्हा-सा दिल धड़कता है—मिट्टी और घास के बीच हवा का घोंसला कांपता है।'···लेकिन इतना कहना होगा कि इसके पीछे जीवन के विस्तार की गूंज उतनी नहीं, जितना प्रतीक।

सार-रूप में कहा जा सकता है कि निर्मल वर्मा हिंदी कहानी के क्षेत्र में कहानी और कथा चिंतन, दोनों स्तरों पर गहरा दखल रखने वाले लेखक हैं और उनके इस योगदान को उनकी अभी कुछ ही अरसा पहले की चर्चित कहानी 'सूखा' ('हंस' : संपादक—राजेन्द्र यादव) तक देखा जा सकता है, जिसमें संवेदन और

1. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 34
2. वही, पृ० 57
3. वही

जीवन, दोनों में जड़ें डाल चुके 'सूखे' को एक गहरे विषाद के रूप में दिखाया गया है। देखा जाय, तो विषाद ही निर्मल वर्मा की कहानियों का मुख्य स्वर है और उनके 'संगीत' में भी वही बजता सुनाई पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि निर्मल वर्मा अपनी एक 'गूंज' बनाने वाले कहानीकार हैं और इसीलिए मिट्टी और घास के बीच हवा की घांसला कांपता है।

मोहन राकेश

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा-साहित्य में काल, महत्त्व और नवीन भावभूमि की दृष्टि से मोहन राकेश (1925-1972) का स्थान प्रायः सर्वमान्य है। 1947 से जीवनपर्यंत उन्होंने लगभग 70 कहानियां लिखीं, जो उनकी अन्य विधाओं में लिखी गई रचनाओं की भांति मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोधों पर आधारित हैं। 1950-55 में जब 'नई कहानी' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, तो इस आंदोलन के सर्वप्रमुख कहानीकार के रूप में मोहन राकेश का ही नाम लिया जाता रहा। डा० विजयमोहन सिंह के अनुसार 'राकेश ही सम्भवतः अकेले कथाकार हैं, जिनके माध्यम से 'नई कहानी' के पूरे विकास को सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।'[1]

नई कहानी-आंदोलन के सर्वप्रमुख व्याख्याता समझे जाने वाले आलोचक डा० नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कहानी' : 'नई कहानी' में यद्यपि निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' को नई कहानी का प्रस्थान-बिंदु माना है।'[2] तथापि नई कहानी के प्रतिनिधि कहानीकारों के रूप में प्रायः सभी शोधकारों, आलोचकों, इतिहासकारों द्वारा 'मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर की त्रिमूर्ति का उल्लेख किया गया। ये तीनों ही कथाकार यद्यपि मध्यवर्गीय भाव-बोध के कथाकार हैं। मध्यवर्गीय मानसिकता के अन्तर्विरोधों को जिस सूक्ष्मता तथा बारीक विवरणों द्वारा मोहन राकेश ने चित्रित किया है, उस प्रकार का प्रतिनिधित्व अन्यत्र कम दिखाई देता है। मोहन राकेश हिन्दी 'नयी कहानी' के उन प्रमुख हस्ताक्षरों में रहे हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से हिन्दी-कहानी साहित्य को समृद्ध सम्पन्न तो किया ही, साथ ही ऐसे अनेक सवाल उठाए, जो हिन्दी कहानी को लेकर पहली बार उठाए गए। विचार और उसके विनियोग, का ऐसा उदाहरण कम मिलता है, बहुत तो नहीं ही। राकेश समय और समाज से जुड़े एक ऐसे कथाकार हैं, जो आदमी के जीवन-यथार्थ को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने के आग्रही हैं। कोई भी सामाजिक प्रश्न सामाजिकता से इतर कोई

1. 'बाज की कहानी' : डा० विजयमोहन सिंह, पृ० 37
2. 'कहानी : नई कहानी' : डा० नामवर सिंह, पृ० 52

अहमियत नहीं रखता। स्वाभाविक है कि राकेश में अपने समय को ध्वनित करने की बेचैनी है।'[1]

मोहन राकेश की प्रारम्भिक कहानियों के प्रकाशित होते ही अधिकांश आलोचकों, समीक्षकों ने उन कहानियों को प्रेमचन्द की परम्परा का एक सार्थक विकास माना। यद्यपि भाषा, शिल्प एवं सम्बन्ध की दृष्टि से मोहन राकेश प्रेमचन्द की अपेक्षा कहीं जटिल कहानीकार हैं, फिर भी डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय तथा डा० धनंजय वर्मा—जैसे कथा-समीक्षकों ने यह स्वीकार किया है कि प्रभाव की दृष्टि से प्रेमचंद के बाद मोहन राकेश में ही इस प्रकार का पैनापन दिखाई देता है।

प्रेमचंद और मोहन राकेश में जो एक अन्य समानता दिखाई देती है, वह है उनकी वैचारिक चेतनबद्धता का क्रमबद्ध विकास। 'इंसान के खंडहर (1956), 'नये बादल' (1957), 'जानवर और जानवर' (1958), 'एक और जिंदगी' (1961) तथा 'फौलाद का आकाश' संग्रह की कहानियों में वैचारिक गतिशीलता के रचनात्मक स्वरूप को क्रमशः विकसित होते देखा जा सकता है।

मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के उन आरम्भिक कथाकारों में हैं, जिन्होंने विभाजन के बाद की हिन्दी कहानी को नया स्वर दिया है। जिन कहानियों ने 'नयी कहानी' की नयी संवेदना और चेतना को उजागर किया और जिन्होंने कहानी शिल्प को एक नया मोड़ दिया, उनमें मोहन राकेश की कहानियों का प्रमुख स्थान है।[2] 'मलबे का मालिक' राकेश की बहुचर्चित कहानियों में से एक है। डॉ० हरदत्त नंदन के शब्दों में 'इस कहानी में गिरे हुए मकान का मलबा भारत-पाकिस्तान के विभाजन के परिणाम तथा उजड़े हुए जीवन का प्रतीक है। कहानी का संकेत इसके अंत में उभरता है, जब भटका हुआ एक कौआ मलबे में पड़े लकड़ी के चौखट पर बैठकर उसके रेशों को इधर-उधर छितराने लगता है और एक कुत्ता उसे वहां से उड़ाने के लिए भौंकने लगता है। अपनी-अपनी दृष्टि से इन दोनों का मलबे पर अधिकार है। इस प्रकार यह संकेत उस सामाजिक परिवेश को इंगित करता है, जो देश के विभाजन का परिणाम है।'[3] डॉ० बटरोही ने इस कहानी का तुलनात्मक ढंग से विश्लेषण करते हुए लिखा है : 'कहानी में दो मनःस्थितियां बड़े स्पष्ट ढंग से उभरती हैं—विभाजन का दर्द और असामर्थ्य का अहसास। पहली मनःस्थिति के समानांतर भीरुम

1. 'मूल्यांकन' (मार्च 1958) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 103
2. 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 123
3. 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना' : सं० सुरेन्द्र, पृ० 190

साहनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है' को और दूसरी मनःस्थिति के समानांतर जैलेश मटियानी की कहानी 'हारा हुआ' को रखकर देखा जा सकता है। जो प्रभाव भीष्म साहनी और जैलेश मटियानी की कहानियों से पड़ता है, राकेश की कहानी अलग-अलग मनःस्थितियों को एक-साथ समेटने के लोभ में बिखर जाती है।'[1]

'मलबे का मालिक' में ट्रैजिक जीवन है। इसमें अलगाव और अजनबीपन के भीतर से मानवीय सम्बन्धों को उभारा गया है।[2] 'एक और जिन्दगी' टूटे हुए दाम्पत्य सम्बन्धों पर आधारित मोहन राकेश की बेहद कलात्मक कहानी है—'एक और जिंदगी' जीवन के दूसरे जीवन या मुक्ति की नहीं, जिंदगी के बीच ही एक और जिंदगी की तलाश की कहानी है। एक उभरते अभाव की पूर्ति दूसरी में ढूंढने की ललक की कहानी है।[3] डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण के अनुसार 'एक और जिंदगी' में आज के तनाव को पूरी शिद्दत से महसूस किया गया है। मनुष्य एक कशमकश जीने को अभिशप्त है तथा इसी में टूट-बिखर रहा है। यह सारा कुछ इस कहानी के भीतर से ही संकेतित है।[4] विवरण प्रधान कहानी होने के बावजूद इस कहानी में विवरणों की अपनी सार्थकता व उपयुक्तता असंदिग्ध है। डॉ० बच्चन सिंह के अनुसार 'एक और जिंदगी' आज के ट्रैजिक तनाव को पूरी गहराई में आंकती है, जहां मनुष्य न तो छूटी हुई जिंदगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई जिंदगी को अपना सकता है दोनों ओर खींचा जाकर वह क्षत-विक्षत हो जाता है।[5]

डॉ० मदान इसे 'वैयक्तिक मोहभंग' मानते हैं—'एक और जिंदगी' कहानी-शिल्प के किनारों को तोड़कर जिंदगी की नदी में बहने लगती है। जीने की अदम्य आकांक्षा उसे रंग में जलने के लिए प्रेरणा देती है'''इस कहानी में मोहभंग की स्थिति को वैयक्तिक स्तर पर चित्रित किया गया है।[6]

---

1. 'कहानी : संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, पृ० 167
2. 'मूल्यांकन' (कहानीकार मूल्यांकन विशेषांक—मार्च-1985) सं० : डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 105
3. 'आधुनिक हिंदी कहानी : समाजशास्त्रीय दृष्टि : डॉ० रघुवीर सिन्हा, पृ० 66
4. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 105
5. 'आलोचना' 1965, : सं० डॉ० नामवर सिंह
6. 'आज की हिंदी कहानी : प्रवृत्ति और प्रयोग' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 30-31

वर्तमान व्यवस्था पर व्यंग्य भी उनकी कहानियों में उपलब्ध होता है—'परमात्मा का कुत्ता' उनकी ऐसी ही कहानी है। इस कहानी की इन पंक्तियों में, 'हयादार हो, तो सालहा-साल मुंह लटकाये खड़े रहो। वर्जियां टाइप कराओ और नल का पानी पिओ। सरकार वक्त ले रही है। नहीं तो बेहया बनो बेहयाई हजार बरकत है।'[1] निहित व्यंग्य बहुत पैना है और जिसमें कहानी के नायक बुड्ढे की असहय पीड़ा का वंश छिपा हुआ है। यह कहानी उस सामाजिक व्यवस्था पर खुलकर आघात करती है, जहां निम्न वर्ग पर नौकरशाहों द्वारा कोई भी ध्यान नहीं दिया जाता। बुड्ढे द्वारा खुद को परमात्मा का कुत्ता तथा अफसरों को सरकारी कुत्ते का कहा दिया गया है।

'अपरिचित' में सफर में दो अपरिचितों (एक पुरुष, एक स्त्री) के धीरे-धीरे बन जाने वाले रागात्मक लगाव की सहज प्रक्रिया को मूर्त किया गया है। यह लगाव परिचितों (पति-पत्नी) के अलगाव के सम्बन्ध में अत्यधिक मार्मिक हो उठा है।[2] अपरिचित कहानी का 'कथानायक' और 'महिला' दोनों लगभग एक-सी परिस्थिति में एकाकी जीवन जीने को अभिशप्त हैं। डॉ० मदान के कथनानुसार 'राकेश की यह कहानी उन कहानियों में से है, जिनके मूल में चेतना सामाजिक की अपेक्षा वैयक्तिक स्तर पर है।'[3]

मोहन राकेश की 'आर्द्रा' कहानी का शीर्षक मां की आर्द्रता को ही प्रतिबिम्बित करता है। 'आर्द्रा' दूर-दूर रहने वाले दो अलग-अलग स्वभाव और स्थिति वाले पुत्रों की ममता के बीच पड़ी हुई मां के दर्द की कहानी है। छोटा पुत्र क्रांतिकारी है और अभावग्रस्त है, बड़ा पुत्र वकील है और सम्पन्न है। मां छोटे के यहां होती है, तो बड़े को याद करती है और बड़े के यहां होती है, तो छोटे को याद करती है। दोनों अलग-अलग हैं, इसलिए वह दोनों के पास एक साथ नहीं रह सकती। वह बंटी हुई है और इसी बंटेपन को लिये हुए वह एक पीड़ा की आंतरिक जिंदगी जीती रहती है।[4] इस कहानी में लेखक ने मां के स्नेह को अत्यंत आर्द्र होकर दो भाइयों के बीच रखकर देखने की बड़ी सफल कोशिश की है।

'नयी कहानी' आंदोलन के दूसरे प्रमुख कहानीकार राजेन्द्र यादव के अनुसार—'आर्द्रा' और 'अपरिचित' अपनी शहरी मानवीय संवेदना की नई भूमि की दृष्टि से तो बेजोड़ हैं ही, राकेश की कहानी-कला को एकदम नई दिशा बताती हैं।

1. 'हिंदी कहानी' : एक अंतरंग पहचान' : डा० रामदरश मिश्र, पृ० 125
2. 'आलोचना और साहित्य' : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 153
3. वही
4. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डा० रामदरश मिश्र, पृ० 125

दो विरोधी स्वभाव के बेटों के प्यार के बीच में सजल मंगल नक्षत्र-सी आर्द्रा मां का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण राकेश ने 'आर्द्रा' में दिया है।[1]

'मिस पाल' मोहन राकेश की चरित्र-विश्लेषण एवं वैयक्तिक अनुभूतियों के चित्रण की दृष्टि से बेहद सफल कहानी है। 'मिस पाल' की 'मिस पाल के हाथ में खाली दो डिब्बों द्वारा उसके पत्नीत्व तथा मातृत्व के अभावों को अभिव्यक्त किया गया है। इसमें मिसपाल की खाली जिंदगी और उसके लगाव की भी व्यंजना की होती है।[2] इस कहानी में व्यक्ति के निरर्थक अकेलेपन की बेहद सार्थक कथा कही गई है।

राकेश ने वर्तमान मानव सम्बन्धों में आए बदलाव को बड़ी गहराई से आंका है। पारिवारिक धरातल पर पति-पत्नी के सम्बन्ध कहीं-न-कहीं एक-दूसरे के लिए चुनौती बनकर आए हैं। क्योंकि इन सामाजिक संस्थाओं से जुड़े रहना और व्यक्ति को अपनी नियति न जी कर संस्था की रूढ़ नियति को जीना एक त्रासद विसंगति है, जिसमें संस्था से अपने को न अलगा पाने की स्थिति में टूटते हुए व्यक्ति को परिभाषित किया गया है। 'सुहागिनें' 'आखिरी सामान' और 'खाली' प्रायः इसी प्रकार की कहानियां हैं। 'सेफ्टीपिन', 'गुनाहे बेलज्जत', 'बादलों की छाया में', 'उमिल जीवन', 'फटा हुआ जूता', आदि कहानियां सेक्स को आधार बनाकर लिखी गई है।

'मंदी' में सीजन समाप्त होने के बाद पहाड़ों की आर्थिक विपन्नता और उससे उत्पन्न होने वाली उदासीनता एवं निम्नमध्यवर्गीय लोगों का यथार्थ चित्रण हुआ है, तो 'फटा हुआ जूता' में आज की नई पीढ़ी की विभ्रान्तता, घुटन, कुंठा, आर्थिक विषमताओं को सूक्ष्म प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिली है। 'उसकी रोटी' कहानी में अपने गुस्सैल पति ड्राइवर बुल्ला सिंह के लिए रोटी लेकर प्रतीक्षा करती हुई बालों की मानसिक पीड़ा का अंकन है। 'हक हलाल' में निम्नवर्गीय परिवारों में नारी पर होने वाले सामाजिक अन्याय का जीवंत चित्रण है। 'जानवर और जानवर' कहानी में लेखक ने कुत्तों के माध्यम से इंसान और इंसान के अंतर को रेखांकित किया है। पादरी की कुतिया और पाल का कुत्ता—छोटे और बड़े के भेद को स्पष्ट करता है। 'हर जानवर एक-सा नहीं होता : जानवर और जानवर में फर्क होता है।'[3]

'आज की कहानी' पुस्तक में डॉ० विजयमोहन सिंह लिखते हैं—'जानवर

---

1. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 270
2. 'मूल्यांकन' (मार्च 1925) : सं० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 107
3. 'मोहन राकेश की सम्पूर्ण कहानियां, पृ० 371

और जानवर' कहानी में भारत को उपनिवेश बनाकर रहने वाली जाति के दम्भ तथा धार्मिक ढोंग को उद्घाटित किया गया है। तथाकथित अंग्रेजियत का पोषण करने वाली शिक्षा-संस्थाओं का दुराचार, बंजर परिवेश अत्यंत स्फूर्तिपूर्ण शैली में इस कहानी में व्यक्त हुआ है।[1]

डॉ० विजयमोहन सिंह मोहन राकेश की कहानियों के दो विभिन्न रूपों को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि कभी वे नितांत व्यक्तिपरक विषयों तथा अनुभूतियों पर प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक कहानियां लिखते रहे हैं (जैसे 'सेण्टीपिन', 'जख्म' और 'पांचवें माले का फ्लैट') और कभी घोर सामाजिक आवेश की कहानियां जैसे 'परमात्मा का कुत्ता', 'वासना की छाया में' और 'घर का आखिरी सामान'।[2]

'सुहागिनें', 'मिस पाल', और 'एक और जिन्दगी' आदि कहानियों के सम्बन्ध में स्वयं मोहन राकेश की टिप्पणी है कि 'इस दौर की अधिकांश कहानियां सम्बन्धों की यन्त्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियां हैं, जिनमें हर इकाई के माध्यम से उसके परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है। यह अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है और परिणति उसकी भी किसी तरह से सिनिसिज्म में नहीं, झेलने की चेष्टा में है। व्यक्ति और समाज को परस्पर-विरोध, एक-दूसरे के भिन्न और आपस में कटी हुई इकाइयां न मानकर यहां उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयत्न है, जहां व्यक्ति समाज की विडम्बनाओं का और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आईना है।'[3] 'एक और जिंदगी' संग्रह की अधिकांश कहानियां इसी दौर की हैं। राजेन्द्र यादव की राय में 'मलबे का मालिक' और 'आखिरी सामान' राकेश की गढ़ी हुई कला-शक्ति और हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के उदाहरणों में मानी जानी चाहिए।[4]

इनकी अधिकांश कहानियों का स्वरूप सामाजिक है, परन्तु कुछ कहानियों के केन्द्र में वैयक्तिकता को भी स्थान दिया गया है। 'मलबे का मालिक', 'मंदी', 'फटा हुआ जूता', 'परमात्मा का कुत्ता', 'मवाली', 'हक हलाल', आदि सामाजिक चेतना और 'सीमाएं', 'बादलों', 'सुहागिनें', 'मिस पाल', 'एक और जिंदगी' आदि कहानियां व्यक्तिमूलक चेतना से अनुप्राणित हैं। डा० रमेश कुंतल मेघ के अनुसार 'राकेश की कहानियों में दोहरेपन या द्विधा की अनुभूति इतनी सूक्ष्म और तीव्र

---

1. 'आज की कहानी : डा० विजयमोहन सिंह, पृ० 40
2. वही, पृ० 41
3. 'मेरी प्रिय कहानियां, मोहन राकेश, पृ० 9-10
4. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 270

है कि वे 'और' के सहारे दो विभिन्न पात्रों, या दो विभिन्न मानसिकताओं या विडम्बनाओं अथवा दो विरुद्ध घटनाओं की तुलना करते हैं। यह 'और' ही उनका समय-सत्य और जीवन-शैली है। इससे उनकी कहानियों को एक निजत्व मिलता है, जो 'आर्द्रा' (दो बेटों), 'मिस पाल' (दो परिवेशों), 'परमात्मा का कुत्ता' (दो विडम्बनाओं), 'एक और जिन्दगी' (दो दाम्पत्य सम्बन्धों), 'फौलाद का आकाश' (दो पुरुष-सम्बन्धों) आदि में गुहरता गया है।'[1]

राकेश के पहले हिन्दी कहानी में दो असामान्य धारणाएं मिलती हैं, परन्तु राकेश की कहानियों के साथ कहानी को एक सामान्य धरातल पर ले आने वाली परम्परा का प्रारम्भ होता है और जिसका सर्वोत्तम रूप केवल मोहन राकेश की कहानियों में दिखाई पड़ता है। अनुभूतियों के एकांत को केन्द्र बनाकर, मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का उद्घाटन करने वाली कहानी एक ओर (जिसका सबसे स्पष्ट रूप इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में दिखाई पड़ा), और दूसरी ओर प्रगतिशीलता के सामाजिक आवेश की कहानियां उपेन्द्रनाथ अश्क, स्वयं यशपाल की कुछ कहानियों में इन दोनों का अधिक सहज तथा सामान्य भूमि पर समीकरण दिखाई पड़ता है—उन्होंने हिन्दी कहानी में किसी धमाके के साथ प्रवेश नहीं किया (नाटकों के क्षेत्र में वे अपेक्षाकृत धमाके के साथ अवश्य आए)। यही कारण है कि जिन्हें हम 'राकेश की कहानियों के नाम से पहचानते हैं; उनका 'चरित्र' धीरे-धीरे अपेक्षाकृत देर से बना।'[2]

वे अपनी कहानियों में उच्च मध्यवर्ग की जीवन-स्थितियों को उभारते हैं। मुख्यतः वे उस समाज की अतृप्ति, मुखौटापन, दिखावा तथा खोखलेपन को सांकेतिक रूप में अभिव्यक्त करते हैं। उनकी कहानियों में कथ्यगत वैविध्य का अभाव होने के बावजूद; दृष्टि की विविधता है।[3]

डॉ० इन्द्रनाथ मदान मोहन राकेश की कहानी कला-सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'इसमें वस्तु की विविधता तथा शिल्प की सहजता एवं स्वाभाविकता है जो कभी-कभी इतनी सहज एवं विवरणात्मक हो जाती है कि वह यात्रा-शैली का रूप भी धारण कर लेती है। इनकी अधिकांश कहानियों में वातावरण की सृष्टि कभी-कभी 'मैनरिज्म' बन जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति प्रायः जीव-जन्तुओं के माध्यम से की गई है। 'मलबे का मालिक' में कौआ और कुत्ता, 'अपरिचित' में उड़ता हुआ कीड़ा जो झुलसकर बत्ती से चिपक

---

1. 'मंच' : वार्षिकांक, 1973 : सं० : राकेश वत्स, पृ० 178
2. 'आज की कहानी : डॉ० विजय मोहन सिंह, पृ० 38-39
3. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु, पृ० 103

जाता है, 'आर्द्रा' में मादा सुअर और उसके बच्चे, 'जानवर और जानवर' में कुत्ता-बिल्ली आदि सूक्ष्म संकेत देने में सहायक होते है।'[1]

जिन लोगों ने मोहन राकेश को 'डाक-बंगले' का कथाकार कहा है, या जिन्हें उनकी कहानियों में 'बिजली की कौंध' तो दिखाई देती है, किन्तु उसकी शक्ति नहीं दीखती, उन्होंने निश्चय ही राकेश की कला-सम्बन्धी चेतना को ठीक से नहीं समझा है। मोहन राकेश की भाषा मूलतः व्यावहारिक होने के साथ ही आधुनिक कथाकार की भाषा का एहसास कराती है। उनकी कई कहानियों में भाषा के काव्यमय रूप के भी दर्शन होते हैं, उदाहरणस्वरूप उनकी 'फौलाद का आकाश' तथा आखिरी सामान कहानी के ये उद्धरण देखे जा सकते हैं—

(1) 'उसे लगा कि सितारा लॉन की घास पर उतर आया है, वहां से आंख झपकता हुआ उसे ताक रहा है। वह उठी और रबड़ की चप्पल वहां छोड़कर लॉन में उतर गई। पास जाकर देखा कि शबनम की एक अकेली बूंद उस सितारे को अपने में समेटे है।'[2]

(2) 'अपने कटे हुए रेशमी बालों का गर्दन पर फिसलना उन्हें सदा रोमांचित कर देता था। उन्हें लगता जैसे किसी खरगोश के जिस्म से गर्दन सहला रही हूं।'[3]

बिम्ब-निर्माण में भी राकेश की भाषा पर्याप्त सक्षम है: 'जूते के मैले सिकुड़े हुए तलुवे तिरछे होकर आधा-आधा इंच ऊपर को सरक आये थे। पीछे की दोनों ओर की सीवनें उधड़ रही थीं। उसे याद नहीं था कि यह जूता उसने कब खरीदा था—उसे खरीदे हुए कम-से-कम अढ़ाई तीन साल हो चुके थे। जूते के दांत बहुत पहले ही निकलने लगे थे, पर राय उसे ठोंक-पीटकर लटकाता आ रहा था। कुछ महीने पहले सामने के जूते के होंठ भी खुल गये थे। पर राय ने मोची को चवन्नी देकर उन्हें बंद करा दिया था। मगर इसके बाद जब जूते की बखियें शिकायत करने लगीं तो राय को बैठकर गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ा···'[4]

मोहन राकेश की कहानियों के सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसाद सिंह का यह कथन भी सर्वथा युक्तिसंगत है—'राकेश की शैली में प्रतीकात्मकता का बहुत ही सचेत पुट दिखाई पड़ता है।'[5] इनकी कहानियों की भाषा-शैली नाटकीयता युक्त भी तथा यह शैली राकेश को सर्वाधिक प्रिय है। 'जख्म' तथा 'फौलाद का

1. 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना', सं० सुरेन्द्र, पृ० 189-90
2. 'मोहन राकेश की सम्पूर्ण कहानियां' : पृ० 114-115
3. वही, पृ० 172
4. वही, पृ० 351
5. 'माध्यम' (जनवरी 1968) सं० : बालकृष्ण राव, पृ० 68

आकाश' कहानियां इस शैली का अनुपम उदाहरण हैं। डॉ० शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में वह 'साहब स्टाइल'[1] भाषा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मोहन राकेश वस्तु ही नहीं, बल्कि भाषा, शैली और शिल्प के स्तर पर भी बहुत सजग कहानीकार हैं। अश्क जी के शब्दों में—"कहानी के शिल्प और शैली पर पूरा अधिकार टकसाली प्रवहमान भाषा, अभिव्यक्ति का अद्भुत कौशल, कहीं-कहीं किंचित भावुकता और आदर्शवादिता —राकेश की उत्कृष्ट कहानियों के प्रमुख गुण है।"[2]

शैलेश मटियानी

'बर्फ की चट्टानें' की भूमिका में शैलेश मटियानी ने कहानी के 'श्रुति-गुण' पर ज़ोर देते हुए कहानी के उस भारतीय संस्कार की ओर संकेत किया है, जो पश्चिमी कहानी-संस्कार से नितान्त भिन्न परन्तु उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार—"कहानी, अपने लिखित रूप में, आंखों के द्वारा सुने जाने की वस्तु है। पढ़ना शुरू करते ही सुनाई नहीं पड़े, तो तय है कि कहानी बनी नहीं। पहाड़ को लेकर, या कि पहाड़ के निमित्त से, लिखी कहानियों को एक संकलन में देते समय, जब इनमें से अधिकांश को फिर से देखना हुआ, तो जाने क्यों यही अनुभव होता गया कि लिखने को यहीं कितना अपार था। हमारे निमित्त कितनी विराट् है सृष्टि। कितना चकित करने वाला हो सकता है, इसके आगे लाटा (अवाक्) रह जाने के बाद का बोला हुआ?"[3]

उनकी कहानियों में सुने जाने या सुनाई पड़ने की यह मूल्यवत्ता देखनी हो तो इस दृष्टि से केवल एक ही कहानी 'अद्वांगिनी' काफी है, क्योंकि उसमें सुना जाना पढ़े जाने के बाद ही सम्भव है और यह अंतर शैलेश मटियानी की कहानियों में चकित कर देने वाला है, जिसे वे स्वयं ही रेखांकित करते हुए कहते हैं कि—'कहानी अब भी कही, या लिखी जाती है, चकित करने के लिए ही। जो हमें चकित नहीं कर सके, वह कहानी आदमी की सही कहानी नहीं, क्योंकि इस सृष्टि में आदमी से ज्यादा चकित होने, या उससे ज्यादा चकित करने, वाला कोई नहीं। ...और चकित कर सकता है अपने कहे हुए से वही, जो कि स्वयं चकित हुआ हो। निःशब्दता की हद तक चकित...एक ऐसी अगाध निःशब्दता, जिसमें दिखाई

1. 'माध्यम' (जनवरी 1968) : सं० बालकृष्ण राव, पृ०, 68
2. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 253
3. 'बर्फ की चट्टानें': भूमिका, शैलेश मटियानी, पृ० 12

अथवा सुनाई दे रहे होने के बीच अंतर कठिन हो जाय।'[1]

शैलेश मटियानी के प्रारम्भिक कथा-दौर का अधिकांश हिस्सा कुमाऊं व बम्बई परिवेश को अपने में समेटे हुए है। बाद में उन्होंने इलाहाबाद, दिल्ली आदि नगरों को भी अपने कथा-साहित्य का विषय बनाया है। डॉ० विवेकी राय शैलेश मटियानी के कथा-साहित्य को पर्वतीय अंचल की क्लासिकी अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अपने अंचल से सम्बद्ध जन-जीवन एवं प्रकृति का जो सहज स्वाभाविक स्वर मटियानी जी के साहित्य में उभरा है, वह अद्वितीय है—'शैलेश मटियानी की सर्जना के दो क्षितिज हैं, कुमाऊं और बम्बई। कुमाऊं घर है और बम्बई शहर, एक बहक। घर को लेकर उनका जो राग फूटा है, सौन्दर्य-रुचि में उन्मेष आया, वही उनका निजत्व है तथा उस जड़ अबोध अंचल को जो प्यार की वाणी दी है, वह एक मूल्यवान उपलब्धि है। उसमें प्रौढ़ आंचलिकता है, किन्तु आधुनिकता रहित है। यहां तक कि उसमें समकालीनता भी नहीं है। उनका अंचल पुरातनता में समाश्रित एक क्लैसिकल पर्वतीय अंचल है और शुद्ध रूप में से किसी भी नये परिवर्तन से पृथक् लोकगीत और लोक-कथाओं में डूबा स्थिर जीवन का चित्र विचित्र संगीतात्मक कला-मंडप है। उस पर प्राचीन मूल्य छाये हैं। उनके अंचल में बुरांश-फूलों का अखण्ड कुमाऊंनी सौन्दर्य तो है, पर आधुनिकता की हवा नहीं है। भूत-प्रेत, लोक गीत, कथा, रामलीला, पोस्टमैन और भावी प्रेम आदि में डूबी मटियानी जी की कहानियां भी आधुनिक राग-बोध से मुक्त हैं। 'चिपड़े', 'नीलू', 'पुरखा' और 'दो दुखों का एक सुख'-जैसी कुछ कहानियों में आधुनिक संवेदनाओं की पकड़ का शिल्प अवश्य ही स्पष्ट है, परन्तु सब मिलाकर उनका कथा-शिल्प 'काला कौवा' के प्रतिनिधि रूप में अभिव्यक्त होता है, जिसमें क्लैसिकल समरसता है।'[2]

गिरिराज किशोर आंचलिकता के संदर्भ में उन लेखकों की बात नहीं करते, जो चिंतन में भी नितान्त आंचलिक हैं और मानवीय संवेदना की विराटता को अपनी रचनाओं में नहीं संजो पाते, लेकिन उनकी दृष्टि में मटियानी, रेणु आदि ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने उस आंचलिक भाषा को भी एक साहित्यिक संस्कार दिया है और उसके रंगों को इन्द्रधनुषीय षड्मदता से जलज निकाला है।'[3] उन्होंने आंचलिकता के रूढ़िवादी अर्थों में शैलेश मटियानी को मात्र आंचलिक कथाकार मानने से इंकार किया है।

---

1. 'बर्फ की चट्टानें' : भूमिका : शैलेश मटियानी, पृ० 12
2. 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य और ग्राम-जीवन' : डॉ० विवेकी राय, पृ० 431-32
3. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 18-19

शैलेश मटियानी कहानी को अस्तित्व का पर्याय मानते है, बल्कि यह कहा जाए कि उससे कुछ बढ़ा ही। उनकी अनेक कहानियां उनके कथा-चिंतन के संदर्भ में स्थापित स्थापनाओं से आगे निकल जाती है, जैसे 'इब्बू-मलंग', 'हत्यारे', 'दो दुखों का एक सुख', 'मिट्टी', 'भविष्य' 'भंमूद', 'हारा हुआ', 'अहिंसा', 'अर्द्धांगिनी', आदि कहानियां उनके कथा-चिंतन और एक विचित्र प्रकार की गहरी अंतर्दृष्टि से जनमती हैं और अंत में जिस विवेक में समाहित होती हैं, वह विवेक पुनः अन्तर्दृष्टि को अधिक सम्पन्न और प्रदीप्त कर देता है—'मटियानी का लेखन दलित वर्ग का लेखन है, आर्थिक कीचड़ में कीड़ों की तरह कुल-बुलाते बे-सहारा लोगों का अनुभव है।'''अमरकांत और मटियानी दो ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने उन सब कृत्रिम परिस्थितियों से अपने को आज तक अलग्गी बनाए रखा, जो और लेखकों के लिए आकर्षण का केन्द्र होती हैं। ये दोनों ही इंसानी जिंदगी के अभावों के कथाकार हैं। कहानियां पढ़ने पर लगता है, अभाव और भूख केवल इनके भौतिक धरातल पर ही नहीं घटते, बल्कि उनकी आत्मा में उतर गए है। ''भूख अक्सर बड़े-से-बड़े संभावित अनुभव से भी एक बड़ा अनुभव बन जाती है।'[1]

आपसी बातचीत में शैलेश मटियानी ने कई बार कहा है कि 'गोदान' के होरी, धनिया से लेकर 'कफन' के घीसू-माधो और बुधिया तक—प्रेमचंद के अधिकांश पात्रों में उनकी नेपथ्य की-सी उपस्थिति को देखा जा सकता है। लेखक अपने पात्रों को स्वयं के संवेदनात्मक वितान में से गुजारकर ही सामने लाता—प्रतिच्छायित करता—है। खुद शैलेश मटियानी के संदर्भ में गिरिराज लिखते हैं—

'मटियानी अपने आपको अलग-अलग पात्रों में बांटकर उनका पार्ट काफी आत्मीयता के साथ अदा करते हैं। 'प्यास' के शंकरिया को बचाने के लिए रेल से कटकर मर जाने वाली मां रूपा स्त्री के अनुभव का अंश है। 'इब्बू मलंग' कहानी का 'इबादत हुसैन मस्ताना' कहीं-न-कहीं अपने अंदर की मस्तताओं, विषमताओं और दमित प्रवृत्तियों से अपने को मुक्त करके निर्बंध हो जाने का ही प्रयत्न है। 'घोड़े' कहानी के मंजीरे कुंठ-कुंठाते और अंतर्द्वन्द्व में डूबे सोमगिरि बाबा भी मटियानी के विद्रोही संस्कार हैं। 'ऋण' कहानी के शिवार्पण बालक और 'नटवर पंडित' बारी-बारी से मटियानी ही हैं। अनाथ होने की स्थिति और फिर पालक बनने की इच्छा मटियानी की अपनी ही है। हालांकि यह हर संवेदनशील लेखक का सत्य है कि रचना के साथ तादात्म्य हो जाने पर कई पात्रों की भूमिका लेखक को स्वयं एक साथ निबाहनी पड़ती है। अपने

1. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 15-16

अनुभव के अंशों को बिना पात्रों में प्रस्थापित किए बड़े-से-बड़े लेखक की रचना सार्थकता प्राप्त नहीं कर सकती।'[1]

शैलेश मटियानी की 'प्यास' और 'चील', ये दोनों कहानियां भूख-प्यास के मर्मांतक अनुभवों की ही कहानियां हैं और गिरिराज जी के ऊपर के विश्लेषण के आधार पर इन कहानियों को अनुभव की उस समग्रता के स्तर पर देखा जा सकता है, जहां जीवन सिर्फ जीवित रह सकते नहीं, बल्कि आदमी की हैसियत से रह सकने की वस्तु भासित हो सके। इसे मटियानी के जीवन को पेट के इस पार से लेकर प्राणों के उस पार तक के विस्तार को देखने-सुनने और अनुभव करने को साहित्य की बुनियादी शर्त मानने के आग्रह में देखा जा सकता है।

शैलेश मटियानी की कहानियों के क्षेत्र ही नहीं, बल्कि संवेदना के विस्तृत होने के संदर्भ में सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं—'कहानियों का अधिकांश समाज पहाड़ से लेकर समुद्र के बीच तक फैला हुआ उन लोगों का समाज है, जिन्हें भोजन किसी तरह मिलता है और जो मिलता है, वह भी चील या चीलों-द्वारा छीन लिया जाता है। जो भिखमंगे, चोर, उचक्के या गिरहकट होते हुए भी अपने भीतर से आर्द्र हैं। यही आर्द्रता स्त्रियों में मातृत्व की अन्तर्सृष्ट भावना के रूप में, प्रेम की निश्छल प्रतीति के रूप में और नितांत प्राणिज-स्नेह के रूप में मटियानी की कहानियों का विषय है। सात्त्विकता का यह प्रवाह कहानियों को एक इतर आयाम देता है, जो हिन्दी के अधिकांश कहानीकारों में नहीं है।'[2]

दृष्टि और संवेदन के स्तर पर घटित होने वाले परिवर्तन या विकास का लेखक की रचना-प्रक्रिया पर कितना निर्णायक प्रभाव पड़ता है, इसे शैलेश मटियानी की कहानियों में साफ देखा जा सकता है। उनकी प्रारम्भिक (छठे दशक) और बाद (आठवें-नवें दशक) की कहानियां इसका उदाहरण हैं। गिरिराज किशोर के शब्दों में—'मटियानी की सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया उनके अंदर की वृत्त यात्रा है। जब लेखक बाह्य अनुभवों को अपने अंदर भिन्न-भिन्न द्वीपों में प्रस्थापित करके संवेदना के स्तर पर उनका पुनराविष्कार करता है, तो यह यात्रा उसकी रचना प्रक्रिया हो जाती है।'[3]

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के अनुसार—'मटियानी की कहानियों में किस अस्मिता की तलाश पाई जाती है, वह मूलतः एक प्रकार का आत्म-विस्तार है। 'प्यास', 'असमर्थ', 'रुका हुआ रास्ता', 'चुनाव', आदि कहानियों में कहने और

1. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 12-13
2. 'प्रतीक्षा प्रतीक' : (प्रवेशांक) सं० सावित्री पृ० 82
3. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 15

वर्णन करने के जिस शिल्प का प्रयोग किया गया है, वह लोक-कथाओं की शैली का सटीक उपयोग कहा जा सकता है। इस सटीकता और मार्मिकता के कारण ही कहानियों में आत्म-विस्तार करने की शक्ति भी पाई जाती है।'

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र शैलेश मटियानी की 'भाषा', 'संस्कृति', व 'हत्यारे' कहानियों को सूचनोन्मुख कहानियों की श्रेणी में रखने के बाद उनकी 'अहिंसा' कहानी के सम्बन्ध में अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि — 'अहिंसा' में सृजनात्मकता कहानी की पूरी बनावट में जगेसर और बिन्दा के दाम्पत्य-प्रेम में घुल जाती है और अंत में जगेसर का डाक्टर को बमूले से मारना आज की स्थिति के विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि कहानी के अंत में हिंसा का अहिंसा में बदलाव के वर्णन से ही 'अहिंसा' कहानी महत्त्वपूर्ण हो जाती है; क्योंकि इसमें किसी प्रकार का असंतुलन नहीं है, बल्कि कहानी के प्रारम्भ से घुने हुए प्रेम की परिसमाप्ति ही है—और है एक प्रकार का सात्विक क्रोध, जो वैयक्तिक से सामाजिक बन जाता है।[1]

'अहिंसा' के कुछ अन्तराल-बाद प्रकाशित दाम्पत्य-सम्बन्ध पर आधारित 'अर्धांगिनी' कहानी के बारे में उनका कहना है कि 'अर्द्धांगिनी' हिन्दी की आठ-दस बेहतर कहानियों में से एक बेहतर कहानी है। प्रेमचंद के अतिरिक्त पत्नी पर कहानी लिखना हिंदी में ही नहीं, विश्व-साहित्य में प्रायः कम ही हुआ है। मटियानी जी की यह कहानी 'सर्जनात्मक काल' की कहानी है। शिल्प की दृष्टि से तो 'स्मृति' और 'आकांक्षा' की सामाजिकता का प्रयोग किया है, परन्तु प्रारम्भ से अंत तक कहानी में बर्तन पर कुम्हार के हाथों के स्पर्श की तरह लेखक का क्रमिक हस्त-कौशल प्रतीत होता है। पति-पत्नी की अन्यता की यह कहानी वर्णनात्मकता के सटीक प्रयोग और निजता की सार्वजनिकता के अगर सम्भव नहीं है।'[2]

राजेन्द्र यादव

सुप्रसिद्ध कहानीकार गिरिराज किशोर के अनुसार—'अमरकांत या शैलेश मटियानी पंक्तिबोध की दृष्टि से उस पांत से गिरे हुए कथाकार हैं, जिसमें राजेन्द्र यादव, राकेश और कमलेश्वर जगह पा गए हैं। जहां पर इन लोगों ने अपने को प्रतिष्ठित पाया है, वहां अमरकांत और शैलेश मटियानी तो हैं ही नहीं, निर्मल

1. 'प्रतिज्ञा प्रतीक' (प्रवेशांक) सं० : सावित्री मिश्र, पृ० 84
2. वही, पृ० 84-85

वर्मा, मन्नू भंडारी, कृष्ण सोबती-जैसे बहुचर्चित लोग भी अपने को प्रतिष्ठित नहीं करा पाए। साहित्य में अगर 'स्टार वैल्यू' प्राप्त कथाकार हुए हैं, तो यही तीन कथाकार हैं। शेष सब लोग केवल कथाकार-मात्र ही बने रहे।.....यह 'सितारतत्व' रचनात्मकता के कारण उतना नहीं था, जितना प्रचार-चातुर्य के के कारण था।'[1]

राजेन्द्र यादव के इस सितारतत्व के प्रचार-चातुर्य के बावजूद उनकी कहानियों और उनके कथाचिंतन में एक प्रकार का तारतम्य मिलता है। अपने पहले कहानी-संग्रह 'लहरें और परछाइयां' की भूमिका में राजेन्द्र यादव ने स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है 'साहित्य मनोरंजन मेरी दृष्टि में कहानी का लक्ष्य कभी नहीं है। वह किसी भाव, विचार और अनुभूति को व्यंजित करने का साधन है—जो अपनी (कला की) सीमाओं में आबद्ध है।' इसी संक्षिप्त भूमिका में उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया है कि उनकी ये कहानियां किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों की सुइयों से बजाए गए रिकार्ड नहीं हैं। लेखक ने स्वीकार किया है कि उसने चेष्टा की है कि सुर 'नारे' न बन सकें।'[2]

राजेन्द्र यादव अपने आस-पास के वातावरण से किस हद तक जुड़े हुए थे, स्वयं उन्हीं के शब्दों में 'मैंने अपने परिवेश से भागने के लिए कहानियां नहीं लिखीं, उसे तोड़कर या लेचकर गहराई तक सार्थकता से उसे समझने के लिए ही उन्हें लिखा है।'[3]

'मेरा हमदम—मेरा दोस्त' में राकेश ने राजेन्द्र की साहित्य के साथ प्रतिबद्धता को लेकर काफी स्पष्टता से लिखा है—

'जिंदगी में सिर्फ एक तलाश एक कशिश—कहानी। वह जहां भी मिले, जिससे भी मिले, जैसे भी मिले। हर मिलने वाला आदमी कहानी का सम्भावित पात्र। जिंदगी का हर हुनर और फरेब—कहानी की एक स्थिति! अपने ऊपर ओढ़ी हुई हर तकलीफ-लिखने की जरूरत!'[4] इसी सिलसिले में, राजेन्द्र यादव की एक लेखक की हैसियत की सम्पूर्णता और जिजीविषा के संदर्भ में, मोहन राकेश आगे भी कहते हैं—'वह एक बना हुआ लेखक नहीं, बनता हुआ लेखक है और यही उसकी सफलता का रहस्य भी है। बना हुआ लेखक एक 'पिच' से लिखना शुरू करता है और जीवन-भर या वहीं बना रहता है, या निरंतर

---

1. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० सं० 42
2. 'लहरें और परछाइयां (भूमिका) राजेन्द्र यादव, पृ० 56
3. वही।
4. 'राजेन्द्र यादव : श्रेष्ठ कहानियां' : राजेन्द्र यादव, पृ० 12-13

उस 'पिच' से नीचे उतरता जाता है।···उसका लेखन निरंतर परिमार्जित हुआ है।'[1]

राजेन्द्र यादव के सम्बंध में मोहन राकेश की दोनों टिप्पणियां, रचनाकर्म को लेकर राजेंद्र यादव की प्रामाणिकता, तड़प और सरोकार का ही चित्रण करती है। लेखक तभी तक पहले से बेहतर लिख भी सकता है, जब तक कि उसमें एक नैरंतर्य बना रहे। आदमी को उसके समग्र और समाज की रोशनी में देखते-चलने की यह निरंतरता ही लेखक को साहित्य में दूर तक जाने की शक्ति देती है। 1950 से लेकर, लगभग 1975 तक के ढाई दशक राजेन्द्र यादव के एक कहानीकार की हैसियत की जूझ के दशक है। इस अनवरतता ने ही उन्हें हिन्दी कहानी के क्षेत्र में एक व्यापक प्रतिष्ठा भी दी है।

'राजेन्द्र यादव हिन्दी कहानी के पाठकों और आलोचकों, के लिए अत्यंत परिचित नाम है। इस कदर परिचित और प्रतिष्ठित नाम कि इस नाम के बिना हिंदी कहानी की चर्चा अधूरी लगती है। कहानी और कहानी की आलोचना, दोनों में स्मरणीय ख्याति अर्जित की है। 'सिंहवाहिनी' से राजेन्द्र अपनी रचनात्मकता के एक नए आयाम को शुरुआत अनुभव करते है।'[2]

राजेन्द्र यादव की कहानियां स्वतंत्रता-पश्चात् शीघ्रता से खंडित हो रहे मानवमूल्यों, स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्धों, बदलती हुई सामाजिक और नैतिक परिस्थितियों तथा नयी विचार-दृष्टि को अभिव्यक्ति देती है। उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से समाज को समझने की लगातार कोशिश की है। यही वजह है कि उनकी कहानियों में अभिव्यक्त व्यक्ति-चेतना समाज-सापेक्ष है; क्योंकि उनके निकट अनुभव किया हुआ सामाजिक यथार्थ ही उनका यथार्थ है। यथार्थ बोध के सम्बन्ध में स्वयं उनकी अपनी धारणा है कि जो कुछ हमारे संवेदन के बूते में आ गया है, वही हमारा यथार्थ है···लेकिन इस यथार्थ को कलात्मक और प्रामाणिक रूप से सम्प्रेषणीय बनाने के लिए जरूरी है कि हम इसे अपने से हटकर या उठकर देख सकें, उसे माध्यम की तरह इस्तेमाल कर सकें।

विद्या-सम्बंधी चिंतन भी कैसे किसी कहानीकार की कहानी की रचना प्रक्रिया को प्रभावित करता है, निर्मल वर्मा की ही भांति, राजेन्द्र यादव भी इसके उदाहरण हैं। लेखक की हैसियत के उनके दायित्वबोध के संदर्भ में गिरिराज किशोर का कथन है कि—'राजेन्द्र की असली धारा वह है, जहां उन्होंने जिंदगी में सीधे आघात किये गये अनुभवों को ही अभिव्यक्त किया है और जहां तस्करी

1. मेरा हमदम, मेरा दोस्त : पृ० 20
2. 'विकल्प' (कथा साहित्य विशेषांक : 1968) : सं० शैलेय मटियानी, पृ० 364

बिल्कुल नहीं। उनमें से कुछ कहानियां तो ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर लगता है कि इन कहानियों को किसी और तरह लिखा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार का लेखन जिंदगी के ज्यादा नजदीक है। लेखक के 'एटीट्यूड' को अधिक जिम्मेदारी के साथ वहन करता है। इन कहानियों में राजेन्द्र यादव का उत्तरदायित्व सीधा दिखलाई पड़ता है। जिन कहानियों को विशेष रूप से उद्धृत किया जा सकता है वे हैं—'टूटना', 'लंच टाइम', 'सिलसिला', 'भय', 'एक कटी हुई कहानी', 'किनारे से किनारे तक', 'संबंध', और 'जहां लक्ष्मी कैद है' आदि। ये सब वे कहानियां हैं, जिनसे राजेन्द्र यादव का लगातार लेखक होते जाना प्रमाणित होता है। इन कहानियों से ही राजेन्द्र ऐसे कथाकारों की श्रेणी में आते हैं, जो जिंदगी के प्रति रचनाओं के माध्यम से अपना दायित्व निबाहते रहे हैं।'[1]

उनकी कहानियां 'एक मनःस्थिति' को लेकर अधिक चली हैं, और 'प्रतीक्षा' एक विशेष 'मनःस्थिति' की ही कहानी है। उसका हर पात्र बुहरी जिन्दगी जीता हुआ, अपने-अपने अवसर की प्रतीक्षा में है, लेकिन उन सबकी यातना, आशंका, तनाव और अकेलेपन की पीड़ा गीता ही भोग रही है।···कभी वह नन्दा से तादात्म्य स्थापित करती है और कभी उसके प्रेमी हर्ष से और कभी अकेलेपन की पीड़ा भोगती हुई ऐंठती है। लेकिन गीता की ट्रेजेडी, मनोविश्लेषण के प्रयोगों वाली केस-हिस्ट्री की कहानी से आगे बढ़कर आधुनिक व्यक्ति के आत्मिक और नैतिक मूल्यों के खोज की कहानी है।'[2] 'प्रतीक्षा' व 'एक कटी हुई कहानी' की नायिकाओं में समानता निरूपित करते हुए गिरिराज किशोर कहते हैं—'कुलबंत की तरह अपने अकेलेपन या अपनी तकलीफ को दूसरे के सुख से जोड़कर राहत का तामझाम इकट्ठा करने वाला पात्र 'प्रतीक्षा' कहानी में भी है।···एक ही तकलीफ से परेशान दो भिन्न लक्ष्यों पर पहुंचने वाले दो पात्रों की ये कहानियां राजेन्द्र की विश्लेषणात्मक प्रतिभा को रेखांकित करती हैं। 'प्रतीक्षा' यद्यपि एक बहुचर्चित कहानी है, लेकिन 'एक कटी हुई कहानी' वाली तटस्थता उस कहानी में नहीं है।'[3]

इसमें तो कहीं संदेह की गुंजाइश ही नहीं कि राजेन्द्र यादव संवेदन, भाषा, शिल्प और शैली ही नहीं, बल्कि विचार तथा दृष्टि के स्तर पर भी बाकायदे एक 'ब्यूह'-सा रचते दिखाई पड़ते हैं।

'अपनी कहानियों के द्वारा वह एक अतिरिक्त तीव्रता उत्पन्न करना चाहते

1. 'संवाद सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 60-61
2. 'नयी कहानी' : 'संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवी शंकर अवस्थी, पृ० 189-90
3. 'संवाद सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 69

है, फलतः कहीं वह कथानक में पेंच डालते हैं, तो कहीं भावनाओं के स्तर पर मानसिक गुत्थियां। लिहाजा, उनके चरित्र विचित्र हो उठते हैं और कहानी अवास्तविक, जिन्हें समस्या को धैर्य के साथ सुलझाने की अपेक्षा परिश्रम से उलझाने में ही सुख मिलता है, उनकी कला की यही गति होती है।'[1] राजेन्द्र यादव की पाठकों को चमत्कृत करने की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अश्क जी के इस निष्कर्ष को भी देखा जा सकता है कि 'अपनी अनुभूतियों तथा विचारों को कहानियों की शक्ल देने के बदले, जो कि एक 'जेनुइन कथाकार' करता है, वे लोगों को चौंकाने, अपने को दूसरों से विशिष्ट साबित करने के लिए कहानियां लिखते हैं।'[2]

लेकिन इन सबके बावजूद राजेन्द्र यादव ने हिंदी कहानी को 'टूटना', 'प्रतीक्षा', 'किनारे-से-किनारे तक', 'लंच-टाइम', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'सिलसिला', 'भय', 'सम्बंध' तथा 'एक कटी हुई कहानी'—जैसी उत्कृष्ट कहानियों से सम्पन्न किया है। ये कहानियां 'देवताओं की मूर्तियां', 'खेल-खिलौने', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'अभिमन्यु की आत्महत्या', 'छोटे-छोटे ताज महल', 'किनारे-से-किनारे तक', 'टूटना', 'ढोल', 'अपने पार' तथा राजेन्द्र यादव की श्रेष्ठ कहानियां कहानी-संग्रहों में संकलित हैं।

इनकी सर्वप्रथम कहानी (रचना की दृष्टि से भी प्रथम) 'प्रतिहिंसा' 'कर्मयोगी' 1947 ई० में प्रकाशित हुई थी। राजेन्द्र ने समाज, परिवार तथा व्यक्ति के टूटते हुए संबंधों का चित्रण अपनी कहानियों में किया है। 'शायद यह कारण है कि हमारे इस कथा-काल की सारी कहानियां नये संबंधों के बनने की कहानियां नहीं, सम्बंधों के टूटने की कहानियां हैं, सारे संबंधों से टूटा हुआ व्यक्ति अधिक-से-अधिक अकेला, अजनबी होता चला जाता है, पिछली पीढ़ी के प्रति अविश्वास, घृणा और आपस में अपरिचय, अनिश्चय·····यही यथार्थ—नई कहानी के माध्यम से बार-बार सामने आता है।'[3]

'टूटना' कहानी की निर्मिति इसी धरातल पर हुई है और यह 'टूटने की प्रक्रिया की कहानी है। कहानी का नायक किशोर दुहरे-तिहरे तनावों से ग्रस्त है। इसमें दो भिन्न-भिन्न संस्कारों के बीच पिसती औरत लीना की बड़ी सही तस्वीर खींची गई है। 'टूटना' कहानी के संबंध में शिवराज किशोर का मत है कि 'राजेन्द्र यादव ही शायद उस कहानी को परिकल्पित कर सकते थे और उन्हीं के बस की बातथी कि अपनी इस परिकल्पना को कहानी के रूप में इस

1. कहानी : नई कहानी : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 27
2. हिंदी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 256
3. 'एक दुनिया समानांतर : राजेन्द्र यादव, पृ० 31

तेवर के साथ चुन सके। 'टूटना' कहानी 'यल्टी ऑटमेंशनल' कहानी है। हिंदी में ऐसी बहुत कम कहानियां हैं, जो अनुभव को इतने विस्तृत स्तर पर अभिव्यक्त करती हैं।···किसी लेखक का 'टूटना'-जैसी कहानी लिखना ही उसके लेखक होने की कसौटी है; क्योंकि इस तरह का लेखक एक दिन या साल-भर के लेखन और चिंतन का फल नहीं होता, बल्कि उस कहानी के लिखे जाने तक का सम्पूर्ण चिंतन और लेखन उसकी पृष्ठभूमि में रहता है।'[1]

'एक कमजोर लड़की की कहानी' सविता के कोई निर्णय न ले सकने की मानसिक दुर्बलता का बोध कराने वाली कहानी है। अकारण चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का शिकार होने के कारण लेखक इस कहानी के सुखांत और दुखांत—दोहरे अंत की कल्पना करता है। वस्तुतः पति और प्रेमी में से सिर्फ एक को चुन न पाने के कारण ही सविता कमजोर है, हालांकि उसकी इस कमजोरी के कुछ निश्चित सामाजिक कारण हैं। मानसिक द्वन्द्व से जूझती सविता पति से अपने विवाह-पूर्व सम्बन्धों के विषय में कहती है—'सच बतायें? जो तुमने सुना था, वह भी सही नहीं था और हमारे-तुम्हारे बीच में वह नहीं है, यह भी सही है।···'[2]

लेकिन ट्रैजेडी "यह है कि वह दोनों में से किसी को अपने जीवन से झटककर नहीं निकाल पाती।'[3] इस प्रकार वह पत्नी और प्रेमिका दोनों की भूमिकायें एक साथ ईमानदारी से निपटने का ढोंग करती है।'[4]

आदमी की आदमी के प्रति निर्ममता किस हद तक जा सकती है, इस पूंजीवादी व्यवस्था में आदमी कितना जड़ या संवेदनहीन हो जाता है, राजेन्द्र यादव की 'लंचटाइम' कहानी उसका सशक्त उदाहरण है। इस कहानी को राजेन्द्र यादव की रचनात्मक सामर्थ्य की कहानी घोषित करते हुए गिरिराज किशोर इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में लिखते हैं—'राजेन्द्र की 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'मजाक' या खेल-खिलौने' आदि जो कहानियां बहुचर्चित रही हैं और जिन्हें नई कहानियों की रीढ़ मजबूत करने का गौरव प्राप्त है, उनसे कहीं ज्यादा गहरी अनुभूति, मानवीय संघर्ष और लेखकीय सरोकार इस कहानी में मौजूद है।'[5]

जिंदगी से बहुत गहराई से जुड़ाव रखने वाली 'सिलसिला' कहानी सहज

---

1. 'संवाद सेतु' गिरिराज किशोर, पृ० 61-62
2. 'राजेन्द्र यादव : श्रेष्ठ कहानियां' : पृ० 58
3. 'जहां लक्ष्मी कैद है' (भूमिका) : राजेन्द्र यादव, पृ० ॥
4. 'कहानी' : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 34
5. 'संवाद-सेतु' गिरिराज किशोर, पृ० 62

ढंग से लिखी गई है। लेखक द्वारा की गई छोटी-छोटी घटनाओं की संयोजना कहानी को बड़ी सहजता से आगे बढ़ाती है। 'यद्यपि ये बहुत छोटी-छोटी बातें लगती हैं, पर ये जिन्दगी को व्याख्यायित करने वाली असाधारण स्थितियां हैं।'[1]

'बिरादरी बाहर' कहानी में यह संकेत छिपा है कि समय की गति को पहचानने से इंकार करने पर समय कैसे निष्ठुरता से रौंदता हुआ आगे बढ़ जाता है। इस कहानी में बेटी के अन्तर्जातीय विवाह के बाद बेटी और दामाद को छोड़ देने की धमकी देने वाला बूढ़ा बाप ही बिरादरी बाहर हो जाता है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि प्रतीकन की बौद्धिकता —या बौद्धिक प्रतीकीकरण— ने सिर्फ जटिलता ही उत्पन्न की है। अनेक कहानियों में उनके प्रतीकों-बिम्बों ने वस्तु को गहरे स्तरों पर संवेद्य भी बनाया है।

'जहां लक्ष्मी कैद है' कहानी में लक्ष्मी का उपयोग काफी प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है। कहानी में लक्ष्मी नामक बेटी के द्वारा अपने बाप की धनलोलुप और स्वार्थपरक प्रवृत्ति के विरुद्ध क्रोध पीट-पीटकर कहा गया है—"ले, तूने अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग·····।'[2]

लक्ष्मी को उसका पिता विष्णु की पत्नी का पर्याय मानता है और उसके मन में यह विश्वास दृढ़ता से जमा हुआ है कि लड़की को घर से निकालते ही, उसका विवाह करते ही, उसकी सारी सम्पत्ति भी उसे छोड़ जायेगी, इसलिए वह उसे अपनी कैद में रखता है। गिरिराज किशोर लिखते हैं कि—'यह कहानी उतनी 'साइकोसिस' के निदान की नहीं, जितनी मनुष्य की भावनाओं की है।'[3] और आगे भी बेमानते हैं कि 'राजेन्द्र के कुल कहानी-साहित्य की जो तस्वीर बनती है, वह अपनी स्पष्टता के बावजूद विवादास्पद भी है। राजेन्द्र के रचनात्मक व्यक्तित्व में दो प्रवृत्तियां हैं, एक तो प्रयोगात्मक और दूसरी जिंदगी से जुड़कर अपनी बात सीधे-सादे ढंग से कहने की। राजेन्द्र ने अपनी प्रयोगधर्मा प्रवृत्ति के कारण काफी खतरे उठाये हैं। उस प्रयोगधर्मा प्रवृत्ति ने ही उन्हें फैन्टेसीज, लोककथाओं, के प्रतीकों, राजा और राजकुमारियों तथा महाभारत के दृष्टान्तों में उलझा दिया। 'अभिमन्यु की आत्महत्या'·····भी उनकी इस प्रयोगधर्मा मानसिकता की उपज है।'[4]

'एक कटी हुई कहानी' राजेन्द्र की 'लंचटाइम', 'सिलसिला', 'भय' आदि

---

1. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 65
2. 'राजेन्द्र यादव : प्रतिनिधि कहानियां : पृ० 92
3. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर : पृ० 67
4. 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना' सं० सुरेन्द्र : पृ० 202

कहानियों से अलग उनकी अच्छी कहानियों में से हैं। लेखक ने 'यचाचेवाज' कुलवंत, जो इस कहानी की नायिका है, के अकेलेपन और उसकी तकलीफ को हमदर्दी के साथ समझने की चेष्टा की है। 'किनारे से किनारे तक' कहानी भी 'एक कमजोर लड़की की कहानी' की भांति पूर्व-प्रेम की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें व्यक्ति-मन की उन स्थितियों को उकेरा गया है, जब मनुष्य का मन अनजाने ही शंकालु होकर प्रतिक्रिया की भावना से भर उठता है। कहानी का नायक मानिक अपनी पत्नी प्रमिला के तथाकथित पूर्व-प्रेमी कांत के पुत्र को बदला लेने की भावना से हुगली में डुबाना चाहता है, परंतु अंततः मन से कहीं आवाज आई कि उसका अपना पुत्र अनूप और उसका हमशक्ल कांत का पुत्र रूबी, दोनों ही निरपराध हैं। और यही एक बात दोनों को आपस में बहुत निकट ले आई है।'[1] 'एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को अपनी पत्नी के पूर्व प्रेमी के रूप में मानकर उसके पुत्र को हुगली में डुबाकर बदला लेने की प्रक्रिया, एक तर्कपूर्ण एवं शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत की गई है।'[2]

राजेन्द्र यादव शिल्प के मामले में बहुत चौकन्ने कहानीकार हैं। कई बार वो 'संवेदन' को भी 'शिल्प' से 'ढालने' में विश्वास रखते प्रतीत होते हैं। शायद, उनकी यह 'चेष्टा' ही उन्हें बौद्धिक जटिलताओं की दिशा में ले जाती है। अपने एक लेख 'हिंदी कहानी : प्रगति और प्रयोग' में लिखते हैं—'इनकी बौद्धिक कला को प्रेरित करने वाली जीवन दृष्टि मूलतः एवं अंततः व्यक्तिमूलक है और इनकी सामाजिक चेतना हृदयगत न होकर, बुद्धिगत हैं। इस आंतरिक विरोध के कारण इनकी कहानियों में वस्तु एवं शिल्प का संश्लेषण नहीं हो पाया है और इनके प्रतीकों एवं संकेतों का स्वरूप अनुभूत न होकर, बौद्धिक है। 'लक्ष्मी का कैद होना', 'अभिमन्यु की आत्महत्या का प्रयास', 'छोटे-छोटे ताजमहल' आदि प्रतीकों का प्रयोग सामाजिक चेतना को उभारने के उद्देश्य से किया गया है, परंतु ये प्रतीक कहानियों पर आरोपित होने का आभास इसलिए देते हैं कि इन कहानियों की वस्तु व्यक्तिमूलक दृष्टि से अनुप्राणित है, जिस पर सामाजिक धारणा का आवरण डालकर कहानियों को सामाजिक दिशा में घसीटा गया है।'[3]

आलोचक डॉ० धनंजय वर्मा ने राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व, कथाचिंतन और कहानियों के विषय में लिखा है कि 'यादव की आदत है कि वे किसी एक सामाजिक या मानसिक स्थिति को लेकर उसका सारा 'फोकस' एक पात्र पर (में)

1. 'राजेन्द्र यादव : प्रतिनिधि कहानियां' पृ० 92
2. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 67
3. 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना' सं० सुरेन्द्र , पृ० 202

कर देते हैं और उसे ही केंद्रबिंदु मानकर बारीक-से-बारीक पक्ष उभारते हुए उसे ही इतनी सम्पूर्णता और समग्रता में चित्रित करते हैं कि लगता है, वहां व्यक्ति ही प्रधान है। वह व्यक्ति जिस परिवेश और वातावरण से संयुक्त है, उसका बहुत अप्रत्यक्ष सूत्र ही बच रहता है। इस दृष्टि से शिल्प के प्रति उनकी अतिरिक्त जागरूकता जहां उनकी कहानियों को एक ऊंचा कलात्मक स्तर देती है, वहीं यथार्थ की पकड़ उसके मूल्य के प्रति एक तात्कालिक द्रोह का एहसास भी जगाती है।'[1]

राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा हुआ होता है, इस कथन का समर्थन करते हुये डॉ० नामवर सिंह भी लिखते हैं कि—'यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सच है, उतनी ही वस्तु के बारे में भी। शायद, इसीलिए वे प्रायः चकरदार शिल्प गढ़ने के चक्कर में रहते हैं और उनकी भाषा की पेचीदगी भी सम्भवतः इसी का परिणाम है। 'खेल-खिलौने' कहानी से लेकर 'जहां लक्ष्मी कैद है' तक में इस पेचीदगी और उलझन को देखा जा सकता है।'

राजेन्द्र यादव की कहानियों की यह पेचीदगी उनके कथा-चिंतन से सम्बद्ध है। कहानी के विषय में सोचे हुए को कहानी में ढालना और कहानियों के अनुसार सिद्धांत बनाना, दोनों ही राजेन्द्र यादव में तनाव पैदा करता है, और यह तनाव ही उनकी कहानियों की प्राण-शक्ति भी है। हिंदी में अपनी भांति की वो अकेले कहानीकार हैं, जिसने कहानी के उपकरणों का इतना सचेत इस्तेमाल किया है। वो विधा से जूझते लेखक हैं। अपनी इस जूझ से उन्होंने बहुत कुछ उगाहा भी है। कहानी की विधा की शिल्पगत सूचियों का जहां तक सवाल है, उनकी सिर्फ 'सूत्रधार' कहानी को देख जाना भी पर्याप्त होगा। शिल्प से सचेतता के मामले में यह कहानी एक 'दृष्टांत' कही जा सकती है।

'दृष्टांत' होना सामान्य सिद्धि नहीं। हिंदी कहानी में राजेन्द्र यादव का का महत्त्व इस कोण से भी अविस्मरणीय है।

कमलेश्वर

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी—विशेषकर 'नयी कहानी' के प्रतिनिधि कहानीकार के रूप में कमलेश्वर की भूमिका काफी प्रभावी और सक्रिय रही है। कहानीकार के रूप में उनकी यात्रा, 'नई कहानी' आन्दोलन से प्रारम्भ होकर, आज तक अनवरत गतिशील है।

---

1. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 27

'कमलेश्वर एक ऐसा लेखक है, जिसके यहां हिन्दी कहानी की पूरी यात्रा, लगभग हर मोड़ की पूरी प्रतिनिधि कहानी, मिल सकती है और परम्परा के अन्तर से ही नहीं, उसके विकास की दृष्टि से भी ये कहानियां महत्त्वपूर्ण हैं। इस लिहाज से, हिन्दी कहानी की परम्परा को उन्होंने आत्मसात किया और उसे अलग-अलग भोगा है। उनकी सारी कहानियां कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नहीं, भावबोध और चेतना के स्तर पर एक क्रमिक और अनुवर्ती संक्रमण की द्योतक हैं।'[1] इस आन्दोलन को दृढ़ स्वरूप प्रदान करने के लिए न सिर्फ कहानियां ही, बल्कि इसकी पैरवी में उन्होंने 'नई कहानी की भूमिका' पुस्तक तथा स्वतंत्र रूप से छिटपुट समीक्षायें भी प्रस्तुत की और इस प्रकार अपने कथा चिंतन को एक वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान की।

कमलेश्वर यह मानते हैं कि नई कहानी के प्रवर्तन से हिन्दी कहानी में आमूल परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन के कारण हैं—'स्वतन्त्रता के बाद पहली बार नई कहानी ने आदमी को आदमी के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। शाश्वत मूल्यों की दुहाई देकर नहीं, बल्कि उस आदमी को उसी के परिवेश में सही आदमी या मात्र आदमी के रूप में अभिव्यक्ति देकर।'[2] इस प्रकार नई कहानी को कमलेश्वर ने आदमी की जिन्दगी का एक ऐसा अंश माना, जो उस जीवन की विराटता या समग्रता का बोध दे सके।'[3]

कमलेश्वर के अनुसार—कहानी विचारों और भावना दोनों को वहन करने वाली विधा है। 'विचारों के अभाव में कहानी मात्र भावुकता ही रह जायेगी और भावना के अभाव में विचार 'पुंसत्वहीन' हो जायेगा।' इसीलिए वो बौद्धिकता को कहानी का संयम मानते हैं।[4] कहानी-जैसी विधा में विचार और भावना का यह संयुक्त निर्वाह कलाकार के लिए सहज नहीं है, इसीलिए कमलेश्वर ने 'कला के स्तर पर' कहानी को एक बहुत कठिन विधा कहा है।[5]

कहानी-रचना-सम्बन्धी अपने अनुभव पर प्रकाश डालते हुए उनका कथन है—'कहानी लिखना मेरे लिए यातना नहीं है, यातनापूर्ण हैं वे कारण, जो मुझे कहानी लिखने के लिए मजबूर करते हैं—और यह मजबूरी तभी होती है, जब मेरा अपना संकट दूसरों के संकट से सम्बद्ध होकर असह्य हो जाता है—या

1. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 192
2. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 70
3. वही
4. 'नई कहानी की भूमिका' : कमलेश्वर, पृ० 91
5. 'मांस का दरिया' : कमलेश्वर (आत्मकथ्य), पृ० 9

मेरी अपनी करुणा दूसरों की संवेदना से मिलकर अनात्म हो जाती है।'[1]

कमलेश्वर की पहली कहानी 'कामरेड' है, जो एटा से निकलने वाली पत्रिका 'अप्सरा' में प्रकाशित हुई थी, किन्तु यह उनके किसी भी संकलन में नहीं आई।[2] सन् 1952 ई० के आस-पास कमलेश्वर के कहानी-लेखन की शुरुआत हुई और 1957 ई० में अपने प्रथम कहानी-संग्रह 'राजा निरबंसिया' से लेकर 1976 ई० (मार्च में) 'सारिका' में प्रकाशित 'इतने अच्छे दिन' (दो दशकों) तक कमलेश्वर ने हिन्दी कहानी को एक-से-एक श्रेष्ठ कहानियों से समृद्ध किया।

'राजा निरबंसिया', खोयी हुई दिशाएं, 'गरमियों के दिन', 'बयान', 'मांस का दरिया', 'नीली झील', 'नागमणि', 'तलाश' 'आसक्ति' (सब 'मेरी प्रिय कहानियां', में संकलित), 'आज पंचम की नाक' 'बदनाम बस्ती', 'सांप' या कुछ और 'लाश', 'जोखिम', 'रातें', 'इतने अच्छे दिन' आदि उनकी चर्चित और लोकप्रिय कहानियां हैं। उनकी कहानियों के निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हुए: 'राजा निरबंसिया', 'खोई हुई दिशाएं', 'मांस का दरिया', 'जिन्दा मुर्दे', 'बयान तथा अन्य कहानियां, तथा 'मेरी प्रिय कहानियां' व 'कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियां'। इन दोनों संग्रहों में पूर्व प्रकाशित संकलनों की ही कहानियां है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी कमलेश्वर की कहानियां छपती रही हैं। ये समस्त कहानियां कमलेश्वर के अपने समय और बदलते हुए परिवेश की कहानियां हैं। इस परिवेश के समय-समय पर बदलने के आधार पर ही उन्होंने अपनी कहानियों के तीन दौर माने हैं: (1) मैनपुरी-इलाहाबाद प्रवास के दौर की कहानियां (2) दिल्ली के जीवन की कहानियां और (3) बम्बई-आगमन के पश्चात् की कहानियां। अपनी इस विकास-यात्रा को स्वयं कमलेश्वर ने इन शब्दों में कहा है—'अनुभव के क्षेत्र की प्रामाणिक पहचान, अनुभव के समय-संगत संदर्भ और अनुभव के अर्थों तक जाने की कोशिश'''शायद यही क्रम हैं मेरी कहानियों का।'[4] कमलेश्वर की कहानियों की पृष्ठभूमि चाहे जो भी रही हो, किन्तु उनकी कहानियों में सामान्य मनुष्य की जिन्दगी, उस जिन्दगी की विसंगतियों-समस्याओं को ही विचित्र किया गया है। उनके लिए उनकी ये कहानियां "समय की धुरी पर घूमती सामान्य सच्चाइयों के प्रति और पक्ष में लिए गए निर्णयों की कहानियां हैं।"[5] उन्होंने अपनी समस्त कहानियों को 'जीवन के

---

1. वही, पृ० 10
2. वही, पृ० 6
3. 'मेरी प्रिय कहानियां'—कमलेश्वर (भूमिका) पृ० 7
4. वही, पृ० 5
5. 'मांस का दरिया' कमलेश्वर (आत्मकथा) प० 8

प्रति प्रतिबद्ध, घोषित किया है।'[1] कहानी के प्रति उनकी यह जीवन-दृष्टि उनके प्रथम कहानी-संग्रह 'राजा निरबंसिया' से ही घोषित है: 'आज की कहानियां कल्पना के पंखों पर नहीं उड़तीं, बल्कि दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक जिन्दगी से उनका सीधा सम्बन्ध है।'

अपनी कहानी-रचना का प्रेरणा-स्रोत पात्र-जनित स्थितियों को ठहराते हुए, कमलेश्वर 'मेरी प्रिय कहानियां', की भूमिका में स्पष्ट रूप से लिखते हैं: 'मुझे पात्रों ने कभी कहानियां नहीं दी हैं। मुझे हमेशा उनकी स्थितियों ने ही कहानियां दी हैं। यदि कोई कहानी पात्र-केन्द्रित हो गई है, तो वह मेरे लेखन की कमजोरी है, पर जानबूझ कर पात्रों को विरूप कर देने की कोशिश भी मैंने नहीं की है। क्योंकि सच्चाइयां इतनी इकहरी नहीं हैं कि उन्हें भारी हाथ से उठाया जा सके।'

कमलेश्वर की प्रारंभिक (साठ से पहले रचित सभी) कहानियां कस्बे के जीवन की हैं और उनमें एक ओर सामाजिक जीवन की विसंगतियों का उद्‌घाटन है, तो दूसरी ओर आम आदमी के दर्द को चित्रित किया गया है। सम्भवतः इसी आधार पर उन्हें कस्बाई मनोवृत्ति का कहानीकार भी कहा गया है। हालांकि उत्तरोत्तर उनकी कहानियों में यह प्रवृत्ति क्षीण होती गई है—'खोई हुई दिशायें' तथा 'मांस का दरिया' इत्यादि उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य हैं। अपनी कहानियों में कस्बाई मनोवृत्ति के प्रभाव को स्वीकारते हुए कमलेश्वर ने स्वयं लिखा है—'मैं उस छोटे-से कस्बे मैनपुरी का आभारी हूं, जहां जन्मा और पलकर बड़ा हुआ और जहां की धूल-धमकड़ और जिन्दगी के कोलाहल से भरा-पूरा उदास किन्तु मोहक वातावरण मेरी अनुभूतियों को नये-नये रंग में रचता है।'[2] कहानी में परिवेश की भूमिका के प्रसंग में कमलेश्वर जोर देकर कहते हैं—'किसी क्षेत्र के प्रति इतना लगाव, व्यापकता में बाधा माना जा सकता है, पर मैं यह स्वीकार नहीं कर पाता। लेखक का मानस भी एक ही होता है, उसी से सारी रचनायें निःसृत होती हैं, यदि वे विविध और व्यापक हो सकती हैं, तो क्षेत्र-विशेष उसमें सहायक ही होगा, बाधक नहीं। यह जीवन मानस और उसमें उठने वाले ज्वार संकल्प-विकल्प-संघर्ष और संवेदनायें कभी नहीं चूक सकती हैं।'[3]

डॉ० पुष्पपाल सिंह के शब्दों में 'कमलेश्वर के कहानीकार की मूल संवेदना कस्बे की है। उनकी कहानियों में कस्बे का जीवन जितनी प्रामाणिकता से चित्रित हुआ है, उतनी अच्छी तरह नगर-जीवन नहीं। नगर-जीवन और महानगरीय

1. 'राजा निरबंसिया' कमलेश्वर (भूमिका) पृ० 1
2. 'राजा निरबंसिया' : कमलेश्वर (भूमिका), पृ० 8
3. वही, पृ० 10

जीवन पर भी लिखी उनकी वे ही कहानियां अधिक सशक्त और सफल हैं, जिनमें कस्बे का व्यक्ति वहां आकर अपने को खोया हुआ पाता है या कस्बे के जीवन-मूल्य वहां आकर समाप्त हो रहे हैं, यथा : 'खोई हुई दिशायें', 'जोखिम' आदि। प्रेमचंद ग्राम्य-जीवन के कलाकार हैं तो कमलेश्वर कस्बे के, छोटे नगरों के।'[1]

कमलेश्वर की कहानियों पर मधुरेश की टिप्पणी है—'कमलेश्वर की कहानियां शिल्प की सायासता से मुक्त हैं। वहां जीवन अपेक्षाकृत अधिक फैला हुआ और उन्मुक्त रूप में मिलता है।'[2]

कमलेश्वर ने अपनी कहानी की विकास-यात्रा को अपनी पृष्ठभूमि (लोकेल्स) के बदलते परिप्रेक्ष्य में देखा है। मुख्य रूपसे उनकी कहानियों के तीन दौर और तीन पृष्ठभूमियां हैं। परिवेश के बदलने के साथ-साथ उनकी कहानियों में भी एक बदलाव आया है। वस्तुतः प्रत्येक कलाकार अपनी रचनाओं में अपने परिवेश को ही जीता और आकार देता है। कहानीकार की परिवेश-सम्बन्धी सही पहचान ही रचना को भी प्रामाणिक बनाती है। सुप्रसिद्ध समीक्षक व आलोचक डॉ० रमेशचन्द्र शाह कहते हैं—'कहानी में व्यक्त परिवेश जितना मूर्त और रचना स्फूर्त (यह अब्द सार्थक है) होगा, उससे उभरा हुआ व्यक्ति (चरित्र) भी उतना ही सजीव और प्रत्यक्ष-संवेद्य होगा। जो वस्तु को देख सकता है, उसका जीवंत अनुभव करा सकता है, वह व्यक्ति को, पात्र को 'रियलाइज' कर सकता है। ऐसा मानना स्वाभाविक लगता है। अंततः परिवेश भी तो बहुत सारे व्यक्तियों की—समूहगत मानव की—निर्मिति है। हम अपनी प्राथमिक संवेदनाएं परिवेश से ही ग्रहण करते हैं, व्यक्तियों से नहीं।'[3]

स्वयं कमलेश्वर ने अपने परिवेश के ही आधार पर ही अपने तीन कथा-दौर निश्चित किए हैं :—

पहला दौर : परम्परा से विद्रोह और अनुभव क्षेत्र की प्रामाणिक पहचान (सन् 1952 से 58/59 ई० तक)

दूसरा दौर : समय संदर्भ यथार्थ का स्वीकार—दाम्पत्य और विसंगत संदर्भों की समझ (सन् 1959/60 से 66 ई० तक)

तीसरा दौर : सामान्य आदमी की नियति से जुड़ा लेखन-यातनाओं के जंगल से गुजरते मनुष्य के साथ समांतर चलने का उपक्रम (सन् 1966 से अद्यतन)

प्रत्येक दौर की श्रेष्ठ कहानियों की चर्चा के माध्यम से कमलेश्वर के कहानी

---

1. 'कमलेश्वर : कहानी का संदर्भ' : डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ० 92
2. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 42
3. आलोचना : 'जुलाई-सितम्बर 69' परिवेश : संस्कार और संवेदना, पृ० 7

साहित्य का अवलोकन-मूल्यांकन किया जाएगा। 'राजा निरबंसिया', 'देवा की मां' भी ऐसी हैं। 'देवा की मां' भारतीय नारी के स्वाभिमान व संघर्षशील स्वरूप को जीवंत बनाती है। कहानी में देवा की मां की निजी (पति-परित्यक्ता होने के कारण) व्यथा उसके सामाजिक-आर्थिक जीवनसंघर्ष के दुःख के साथ जुड़कर पीड़ा को और अधिक गहरे रूप में प्रकट करती है। अपने सहज स्वाभिमान और पति-प्रेम के बीच झूलती देवा की मां अपनी रोमानी भावुकता के बावजूद पाठकीय सहानुभूति अर्जित कर लेती है।

डॉ० बच्चन सिंह को 'देवा की मां' में नवीन नारी का मुक्त स्वर सुनाई पड़ता है, जो नये मूल्यों की सृष्टि करता है।'''पुराने जीर्ण सम्बन्धों को काटकर वह स्वावलम्बन व श्रम के प्रति अटूट निष्ठा व्यक्त करती है।'[1]

कमलेश्वर की इस दौर की सर्वाधिक चर्चित और प्रसिद्ध कहानी है 'राजा निरबंसिया'। इसमें मध्यवर्गीय आर्थिक ही नहीं दाम्पत्य-सम्बन्धी विवशताओं, तनावों, अक्षमताओं का भी बहुत सशक्त व दारुण चित्रण मिलता है। यह कहानी कमलेश्वर में एक भिन्न ढंग के शिल्प-प्रयोग का उदाहरण है। राजा निरबंसिया में एक साधारण आदमी की कथा के समानांतर ही एक राजा के जीवन की कहानी लोककथा के रूप में बराबर गतिशील रहती है। इस प्रकार यह कहानी दुहरे कथानक के सश्लिष्ट शिल्प में गुंथी हुई है।

निरबंसिया राजा-रानी की लोककथा का समानांतर प्रयोग वर्तमान समय में मौजूद पति-पत्नी जगपति और चन्द्रा के दुःख को और भी अधिक सघन रूप में उजागर करता है। लोककथा के सशक्त प्रयोग से शिल्प ने कहानी को अधिक अर्थवान, सांकेतिक व प्रभावशाली बना दिया है। डॉ० नामवर सिंह की राय में 'लोककथा मुख्य कथा को और भी मार्मिकता प्रदान करती है। जैसे दो समीपवर्ती तारों में से एक की झंकार दूसरे में भी सह-स्पन्दन उत्पन्न कर देती है। मुख्य कथा की गति में जैसे ही संवेदना की तीव्रता आती है, वह सहधर्मी लोककथा से छू जाती है और हम देखते हैं कि लोककथा का टूटा हुआ सूत्र अनजाने ही हाथ में आ गया है।'[2]

लोककथा के साथ-साथ वातावरण के प्रतीकात्मक चित्रण ने भी कहानी के नायक जगपति की मूक व्यथा को स्वर दिया है। जगपति की कराह को ही अभिव्यक्ति की गई है। इस प्रकार समानान्तर कथा व इस वातावरण ने कहानी को और अधिक संवेद्य बना दिया है—'दवाखाने का लैंप सहसा झुककर रुक गया और मरीजों के कमरे से एक कराह की आवाज दूर मैदान के छोर तक

---

1. 'नई कहानी': सन्दर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 225
2. 'कहानी : नई कहानी' : डॉ० नामवर सिंह, पृ० 29

जाकर डूब गई।'[1]

'नीली झील' भी कमलेश्वर की इस दौर की ही श्रेष्ठ व पर्याप्त चर्चित कहानी रही है। पच्चीस-छब्बीस साल का महेसा और चालीस को होकर भी चालीस की न लगने वाली पार्वती की प्रेमकथा का मार्मिक चित्रण 'नीली झील' में हुआ है। मोहन राकेश की दृष्टि में इस कहानी में नीली झील कथानायिका पार्वती की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनका कथन है—'महेसा की वास्तविक प्रेमिका वह नीली झील ही है, जिसके दर्पण में वह सृष्टि के छिपे हुए रहस्य, जीवन और सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। चाहे अपने चेतन में वह उसे समझ नहीं पाता है।'[2]

'धूल उड़ जाती है', 'मुर्दों की दुनिया', 'गर्मियों के दिन', 'पानी की तस्वीर,' 'सुबह का सपना' तथा 'नौकरीपेशा' आदि इस दौर की अन्य चर्चित कहानियां हैं।

दूसरे दौर की कहानियों का मुख्य स्वर भ्रष्ट व्यवस्था पर व्यंग्य, सम्बन्धों के अपनी पहचान खो चुकने की व्यथा और महानगरी विभीषिका का मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस दौर में लेखक 'महानगरीय उलझी हुई जिन्दगी के छोर सुलझाने की चेष्टा करता है और साथ ही उसे यह भी प्रतीत होता है कि अपने समय और परिवेश को समझने की प्राथमिक दृष्टि व्यंग्य की ही हो सकती है।'[3] 'जार्ज पंचम' की नाक' कहानी सरकारी कामकाज के ढीलेपन, दफ्तरी दुनिया के माहौल और व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य है। सम्पूर्ण कहानी का संगठन व्यंग्य पर ही आधारित है। किसी विदेशी अतिथि, वी० आई० पी० और वह भी जब इंग्लैंड या अमरीका का शासनाध्यक्ष हो, तब उसके आगमनपर उसको लेकर इतनी धूमधाम, तामझाम होता है, इस पर व्यंग्य करते हुए लेखक कहता है, 'रानी एलिजाबेथ की जन्मपत्री भी छपी, प्रिंस फिलिप के कारनामे छपे। और तो और उनके नौकरों, बावर्चियों, खानसामों, अंगरक्षकों की पूरी-की-पूरी जीवनियां देखने में आयीं। शाही महल में रहने और पलने वाले कुत्तों तक की तस्वीरें, अखबारों में छप गयीं ···बड़ी धूम थी। बड़ा शोर-शराबा था। शंख इंग्लैंड में बज रहा था, गूंज हिंदुस्तान में आ रही थी।'[4]

---

1. 'मेरी प्रिय कहानियां' : कमलेश्वर, पृ० 17
2. 'बकलमखुद' : मोहन राकेश, पृ० 38
3. जिन्दा-मुर्दे : कमलेश्वर (भूमिका), पृ० 2
4. जिंदा-मुर्दे : कमलेश्वर (भूमिका), पृ० 3

कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएं' इस दौर की अत्यन्त प्रसिद्ध कहानी है। प्रथम दौर की कहानियों में 'राजा निरबंसिया' जिस प्रकार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार 'खोई हुई दिशाएं' इस दौर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, स्वार्थी और चर्चित कहानी है। इस कहानी में महानगरीय परिवेश की क्रूर, सार्थी, अजनबीपन की गन्ध, अकेलेपन की ऊब और उदासी तथा सम्बन्धों की मृत्यु हो चुकने की, महानगरीय जीवन में व्यक्ति की स्वयं की पहचान 'निजता' (आइडेन्टिटी) की तलाश के लिए छटपटाते नायक की दुःख-दर्द की कथा है।[1] कस्बे से आया हुआ युवक चेतन दिल्ली—जैसे महानगर में आकर अपने को नितांत अजनबी और अकेला अनुभव करता है। डॉ० बच्चन सिंह के शब्दों में—'खोई हुई दिशाएं' आधुनिकता के बेगानेपन को, उससे उत्पन्न गहन अवसाद को उकेरती हुई आज के मानव को सबसे काटकर अकेला बना देती है। इसमें ट्रैजिक जीवन अपने शहर के विरोध में पूर्ण व्यथा के साथ उभरता है। इसमें आस्था या मूल्य के प्रति कहीं आग्रह नहीं है—फिर भी पूरी कहानी खोई हुई दिशाओं में दशा-विशेष—अपनेपन का जबर्दस्त संकेत देती है।[2]

'मांस का दरिया' वेश्या-जीवन को विभीषिका पर आधारित कमलेश्वर की एक प्रसिद्ध और विवादास्पद कहानी है। इसमें कथानायिका जुगनू की ढलती उम्र के दर्द, अकेलेपन और आर्थिक दबावों का बेहद मार्मिक चित्रण हुआ है। विजयमोहन-द्वारा इस कहानी को 'सेक्स' के नाम पर बहता हुआ 'मांस का दरिया' कहा जाना उचित नहीं है, क्योंकि इस कहानी में वेश्या-जीवन—जैसे विषय को उठाने के बावजूद ढलती उम्र और बीमारियों से ग्रसित जर्जर हो चुकी जुगनू की दर्दभरी पीड़ा व मजबूरियों का उद्घाटन तो किया गया है, परन्तु कहीं भी उन वर्णनों में अश्लीलता का नामोनिशान नहीं है। डॉ० पुष्पपाल सिंह की राय में 'इस कहानी की एक बहुत खूबी यह है कि सेक्स के चटखारेपूर्ण वर्णन के अवसर होते हुए भी कहानीकार के हाथ से कहानी का कथ्य छूट नहीं पाया है।...किसी द्वितीय कोटि की प्रतिभा के हाथों पड़कर कहानी इन्हीं स्थलों पर अश्लील हो सकती थी। कहानीकार ने इस कहानी के टोन को भाषा-शैली के माध्यम से भी संभाले रखा है।'[3]

'तलाश' भी कमलेश्वर की इस दौर की एक शिल्प की दृष्टि से कसी हुई सफल कहानी है। 'इस कहानी में एक विधवा स्त्री द्वारा प्रेम की, व्यक्तिगत सुख की तलाश चित्रित है जो अपनी सयानी लड़की के सामने इस तलाश के लिए

1. 'आलोचना' (जुलाई-सितम्बर, 1973), पृ० 82
2. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 225
3. 'कमलेश्वर : कहानी का संदर्भ : पुष्पपाल सिंह पृ० 41

प्रयत्नरत दिखाई गई है, किन्तु उसका यह प्रयत्न सुख की 'तलाश' ही बना रहता है। 'उपलब्धि' या प्राप्ति नहीं बन पाता।[1] इस कहानी में मां-बेटी, दोनों के मन में अपने-अपने तई संघर्ष चलता रहता है। ममी जो आठ वर्षों से विधवा है, मिस्टर चन्द्रा से जुड़कर भी मानसिक द्वन्द्व की शिकार है तथा सुभी एक साथ अपनी ममी के प्रति संवेदनशील है और पिता के प्रति भी। कभी वह मां के मिस्टर चन्द्रा से जुड़ने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद ही करती है और फिर कभी मां की पिता के प्रति उपेक्षा उसे बर्दाश्त नहीं होती। इस प्रकार कहानी में मां-बेटी के व्यक्तित्व को ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में खोलने का प्रयत्न किया गया है।

'दिल्ली में एक मौत', 'बुनबरी दुनिया', 'पराया शहर', 'ऊपर उठता हुआ मकान', 'दूसरे', 'बदनाम बस्ती', 'अपने देश के लोग', तथा 'अपने अजनबी', 'देश' आदि प्रमुख है। कमलेश्वर की इस दौर की कहानियों के स्तर में कथ्य और शैली-शिल्प की दृष्टि से उतार-चढ़ाव दिखाई देता है। कहीं उनका स्तर बहुत श्रेष्ठ और संतोषजनक है तो कहीं खानापूरी-सी की गई प्रतीत होती है। मधुरेश ने भी 'मांस का दरिया' की कहानियों के संदर्भ में यही बात कही है—'इन कहानियों में किसी भी प्रकार की एकरूपता का अभाव है, कहीं स्तर और उपलब्धियों का यह गहरा अंतर संतोष की समग्रता को भी खंडित करता है—अर्थात् विकास और कालक्रम की दृष्टि से कमलेश्वर की कहानियों को लेकर कोई निश्चित धारणा बना पाना या अपेक्षाओं का एक स्तर बना लेना कोई बहुत सरल बात नहीं है। यह असंतोष तब और भी बढ़ जाता है, जब कभी-कभी यह अनुभूति हो कि कहानी किसी आन्तरिक दबाव के अभाव में समय की मांग या किसी आकर्षक नारे को देखकर लिखी गई है।'[2]

'जोखिम', 'रातें', 'मानसरोवर के हंस' और 'इतने अच्छे दिन' आदि कमलेश्वर की तीसरे दौर की श्रेष्ठ कहानियां हैं। 'जोखिम' कहानी में कस्बे से बम्बई—जैसे महानगर में जीविका की तलाश में आये व्यक्ति की दोहरी पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है। यह कहानी आज के मनुष्य की जिंदगी की जोखिम भरी दास्तान है। डॉ० विनय के अनुसार 'सबसे बड़ा कटु सत्य इस कहानी में यह उभरा है कि समानान्तर ईमानदारी का जीवन जीने की लालसा लिये भी आदमी भटकता है और दूसरी स्थिति में भी उसका भटकाव खत्म नहीं

---

1. 'कमलेश्वर : कहानी का संदर्भ'—पृ० 42
2. 'आज की हिंदी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' ; मधुरेश, पृ० 43

होता।'[1]

'रातें' कहानी सामान्य जन और पूंजीपति वर्ग के संघर्ष को प्रतीकात्मक रूप में उद्घाटित करती है। 'रातें, कहानी में एक साधारण कथारूप से ऐतिहासिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में लेखक ने महाबटवृक्षीय सामंतवाद की काली छाया में दम तोड़ने वाली पीढ़ियों का क्रूर यथार्थ व्यंजित किया है। लगता है, जैसे इस सामंतवाद ने इतनी लम्बी उमर पायी है कि प्रचलित रूढ़ियां यथावत्, उसके अनुकूल होती जायेंगी और आने वाली प्रत्येक पीढ़ी उसके दंश का शिकार बनने के अतिरिक्त और किसी नियति को नहीं पा सकती।'[2]

इस दौर की कमलेश्वर की एक बहुत सशक्त और कलात्मक रूप से श्रेष्ठ कहानी है—'इतने अच्छे दिन', जो 'सारिका' के मार्च, 1977 अंक में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी गरीबी व भूख का चित्रण करने वाली कमलेश्वर की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

तीसरे दौर की अन्य सशक्त कहानियां हैं—'नागमणि', 'या कुछ और', 'बयान', 'अपना एकांत', 'दुनिया बहुत बड़ी है।' 'बीच कैण्डी', 'सांप' आदि।

'तलाश' की ममी और सुमी के बीच उपस्थित औपचारिकता-भरी मनःस्थिति को लेखक इस तरह अभिव्यक्त करता है: 'उन दोनों के बीच पानी का एक रेला आ गया था। वे सिर्फ किनारों की तरह समानांतर खड़ी रह गई थीं।'[3] ममी और सुमी के बीच आई दूरी का इस प्रतीकात्मकता-द्वारा सुन्दर भाषा में कथन किया गया है। भाषा की सार्थकता का अहसास कराने वाले ये उपर्युक्त उद्धरण कमलेश्वर की कहानियों के समर्थ, सशक्त व सफल होने के सूचक हैं।

कमलेश्वर प्रायः अपनी कहानियों का प्रारंभ लोककथाओं की शैली के आधार पर करते हैं। इस लोककथा का प्रयोग केवल कहानियों के प्रारंभ में ही नहीं, उनकी कहानियों में किस्सागोई के रूप में भी मिलता है। आद्यंत फंतासी शिल्प में लिखी गई कहानियों में उनकी 'जार्ज पंचम की नाक', 'अपने देश के लोग' और 'जिंदा मुर्दे' हैं। 'पानी की तस्वीर' में सूक्ति का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—'विचार देने वाले हताश भी होते हैं, पर संस्कार देने वाले सदैव आश्वस्त रहे हैं।'[4]

---

1. 'समकालीन कहानी : समांतर कहानी' : डॉ० विनय, पृ० 96
2. वही, पृ० 31
3. 'मेरी प्रिय कहानियां' : कमलेश्वर, पृ० 125
4. 'राजा निरबंसिया' : कमलेश्वर, पृ० 18

इस प्रकार कमलेश्वर की कहानियां बड़ी चुस्त शैली में गुंथी हुई हैं। विशेष रूप से अपनी कहानी भाषा के तृतीय दौर में वे कहानी के कथ्य से शिल्प की तरफ अधिक झुके हुए हैं। 'लाश' 'बयान' आदि कुछ कहानियों में तो उनकी शिल्प-सजगता अतिरिक्त रूप से दिखाई देती है, यहां तक कि कहीं-कहीं पर शिल्प पर अधिक जोर देने की वजह से यह कथ्य पर हावी हो गया है। इस दौर की उनकी लगभग सभी कहानियों की विशिष्टता है उनका विचारप्रधान हो जाना, उनमें अनुभूतिपक्ष गौण है।

कमलेश्वर ने तीव्र गति से बदलते हुए युग-जीवन के संदर्भों में व्यक्ति और समाज को उद्घाटित किया है और इस प्रक्रिया में उनकी दृष्टि विशेष रूप से यथार्थपरक रही है। यथार्थ के प्रति उनकी यह विशेष दृष्टि, जिसे उन्होंने ('राजा निरबंसिया' की भूमिका में) सोद्देश्यता और डॉ० नामवर सिंह ने सार्थकता कहा है,[1] उनकी बहुचर्चित कहानी 'राजा निरबंसिया' से लेकर 'इतने अच्छे दिन' तक की सभी कहानियों में लक्षित होती है। उनकी कहानियों में यह दृष्टि एक ओर आभ्यंतर यथार्थ की परतों को खोलती है, तो दूसरी ओर बाह्य यथार्थ की विभिन्न सतहों का उद्घाटन बड़े कौशल के साथ करती है और प्रायः इन दोनों का अंतर्गुंफन हो जाता है। 'राजा निरबंसिया' इस तरह का श्रेष्ठ उदाहरण है जिसमें दो समानांतर कथायें चलती हैं। इस तथ्य को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने 'समकालीन सिद्धांत और साहित्य में' कहा है—'इस प्रकार 'नीली झील', 'नागमणि', 'तलाश' और 'आशंकित' में मानव-मन का यथार्थ प्रधान है, सामाजिक यथार्थ उसका आधार बनता है। इसके विपरीत 'बयान' और 'राजा निरबंसिया' में सामाजिक यथार्थ प्रधान है और मानव-मन उसी का प्रतिबिंब है।'

कमलेश्वर की कहानियों के एक समग्र मूल्यांकन की झलकी विख्यात आलोचक डॉ० नगेन्द्र के इस विश्लेषण में देखी जा सकती है—'कमलेश्वर की कहानियों में युगीन संत्रास का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है। उनकी विकास-यात्रा में बोध के विभिन्न संदर्भ और जीवन के विविध आयाम दिखाई देंगे। उदाहरणार्थ—'देवा की मां' में पुरानी पीढ़ी के जीवन का सशक्त चित्रण हुआ है, तो 'नीली झील' में मानवीय संवेदना को उसकी विस्तृति में लिया गया है। 'खोई हुई दिशाएं' आज के महा-नगरीय-बोध, अकेलेपन और बेचारगी की टेबेडी है, तो 'मांस का दरिया' में 'मामा द पिट' की झांकी मिल सकती है। कमलेश्वर इस काल-खण्ड के सशक्त कहानीकार हैं। यह शक्ति रोमानियत से अलग होने और भाषा-संरचना के संयम में निहित है। सम्पूर्ण संरचना में इतनी

1. 'कहानी : नई कहानी'—डॉ० नामवर सिंह, पृ० 31

निःसंगता किसी अन्य कहानीकार में नहीं आ पाई है।'[1]

अमरकांत

'नई कहानी' के दौरान उभरे उसके सूत्रधार कहानीकारों की तुलना में अमरकांत की चर्चा कम हुई है। हालांकि सुप्रसिद्ध कहानीकार व 'कहानी' तथा 'नई कहानियां' पत्रिकाओं के संपादन के द्वारा हिन्दी कहानी के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले, भैरवप्रसाद गुप्त ने बहुत पहले ही यह भविष्य-वाणी कर दी थी कि—'अमरकांत के नाम के बिना आज की नई कहानी की कोई भी चर्चा अधूरी है।'[2] यह सत्य एक साहित्यकार-सम्मेलन की कहानी-गोष्ठी के द्वारा सिद्ध हो चुका था। फिर भी डॉ० विजयमोहन सिंह की दृष्टि में अमरकांत का अध्ययन 'नई कहानी के खाते में डाल दिये गये, उससे सर्वथा अलग पड़ने वाले कहानीकार का अध्ययन करना है।'[3] गिरिराज किशोर का भी मत यही है कि—'नई कहानियां मंडल' के साथ रहने के बावजूद एक कदम पीछे होकर चलने वाले अमरकांत, इलाहाबाद में विचरण करने वाले अनेक लेखकों की तरह साधारण और सामान्य बन सकते हैं, परन्तु कहानीकार के रूप में सबसे अलग और विशिष्ट हैं।···उनका लेखन मानवीय अनुभव की व्यापकता और मानवीय मन की संकीर्णता के विरोधाभासों को पूरी तरह पहचानता है।'[4]

अमरकांत के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी उठा करता है कि अगर अमरकांत ने अपने समकालीनों की भांति फैशन का साथ दिया होता, तो शायद उनका नाम अधिक आधुनिक लेखकों में लिया जाता, किन्तु गिरिराज किशोर का मत है कि यह अवश्य है कि 'धारा के साथ बहते जाना अधिक सहज और आसान होता है (लेकिन) यह भी सही है कि एक लेखक अपनी रचनात्मक विशिष्टता फैशन से हटकर ही स्थापित कर सकता है।···यदि यह कहा जाय कि अनुभव को विशिष्टता देने के लिए लेखक को एक व्यक्तिवादी स्तर पर जीना पड़ता है, तो अतिशयोक्ति न होगी। उसके अपने संकट और अपनी चुनौतियां हैं, जो अमरकांत में स्पष्ट घटती हुई दिखलाई पड़ती हैं।'[5]

---

1. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' : सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 692
2. 'जिन्दगी और जोंक' (भूमिका)
3. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह, पृ० 72
4. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 24-25
5. 'संवाद-सेतु' : गिरिराज किशोर, पृ० 24-25

सुरेन्द्र चौधरी भी अमरकांत को फैशन व आंदोलनों से सर्वथा अप्रभावित मानकर, मानवीय भावनाओं से युक्त यथार्थवादी परम्परा का कहानीकार घोषित करते हैं। अमरकांत के कहानी-संग्रह 'मौत का नगर' के फ्लैप मैटर पर उनका यह मत छपा है—'अमरकांत के बारे में पहली और आखिरी बात यह है कि अपने युग का फैशन इस लेखक को पचा नहीं सका और न ही आन्दोलनों से इसको क्षति पहुंची। अमरकांत का कहानीकार एक ऐतिहासिक दृष्टि-सम्पन्न रचनाकार है, जो अतीत को नकारने का कार्य उसके भावबोध के यथार्थ को तोड़कर सम्पन्न करता है। अमरकांत की कहानियां मानवीय वास्तविकता से होकर समय को भाषती, मूर्त व परिभाषित करती हैं···ये कहानियां अपने-आप में ही हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा का विकास बन जाती हैं।'

सम्भवतः उनकी कहानियों में विद्यमान इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य करके डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय अमरकांत को न केवल विषयवस्तु, बल्कि भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से भी प्रेमचन्द की कोटि का कहानीकार स्वीकार करते हैं, 'इस दशक के सभी कहानीकारों में वे एकमात्र ऐसे कहानीकार हैं, जो प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। उनमें वही मानवीय संवेदनशीलता है, जीवन है, जीवन का यथार्थ है और आस्था एवं संकल्प है। उनके पात्रों में अपूर्व जिजीविषा है और सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसा प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है, जो जीवन से जूझने की प्रेरणा देता है और विषमताओं से ऊपर उठने का आत्म विश्वास भरता है।'[2]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अमरकांत की कहानियों के कायल हैं और उनकी कहानियों को अच्छी, व बहुत अच्छी श्रेणियों में बांटते हुए कहते हैं कि ये ही वे कहानियां हैं, जिनके चलते बगैर किसी आन्दोलन में शामिल हुए व फैशन का साथ दिये उनका नाम हिन्दी के श्रेष्ठ कहानिकारों में लिया जाता है—'उन्होंने 'जिन्दगी और जोंक', 'डिप्टी कलक्टरी', 'दोपहर का भोजन', 'हत्यारे' और 'मूस'-जैसी बहुत अच्छी और 'छिपकली' और 'असमर्थ हिलता हाथ' तथा 'जनमार्गी'-जैसी अच्छी कहानियां लिखी हैं और उन्हीं के दम से है कि बिना किसी शोर-शराबे के वे अपने समकालीनों में महत्वपूर्ण स्थान पा गये।'[2]

अमरकांत की लगभग सभी श्रेष्ठ, चर्चित व प्रतिनिधि कहानियां हमें 'मौत का नगर' शीर्षक कहानी-संग्रह में एक साथ देखने को मिल जाती हैं। इस संग्रह में उनकी 21 कहानियां संकलित हैं, जिसमें से 'असमर्थ हिलता हाथ', 'डिप्टी कलक्टरी', 'दोपहर का भोजन', 'जिन्दगी और जोंक', 'हत्यारे', 'घुड़सवार',

1. 'आधुनिक कहानी का परिपार्श्व'—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 140
2. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय'—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 241

'बहादुर', 'मूस', 'गगनबिहारी', 'छिपकली', 'महान चेहरा' आदि बेहतरीन कहानियां कही जा सकती हैं।

'नई कहानी' मुख्य रूप से मध्यवर्गीय जीवन व मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। अमरकांत की कहानियों में भी हमें मध्यवर्गीय मानसिकता का ही स्वर प्रमुख रूप में गूंजता दिखाई देता है। 'जिन्दगी और जोंक' की समीक्षा करते हुए डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने 'जिन्दगी और जोंक' कहानी के सन्दर्भ में बहुत पहले ही लिखा था—'मध्यवर्गीय जीवन की जटिल सम्पूर्णता में विश्लेषक उतर जाने की अमरकांत में अपूर्व शक्ति है और प्रायः उनकी सभी कहानियां मध्यवर्गीय जीवन के अनुभवों से सम्बद्ध हैं।' ठाकुर प्रसाद सिंह के शब्दों में 'प्रेमचन्द के बाद पहली बार मध्यवर्ग की अवधारणा को इतनी संवेदनात्मक अभिव्यंजना मिली है।'[1]

'जिन्दगी और जोंक', 'मौत का नगर', 'देश के लोग' आदि कहानी-संग्रहों में भी मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं व संघर्षों को केन्द्र में जरूर रखा गया है, लेकिन इसका तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि उन्हें समाज के बहुसंख्यक निम्न या निम्न मध्यवर्ग का बिल्कुल ध्यान नहीं है। हां, यह अवश्य है कि उनकी कहानियों में उस वर्ग का चित्रण प्रकारान्तर से देखने को मिलता है। अर्थात् मध्यवर्ग की भांति निम्न मध्यवर्ग या निम्न वर्ग को उन्होंने अपनी कहानियों में सीधे न लेकर या तो मध्यवर्ग के समानान्तर रखकर देखने का प्रयास किया है या मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से उसके यथार्थ को उभारने का प्रयास किया है। 'पलाश के फूल', 'जिन्दगी और जोंक', 'देश के लोग' आदि कहानियां मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय अंतर्विरोधों व मानसिक भिन्नताओं को एक-दूसरे की सापेक्षता में ही स्पष्ट करती हैं। परन्तु चाहे 'पलाश के फूल' के मध्यवर्गीय तथाकथित सभ्य नवलकिशोर राय हों, या 'जिन्दगी और जोंक' के शिवनाथ बाबू हों, या 'देश के लोग' का अखिल, ये सभी क्रमशः निम्नवर्गीय अंजोरिया, रजुआ व गरीब शामीन के समक्ष कहानी के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते बेहद अमानवीय, जाहिल और नीच प्रमाणित होते हैं, लेकिन यह नीचता और अमानवीयता पूरी कहानी में प्रारम्भ से अन्त तक इस तरह विरोधी गयी है कि कहीं भी आरोपित या अवास्तविक नहीं प्रतीत होती।

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के अनुसार—'जिन्दगी और जोंक' और 'बहादुर' में चोरी का इलजाम लगाकर पीटना और बाद में यह पता चलने पर भी कि चोरी उसने नहीं की, तब भी यह कहना कि—'ये साले इसी काम के हैं।' उस मध्यवर्गीय प्रवृत्ति का संकेत करना है, जिसे अपने से गरीब और भूखे लोगों के प्रति

1. 'मौत का नगर' (फ्लैप मैटर) : अमरकांत

घृणा और सम्पन्न से ईर्ष्या की प्रवृत्ति भी कह सकते हैं।'[1]

अमरकांत अपनी सामाजिक चेतना और जागरूकता के कारण समकालीन कथाकारों के बीच आज भी प्रासंगिक बने हुए है। वो अपने समाज की नब्ज को पहचानते हैं और उसके प्रति एक दायित्व का भी अनुभव करते है। 'उनकी प्रेरणा के केन्द्र समाज के वर्गगत स्तर हैं, जहां सच्चाइयां तैरकर स्वतः उतरा आती हैं। अमरकांत उन्हीं को उठाते हैं, इसलिए उनके नीचे अवस्थित वे चरित्र उन्हें बने-बनाए मिल जाते हैं। अतः समय की गति और चेतना के अंतर्द्वन्द्व के अभाव में भी वे अधिकतम वास्तविक चरित्रों का निर्माण करके कहानी के अब तक की प्रभावान्विति को एक नया रूप देने के साथ ही जीवन का प्रबल साक्ष्य भी उपस्थित करते है।'[2]

अमरकांत अपने सामाजिक चित्रण में द्रष्टा नहीं, अपितु भोक्ता के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं और यही कारण है कि उनकी कहानियों में आए (निम्नवर्गीय, निम्नमध्यवर्गीय व मध्यवर्गीय) लगभग सभी पात्र लेखकीय संवेदना का आत्मीय व अंतरंग हिस्सा बन जाते है। अमरकांत की सामाजिकता पर टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं कि 'अमरकांत इस अर्थ में सामाजिक जागरूकता का कथाकार नहीं है कि उसने दलितों, शोषितों या पीड़ितों पर—'हाय तुम लोगों की क्या जिन्दगी है' के बौद्धिक विगलन से कहानियां लिखी हैं। मुझे उसकी ऐसी एक भी कहानी याद नहीं है। निम्नमध्यवर्गीय दमनीयता, असफलता के बीच, उस सबका हिस्सा बनते हुए उसने कहानियां लिखी हैं।'[3]

इनकी प्रासंगिकता और सामाजिक अर्थवत्ता की पुष्टि डॉ० इन्द्रनाथ मदान के कथन में भी मिल जाती है। उनका कहना है कि अमरकांत की 'अधिकांश कहानियों को प्रेरित एवं रूपायित करने वाली दृष्टि समष्टिमूलक है। इसका स्वरूप कभी सामान्य है, तो कभी विशिष्ट। इसकी प्रवृत्ति कभी 'सामाजिक' है, तो कभी समाजवादी। अमरकांत ने अपनी कहानियों में प्रायः उस सामाजिक विषमता की ओर संकेत किया है, जो मानव-जीवन के विकास में बाधक है।'[4]

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र अमरकांत की कहानियों के सृजन पक्ष और उनमें विहित व्यंग्य के विश्लेषण में व सोद्देश्यता के कारणों पर विचार करते हुए कहते है—'अमरकांत की कहानियां आकांक्षा और विवशता के बीच की टकराहट से उत्पन्न होती हैं। यह टकराहट दिखाई नहीं जाती, बल्कि वर्णित होती है। यह

---

1. 'सम्पर्क' (जनवरी-मार्च 1987) सं० : रामस्वरूप द्विवेदी, पृ० 136
2. 'कहानी की बात' : मार्कण्डेय,
3. 'औरों के बहाने' : राजेन्द्र यादव, पृ० 75
4. 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना' : सं० सुरेन्द्र, पृ० 186

अवश्य है कि इस वर्णन में वे अत्यंत चतुराई से उस अनुभव-सन्दर्भ का निर्माण करते हैं—जो इस टकराहट की व्यावहारिक अभिव्यक्ति, आन्तरिक टूटन, बेचैनी, पीर और सिसकी को एक साथ अभिव्यक्ति दे सके। 'डिप्टी कलेक्टरी', 'दोपहर का भोजन', 'मूस', 'निर्वासित' इसी प्रकार की कहानियां हैं। निम्नमध्यवर्गीय परिवार के इस दोहरेपन को संतुलित बनाए रखने के लिए लगाये जाने वाले अतिरिक्त बल को उनकी अधिकांश कहानियों में देखा जा सकता है। हां, यह एक विचित्र बात अवश्य है कि इस संतुलन के पीछे छिपे मंतव्य, बातचीत या व्यवहार के पीछे की 'नीयत' को वे चुटकी भी लेते हैं—कभी बारीक व्यंग्य के रूप में और कभी हल्के परिहास के रूप में। अमरकांत जी कभी एक वाक्य के ज़रिए कभी उपमा से और अधिक महत्वपूर्ण ढंग से कभी चाल-ढाल-या आकृति के किसी विशेष पहलू से चरित्र या व्यक्ति के विशेष गुण और आंतरिक प्रकृति को प्रतीकित करते हैं। इस प्रतीकन में एक प्रकार का व्यंग्य ही होता है, जो ज्यादातर आपरनिकल स्थिति को ध्वनित करता है।'[1]

अमरकांत को हिन्दी कहानी-क्षेत्र में यथायोग्य स्थान न दिये जाने और कहानी-समीक्षा के पक्षपातपूर्ण रवैये पर विजय मोहनसिंह-द्वारा व्यक्त किया गया क्षोभ नितांत जायज है—'कमलेश्वर का जयघोष करने वाले लोग अमरकांत-जैसे कहानीकारों को जिस तरह नज़रअन्दाज कर जाते हैं, यह न केवल आश्चर्यजनक है, बल्कि कहानी के मूल्यांकन में इस तरह की चाटुकारिता बहुत बड़ी बाधा बन रही है।'[2]

हालांकि यह नहीं कहा जा सकता कि अमरकांत चर्चित कहानीकार नहीं रहे हैं, लेकिन इतना मानना होगा कि मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की भांति वे प्रायोजित चर्चाओं का केन्द्र नहीं बन सके। इसका एक कारण अमरकांत का आंदोलन तथा बहस ही नहीं, बल्कि कथाचिंतन के मामले में भी लगभग तटस्थ रहना है, लेकिन यह भी सत्य है कि उन्हें लगभग एक स्वर में पहली कतार का कहानीकार माना गया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के स्वर में स्वर मिलाकर कहा जा सकता है कि उनकी सामान्य तथा अच्छी कहानियों की तुलना में बहुत अच्छी कहानियों की संख्या कम है, लेकिन 'डिप्टी कलक्टरी' 'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन' और 'मूस', 'हत्यारे' तथा 'एक असमर्थ हिलसा हाथ' सचमुच बहुत अच्छी कहानियां हैं—बहुत-बहुत अच्छी कहानियां।

भारतीय जन की निम्न तथा निम्न मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदियां ही नहीं, बल्कि आकांक्षाओं और संवेदनाओं का भी अमरकांत की कहानियां एक व्यापक

---

1. 'सम्पर्क' (जनवरी-मार्च 1987) सं० : रामस्वरूप द्विवेदी, पृ० 183
2. 'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह, पृ० 75

प्रतिनिधित्व करती हैं। मनुष्य की 'जिजीविषा' का (अस्तित्व रक्षा के स्तर पर) प्रतिनिधित्व करने वाली 'जिन्दगी और जोंक' के स्तर की कहानियां दुर्लभ ही होंगी। इस दृष्टि से अमरकांत सामान्य को असामान्यता के चितेरे कहानीकार हैं।

मन्नू भण्डारी

महिला कहानी लेखिकाओं में सबसे अधिक चर्चित एवं महत्वपूर्ण स्थान मन्नू भण्डारी को प्राप्त है। इनकी अधिकांश कहानियां स्तरीय हैं, अनुभवों की सच्चाई व संवेदनशीलता इनकी कहानियों का विशेष गुण है। 'सामाजिक भ्रम, पारम्परिक संस्कार और औरत होने के निजत्व की दोहरी-तिहरी जटिलताओं से संश्लिष्ट नारी-चरित्रों के सर्चों का साक्षात्कार जैसे मन्नू भण्डारी की कहानियों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। उनकी लेखनक्षमता का सबसे गहरा साक्ष्य उनकी जटिल नारी-चरित्रों वाली कहानियों में ही ज्यादा मिलता है—यह सच है।'[1]

इनके कहानी-संग्रहों के नाम हैं—'मैं हार गई', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'यही सच है', 'कील और कसक', 'त्रिशंकु', 'एक प्लेट सैलाब' और 'मेरी प्रिय कहानियां'।

मन्नू भण्डारी-द्वारा वर्णित अपनी रचना-प्रक्रियासे उनकी कहानी-सम्बन्धी दृष्टि का परिचय मिलता है : 'शुरू में कोई अनुभव, स्थिति या द्वन्द्व धुंधले ■ रूप में मन पर छाया रहता है। पुनः बुजन के दौरान में वही धुंधली आकृति कहानी का रूप लेती है। इस रूप लेने के दौरान में बराबर कुछ नया खोजने के उल्लास से गुजरती रहती हूं।···कभी-कभी कोई 'ब्रिलियेंट आइडिया' जरूर लिखने के लिए उकसाता है, पर जब तक वह जीवन के साथ पूरी तरह गुंथ नहीं जाता—कहानी के रूप में उसे ढालना मेरे लिए सम्भव नहीं होता। जीवन की धड़कन से भरपूर स्थितियां, विचार या समस्याएं ही मुझे लिखने के लिए प्रेरित करती हैं।'[2]

'जीवन के साथ पूरी तरह गुंथ' जाने के कारण ही मन्नू भण्डारी की कहानियों में जीवंतता आई है। यह उनके 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण का परिणाम है। मन्नू जी ने स्वयं कहा है—'लिखने की एक अनिवार्य शर्त होती है—'आब्जेक्टिविटी'। जब आप अपनी चीजों का तटस्थ होकर विश्लेषण करते हैं, तो आपका सारा रवैया बदल जाता है। लेखन ने मुझे अपनी निजी समस्याओं के

---

1. 'विकल्प कथा-साहित्य-विशेषांक' (1968) सं० : ज्ञानेश मटियानी, पृ० 130
2. 'त्रिशंकु' : मन्नू भण्डारी, (भूमिका)

प्रति 'आब्जेक्टिव' होना और उनसे उबरना सिखाया है।'[1] यही वह सूत्र है, जिससे मन्नू भण्डारी का लेखन अपनी सबसे अलग पहचान लिए यथार्थ की जमीन पर बेहद सहजता व सादगी के साथ प्रतिष्ठित है। उनका लेखन किसी भी तरह की बनावट के खिलाफ है। इसका कारण यह है कि मन्नू भण्डारी सार्वजनिकता और निर्वैयक्तिकता पर बल देती हैं। उनका कथन है कि अपने नितान्त व्यक्तिगत और एकांत अनुभवों को कहानी के चरित्रों और स्थितियों के बीच रख देना या अपने से अलग कहानी की दुनिया से अपना व्यक्तिगत निकाल लेना ही कला को एक सार्थकता देता है, सार्वजनीनता देता है। जिन रचनाओं में अपनी और दूसरों की बात इस तरह घुलमिल गई है, वे इतनी अधिक संभावनाओं से भरी होती हैं कि प्रायः समय-समय पर उनकी नयी व्याख्यायें और नये पक्षों का उद्घाटन होता रहता है। व्यक्तिगत अनुभव निर्वैयक्तिक होकर ही सत्य का दर्शा पा सकता है।'[2] उनकी कहानियों की सहज पठनीयता के सन्दर्भ में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के विचार दृष्टव्य हैं : 'मन्नू के लेखन में कुछ अजीब सरलता और बोधगम्यता है। उनकी कहानियों को पढ़ते समय दिल या दिमाग पर जरा भी जोर नहीं पड़ता।'[3] इस तरह कहानियों की सहज बोधगम्यता के सन्दर्भ में इनकी कहानियां अज्ञेय की बौद्धिकता परक कहानियों के बिलकुल विपरीत है। मन्नू जी की कहानियां जितनी सुगमता के साथ पढ़ी जाती हैं, 'अज्ञेय' की कहानियों को पढ़ते समय पूरा चैतन्य होना पड़ता है।

मन्नू भण्डारी अपनी समकालीन लेखिकाओं से जिन कारणों से अलग दिखाई पड़ती हैं, वो राजेन्द्र यादव के शब्दों में 'उनकी कहानियों में नारी के घरेलू और वैयक्तिक जीवन के विविध चित्र, कहानी की सम्पूर्ण परिकल्पना और उसे समुचित सामाजिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करने की समझ और सबसे ऊपर तटस्थ, बेबाक और बोल्ड एप्रोच।'[4] में निहित हैं।

मन्नू भण्डारी की कहानियों में सामाजिक और वैयक्तिक, दोनों दृष्टिकोणों का बड़ा सुन्दर सामंजस्य है। वैयक्तिक दृष्टिकोण की उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'यही सच है' है। यही वह कहानी है, जिसके माध्यम से उन्हें हिन्दी कहानी क्षेत्र में आज भी याद किया जाता है। प्रेम-त्रिकोण कहानियों की श्रेणी में वह एक मिसाल है। इसे एक यादगार कहानी मानते हुए उपेन्द्रनाथ 'अश्क' लिखते हैं — 'एक नारी एक समय में दो व्यक्तियों को प्यार कर सकती है, यह सत्य अपनी

---

1. 'त्रिशंकु' (भूमिका) : मन्नू भण्डारी
2. 'मेरी प्रिय कहानियां' : मन्नू भण्डारी (भूमिका) पृ० 5
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 252
4. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' : राजेन्द्र यादव, पृ० 268

बनायी इस दुनिया में यहां के पुरुषों को स्वीकार नहीं होता, पर यह है सच और मन्नू ने बड़े ही नाजुक हाथों से इस सत्य को अपनी कहानी में उकेर दिया है।'[1]

डॉ० रघुवीर सिन्हा ने 'यही सच है' कहानी के पात्रों के आधार पर कहानी के कथ्य का विश्लेषण करते [illegible] उसके इस महत्त्वपूर्ण पहलू का संकेत किया है, जो प्रायः अनदेखा रह जाता है। उनके अनुसार—'मन्नू जी की दीपा अब तक प्रचलित प्यार की रुमानी आदर्शवादी तस्वीर को तोड़ती है।' प्यार की दो स्थितियों को वह अपने अनुभूति के क्षेत्रों में सम्पूर्णता से स्वीकार करती है, और उनके आनुषंगिक अनुभवों को भोगती है। स्थिति के गुजर जाने के बाद वह व्यर्थ ही, उसके पीछे छूटे हुए अवसाद से देर तक नहीं चिपकी रहती, उससे उबरकर दूसरे विकल्प को अपनाने की भी क्षमता रखती है। 'यही सच है' इस तरह बीसवीं सदी की प्रेमिका के एक नए बदलते रूप-रंग की तस्वीर प्रस्तुत करती है। प्रेमिका की भूमिका ही नहीं बदलती है, उसे अर्थपूर्ण बनाने वाले सम्बन्धित मूल्य भी क्रमशः बदलते चले गए हैं।'[2]

'मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है' नारी-जीवन के उस आंतरिक यथार्थ को अभिव्यक्ति है, जिसे दीपा अपने भीतर जीती है।'[3]

इस कहानी के सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध कहानीकार मोहन राकेश की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—'प्रेम के अंतर्द्वन्द्व की कहानियां पहले भी लिखी गई है और इस दृष्टि से इस कहानी में कुछ नयापन नहीं है, परन्तु मन्नू ने जिस सहजता और साहस के साथ इस अंतर्द्वन्द्व का चित्रण किया है और शिल्प के जिस अधिकार के साथ इसे क्लाइमेक्स तक निबाहा है, उससे इसमें अपनी ही ताजगी आ गई है और लगता है, जैसे कहानी न होकर दीपा के जीवन का एक सच्चा अनुभव ही है और जैसे सचमुच हम दीपा की डायरी के पन्ने ही पलट रहे हैं। कहानीकार किसी भी कहानी में यदि वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न कर दे, तो वह रचना बहुत सफल रचना होती है। मन्नू की यह कहानी इस दृष्टि से सफल है ही।'[4] यह कहानी अतीत और वर्तमान के मध्य द्वन्द्व से युक्त, अंततः वर्तमान में उपस्थित क्षण के सच के स्वीकार की कहानी है, जैसा कि कहानी की नायिका भी महसूस करती है—'मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ

---

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 252
2. 'आधुनिक हिन्दी कहानी-समाजशास्त्रीय दृष्टि' : डॉ० रघुवीर सिन्हा, पृ० 75-76
3. 'नई कहानी' : अंक 4, सितम्बर 1979 : सं० सतीश जमाली, पृ० 47

था, मिथ्या थी, भ्रम था···।'[1] इस कहानी में लेखिका ने एकनिष्ठ प्रेम की परम्परागत धारणा को बखूबी ध्वस्त किया है। इसी सन्दर्भ में मधुरेश के इन विचारों को देखा जा सकता है—'परम्परागत नैतिक मान्यताओं को अपने विवेक से तौलने के आग्रह की जो परम्परा यशपाल की कहानियों से शुरू हुई, इसने उस परम्परा का निश्चित विकास किया है और इस सिलसिले में जिन महिला कथाकारों ने योग दिया है, उनमें मन्नू भण्डारी का नाम सर्वप्रमुख है। 'एक प्लेट सैलाब' की कहानियां स्त्री की अनुभूतियों और समस्याओं को उसी दृष्टिकोण से देखने का सुस्पष्ट प्रयास हैं।'[2]

'ऊंचाई' कहानी में मन्नू ने केवल दाम्पत्य-जीवन में शारीरिक पवित्रता को महत्व देने का विरोध किया है। कथा-नायिका शिवानी कहती भी है, 'यदि वैवाहिक सम्बन्धों का आधार इतना छिछला है, इतना कमजोर है कि एक हल्के से झटके को भी सम्भाल नहीं सकता, तो सचमुच उसे टूट ही जाना चाहिए।'[3] परन्तु मन की जिस ऊंचाई पर शिवानी ने उसे (पति शिशिर को) बैठा रखा था, वह जगह केवल उसी की है, और शिशिर भी उसे अपने जीवन की आवश्यकता स्वीकार करता है। फलस्वरूप उनके सम्बन्ध पारस्परिक समझदारी के कारण पूर्ववत् बने रहते हैं। इस प्रकार इस कहानी में तथाकथित सतीत्व के स्थान पर नारीत्व की श्रेष्ठता स्थापित की गई है।

'तीसरा आदमी' कहानी में भी नायक सतीश का पारम्परिक पुरुष सहज अपनी पत्नी शकुन के परिचित आलोक जी (जो एक बड़े लेखक हैं) के घर आने पर सशंकित हो जाता है, बगैर किसी ठोस कारण-प्रमाण के, परन्तु आधुनिक पुरुष इस शक को प्रकट करने में असमर्थ पाता है। पूरी कहानी सतीश के माध्यम से उसी के अन्तर्द्वन्द्व को लेकर लिखी गई है।

'इनकी कहानियों में नारी-जीवन के विविध पक्षों का सजीव चित्रण देवी और दानवी के दो छोरों के बीच टकराती 'पहेली' नहीं, हाड़-मांस की मानवी के रूप में हुआ है।'[4]

'क्षय' प्रतीकात्मक कहानी है, जिसमें परिस्थितियों से विवश कुंती की इच्छाओं एवं आदर्शों का क्षय होना दर्शाया गया है। 'सजा' में एक तरफ न्याय-व्यवस्था के दोषपूर्ण होने तथा दूसरी तरफ आर्थिक अभाव के कारण परिवार में

1. 'एक दुनिया : समानान्तर' : राजेन्द्र यादव, पृ० 248
2. 'आज की हिन्दी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया' : मधुरेश, पृ० 43
3. 'एक प्लेट सैलाब' : मन्नू भण्डारी, पृ० 137
4. 'मन्नू भण्डारी : श्रेष्ठ कहानियां'—सम्पादक : राजेन्द्र यादव।

आने वाले बिखराव, टूटन को बड़े मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यक्त किया गया है। निरपराध पिता, परिवार के सुखिया को गबन के सिलसिले में गिरफ्तार कर लिया जाता है और पूरा परिवार सजा भुगतता है। मामा के प्रयास से किसी प्रकार चार साल में उनके पक्ष में फैसला होता है, परन्तु इस बीच वो इतना भोग चुके होते हैं कि निरपराध साबित होने पर भी पापा खुश नहीं होते। 'नशा' कहानी पति-पत्नी के सम्बन्ध को प्राचीन आदर्श के रूप में सामने रखती है। पत्नी का एकतरफा त्याग स्वयं उसका चुना हुआ है। पति को यदि शराब का नशा है, तो पत्नी को पति-भक्ति का। प्राचीन भारतीय संस्कृति में ढली हुई पति को परमेश्वर मानने वाली मानन्दी पति की निष्ठुरता को वर्दाश्त करते हुए भी उसकी सेवा में लगी रहती है, उसको इसी में सुख मिलता है।

मन्नू भण्डारी ने अपनी कहानियों में कुछ ऐसे नारी-चरित्रों की भी सर्जना की है, जो समर्थ व समझदार होते हुए भी स्वतंत्र निर्णय लेने में अपने को असमर्थ पाती हैं। 'गीत का चुम्बन' की कनिका, 'कील और कसक' की रानी और 'घुटन' की प्रतिमा और मोना आदि नायिकायें सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में नारी-मन की विवशताओं का जीता-जागता चित्र उपस्थित करती हैं। यथार्थ के इसी परिप्रेक्ष्य को मन्नू जी 'दो कलाकार' और 'मैं हार गई' कहानियों में भी अपनाती हैं। 'दो कलाकार' कहानी में अरुणा और चित्रा दो मित्र हैं, जिनमें से अरुणा समाज-सेवा को तथा चित्रा चित्रकला को अपने जीवन का लक्ष्य बनाती है। अरुणा उसकी कला के सम्बन्ध में कहती है कि 'किस काम की ऐसी कला, जो आदमी को आदमी न रहने दे।'[1] तथा 'कला कला के लिए', सिद्धान्त पर चलने वाली अपनी मित्र चित्रा को प्यार से डांटती है 'तुझे दुनिया से कोई मतलब नहीं है, बस चौबीस घण्टे अपने रंग और तूलियों में डूबी रहती है। दुनिया में बड़ी-से-बड़ी घटना घट जाय, पर उसमें यदि तेरे लिए कोई आइडिया नहीं, तो तेरे लिए वह घटना कोई महत्व नहीं रखती।'[2]

'मानवीय सरोकार के बगैर कला की कोई सार्थकता नहीं, कला का प्रयोजन ही मानवीय अनुभूतियों, मानव हितों से जुड़ा हुआ है, इन्हीं विचारों को लेखिका ने अपनी इस कहानी की मूल विषय-वस्तु बनाया है। अजनबी होते अपने ही संसार की चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति मन्नू भण्डारी की कहानी की मूल चेतना है और मन्नू उस पकड़ को नितान्त आंतरिक बनाये रखती हैं, जिससे आदमी अपने ही माहौल में अपनी खोई पहचान के एहसास को झेलता है। इस सम्पूर्ण चित्रण का मूल आधार है यथार्थ जीवन की गहराई।'[3]

1-2 'दो कलाकार' कहानी के अंश।

3. 'समकालीन कहानी : समान्तर कहानी' : डॉ० विनय, पृ० 21

मन्नू भण्डारी की 'तीसरा हिस्सा' कहानी के कथानायक 'शोरावाबू' अपनी कमजोरियों और इंसानियत की तड़प से युक्त एक ऐसा चरित्र हैं, जो हमारे आस-पास के परिचित परिवेश के बीच अनेक द्वन्द्वमय परिस्थितियों में जीते और अनवरत किसी-न-किसी सोच में डूबे रहते हैं। आज आर्थिक स्थिति ठीक न होने की वजह से पत्नी भी उनकी उपेक्षा करती है। मन्नू जी ने इन्सानी रिश्तों में पैसे की भूमिका का अत्यन्त यथार्थपरक चित्रण किया है। यहां मार्क्स के 'आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपि, 1844' का उल्लेख प्रासंगिक होगा, जिसमें उन्होंने लिखा था कि 'पैसा बफा को बेवफाई में, प्यार को नफरत में, गुण को अवगुण में, दास को मालिक में, मूर्खता को बुद्धिमत्ता में तब्दील कर देता है।'[1]

सम्प्रेषणीयता की समस्या आज की कहानियों तक आते-आते लगभग समाप्त हो चुकी है। 'यह खतरा उनके सामने पैदा होता है, जिनमें शिल्प के प्रति आग्रह हो और यह अतिरिक्त आग्रह उनमें होता है, जिनमें अनुभव की कमी हो। सम्प्रेषणीयता का सीधा सम्बन्ध अनुभव और भाषा से है। आज का कथाकार अनुभव का धनी है; क्योंकि आवरणमुक्त यथार्थ उसकी आंखों के सामने है। इसीलिए शिल्प के प्रति उसका आग्रह भी अपने-आप समाप्त हो गया है।'[2]

मन्नू जी की कहानियां उपरोक्त उद्धरण का सशक्त प्रमाण हैं। किसी भी तरह से शिल्पीय आग्रह से युक्त उनकी कहानियां अपने आस-पास के जीवन-परिवेश को, जीवनानुभूतियों को सच्चाई के साथ रेखांकित करती हैं। जिस सहजता का आग्रह वे अकहानी मात्र के शिल्प के विषय में करती हैं, वह उनकी कहानियों में भी है। 'मन्नू की कहानियां अपने परिवेश के विविध अनुभवों, मानवीय पीड़ा, मानवीय दृष्टि, अपने खुलेपन और अकृत्रिम भाषा के कारण सार्थक और प्रभावशाली कहानियां बन पड़ी हैं।'[3]

कृष्णा सोबती

महिला कहानीकारों में कृष्णा सोबती का नाम पर्याप्त चर्चित व प्रतिष्ठित है। उनकी कहानियां पंजाब के वातावरण, जीवन-परिवेश का बड़ा सजीव चित्र उपस्थित करती हैं। कहानियों के विषय में उनका दृष्टिकोण कलात्मक यथार्थवादी है। वे जहां एक ओर मानसिक गुत्थियों के परिणामस्वरूप होने वाले

1. 'कार्ल मार्क्स : संकलित रचनायें'—खण्ड-3, पृ० 122
2. 'हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा' : डॉ० रामदरश मिश्र एवं डॉ० नरेन्द्र मोहन, पृ० 238
3. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग पहचान' : डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० 146

जीवनगत परिवर्तनों को कहानियों में रेखांकित करती हैं, वहीं दूसरी ओर उन गुत्थियों या मनोग्रंथियों के कारणों का भी रचना में बहुत सधे तरीके से संकेत करती हैं।

'अपने समकालीनों में कृष्णा सोबती का नितांत अपना रंग है। 'सिक्का बदल गया', 'बुलाबजल गंडेरिया', 'दादी अम्मा', 'कहीं नहीं : कोई नहीं', 'बादलों के घेरे'—उनकी पहले की कहानियों में जो गुण हैं, वे ही उनकी लम्बी कहानियों 'डार से बिछुड़ी' और 'तिनपहाड़' में परिलक्षित हैं—वही गला घोंटने वाली उदासी, वही अकेलापन, अनुभूतियों की वही तीव्रता और गहराई, शैली में छोटी-छोटी बजरी पर सरकती चादर जैसे बहते पानी की रवानी और भाषा में पंजाब के सुमधुर शब्दों का सफल प्रयोग। इधर की दो कहानियों 'मित्रो मरजानी' और 'यारों के यार' में उन्होंने ऐसी बेबाकी का, यथार्थवादिता का परिचय दिया है, जो सदी में केवल इस्मत के यहां दिखाई देते हैं, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये दोनों कहानियां इस्मत के मुकाबले में कहीं बेहतर लिखी हुई हैं।'[1]

'अज्ञेय' जो ने जिस उदासी, अकेलेपन और अनुभूतियों की तीव्रता की अनिवार्यता का संकेत किया है, वह कथ्य के रूप में अपने सन्दर्भ से अलग नहीं है। कृष्णा सोबती सूक्ष्म अनुभूतियों और उदासी को सम्प्रेषित करते समय उसके उस रूप में होने के कारणों का भी सम्प्रेषण करती हैं। उनका ध्यान कारणों पर उतना ही होता है, जितना कि सूक्ष्म अनुभूतियों या कथ्य के सम्प्रेषण पर।

लेखन के प्रति पूर्ण निष्ठा, वास्तविकता और भाव-प्रवणता के साथ-साथ कलात्मक सौष्ठव कृष्णा सोबती की विशेषता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में नारी की मनःस्थितियों एवं इच्छाओं का साहस एवं सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है। उन्होंने समकालीन परिस्थितियों में नारी-जीवन की विवशता, असहायता के यथार्थ को समझकर, उसे संवेदनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। इनके कहानी संग्रह हैं—'मित्रो मरजानी', 'यारों के यार', 'तिन पहाड़' आदि। कृष्णा सोबती ने हालांकि बहुत कम लिखा है, परन्तु जितना भी लिखा है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण व अपने ढंग का अलग ही है। उनकी तीन-चार कहानियां ('बादलों के घेरे', 'मित्रो मरजानी', 'यारों के यार' और 'ए, लड़की') ही इतनी चर्चित हुई हैं कि अनेक के सारे संग्रह नहीं हो सके। उन्होंने हर कहानी में चरित्र दिये हैं।

'कृष्णा सोबती की कहानियों के पात्रों को पुरुष-स्त्री, हिन्दू-मुसलमान या देसी-विदेशी जैसे वर्गों में नहीं बांटा जा सकता।...वे सिर्फ आदमी हैं और उनका संघर्ष आदमियत के सनातन धरातलों के साथ जुड़ा हुआ है। अवश्य ये पात्र बाहर से पुरुष या स्त्री भी दिखाई देते हैं और हिन्दू और मुसलमान भी, मगर

1. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 243-44

जैसे कथाकार का ध्यान उनके इस वर्णीकृत रूप के प्रति है ही नहीं। इस संदर्भ में उनकी विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखी गई कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। 'सिक्का बदल गया', 'डरो मत', 'मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा', 'मेरी मां कहां' और 'आजादी सम्मोजान की' इस पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं।[1]

कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया' कहानी विभाजन के दर्द को ही अभिव्यक्त करने वाली बहुचर्चित कहानी है। इस कहानी की मूल थीम इतनी-सी है कि भारत के विभाजन के कारण किस प्रकार पीढ़ियों से एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी हिन्दू-मुसलमानों के दिल में परस्पर नफरत, अविश्वास और हिंसा उमड़ पड़ी और इस सारे दृश्य को देखती हुई शाहनी अपनी सारी धन-दौलत त्याग, अपनी टीस और विवशता को मन में छिपाए, अपने पुरखों की धरती को छोड़कर अनजान स्थल के लिए चल पड़ती है।

'मित्रो मरजानी' उनकी सबसे प्रसिद्ध कहानी है। इस कहानी की नायिका 'मित्रो' हिन्दी साहित्य के पात्रों में अद्भुत तथा अपने-आप में एक मिसाल के रूप में सामने आती है। यह कहानी दो परिवारों के जीवन पर आधारित मित्रो के विवादास्पद नारी-चरित्र का बड़ा सुन्दर खाका खींचती है। डॉ० रमेश चन्द्र लवानिया ने इसकी विवादास्पदता के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—'यह न तो रवीन्द्र की ओस-जैसी नारी है, न शरत् या जैनेन्द्र की विद्रोहिणी गुत्थी। इसे आदर्श का कोई मोह नहीं है, न समाज का भय, न ईश्वर का। इसके लिए किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। यह मात्र मांस-सज्जा से बनी नारी है, जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, मां बनने की हौंस भी और एक अविरल बहती वासना-सरिता भी।'[2]

मित्रो की वासनापरकता के संकेत कहानी में जगह-जगह पर मिलते हैं—जैसे 'यह जनरैली नार छोटे-मोटे मर्द के बस की नहीं'[3] है; क्योंकि अपनी विशेषताओं के साथ ही वह ऐसी 'खिलाड़िन मां की बेटी है, जिसने बड़े-बड़े बाघ छका डाले।'[4] इस कहानी की 'लौकिकता की वानगी' और 'सजीवता' का उल्लेख करते हुए डॉ० इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं—'इस रचना की विशेषता को पंजाब की धरती की सोंधी गंध में ही आंका जा सकता है।'[5] इसकी भाषा के

1. 'कहानी : संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, पृ० 147
2. 'हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य' : डॉ० रमेशचन्द्र लवानिया, पृ० 244
3. 'मित्रो मरजानी' : कृष्णा सोबती, पृ० 80
4. वही : पृ० 103
5. 'वर्तमान साहित्य' कहानी-विशेषांक (अप्रैल 1991) सं० से० रा० यात्री, विभूतिनारायण राय, पृ० 508-509

सन्दर्भ में श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी जो प्रश्न उठा करता है, वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह प्रयोग परिवेश जनित यथार्थ को उभारने में पूर्ण सक्षम है। कृष्णा सोबती की कहानी 'मित्रो मरजानी' ठेठ यथार्थ की तीखी अभिव्यक्ति है और भारतीय समाज के औसत पारम्परिक रूढ़िवादी ढांचे को छिन्न-भिन्न करने वाली है।

कृष्णा सोबती की दूसरी सशक्त तथा सर्वाधिक विवादग्रस्त कहानी 'यारों के यार' कही जा सकती है, जो महानगरीय जीवन-परिवेश के बोझ में पिसते क्लर्कों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करती है। 'इस कहानी को पढ़ते हुए कई बार लगा, फर्श बुहारने, दीवार से रंग की परत उतारने या पृष्ठों के आपस में टकराने से जैसी 'घिस-घिस' की एक असहनीय आवाज होती है, कुछ वैसी ही बात मन को बार-बार छू जाती है।'[1] इस कहानी की भाषा आरोपों से मुक्त नहीं है, परन्तु उसका अपना वैशिष्ट्य है, जो 'कनकव्वी आंख', 'हेडक्लर्की की तीसरी आंख', 'नजर डिस्पेचर की मेज पर गुम हो गई', 'लपलपाती आंखों से लाल लंडी दिखाई', 'बटेरी आंखों से', 'आंखों पर अक्ल का मोमरोगन मल दिया', 'आंख में कमन्द फेंककर कहा' आदि कलात्मक प्रयोगों में दृष्टिगत होता है। डॉ० संतबख्श सिंह इस कहानी को कहानी-जगत् की बोल्ड रचना मानते हैं।[2] इस कहानी में सूरी द्वारा प्रयुक्त निम्न वाक्यांशों—'याद रख गुरु का कहना—आदमी के हर पिल्ले को पेट और पतलून सताते हैं।'[3] तथा 'आजकल जो उठता है रिश्वत के खमीर से, नम्बर दो पैसा, जो खानदानी अमीर बना फिरता है।'[4] अंत में 'यार लानत है तो हम सब पर है, जो क्लर्क की कुर्सी पर ही पेन्शन पर जायेंगे'[5]—में दफ्तरी वातावरण के दलदल में फंसे निस्सहाय क्लर्कों की विवशता, दयनीयता, मायूसी तथा मध्यवर्गीय परिस्थितियों व जरूरतों के दबाव में चारित्रिक गिरावट का नग्न रूप उजागर होता दिखाई देता है।

जीवन की जो स्वाभाविक अभिव्यक्ति—विशेषकर मध्यवर्गीय मनोवृत्ति की—क्लर्कों के माध्यम से प्रस्तुत की गई है, वह सिर्फ यथार्थ नहीं है, यथार्थ से ऊपर उठी हुई जीवन की संवेदनात्मक सच्चाई से जुड़ी हुई है।'[6] दफ्तरी जीवन पर लिखी गई हिन्दी की पहली और सफल कहानी है, जिसमें लेखिका का साहस अत्यन्त सराहनीय है। 'तिन पहाड़' कृष्णा सोबती की भावनप्रधान कहानी है। इसका वातावरण काव्यमय है। इसमें नायिका जया के प्रेम की व्यथा, द्वन्द्व और

---

1. 'हिन्दी कहानी—अपनी जबानी' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 129
2. 'नई कहानी : कथ्य और शिल्प' : डॉ० सन्तबख्श सिंह, पृ० 139
3-4-5. 'यारों के यार' : कृष्णा सोबती, पृ० 40-47-49
6. 'कहानी : संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, प० 149

आत्महत्या की कथा पिरोयी गयी है। 'तपन और श्रीकान्त के आकर्षणों में खिंचती जया संतुलन खो बैठती और आत्महत्या कर बैठती—कदाचित उसके पास यही सस्ता नुस्खा बच रहा था। इस कहानी में एक पनीला संसार रचने की कोशिश की गई है।'[1]

'बादलों के घेरे' कहानी भी उपर्युक्त कहानी के समान भावनप्रधान है, जिसमें क्षय रोग से पीड़ित मन्नो की मार्मिक कहानी कही गयी है। कथानायक 'मैं', मन्नो की इसी संक्रामक बीमारी के कारण उससे जुड़ने का साहस न कर सका, 'मन्नो को छूने का भय, उसके रोग का भय, जो अब तक मुझे रोकता था, बांधता था, अलग जा पड़ा। क्षीण की ठंडी हवा में फहराते-से धुंधराले बालों पर झुककर बांह से घेरते हुए कहा—मन्नो चौंकी नहीं। कंधे पर पड़ा हाथ धीरे से अलग कर दिया और सजल आंखों से देखती हुई बोली—'रवि, जिसे तुम झेल नहीं सकते, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ।'[2]

मन्नू के इस वरजने 'रवि, जिसे तुम झेल नहीं सकते, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ' का 'मैं' कोई जवाब नहीं दे पाता है—'आवाज में न उलाहना था, न व्यंग्य था, न कटुता। बस, जो कहने को था, वही कहा गया था। इस कहने का उत्तर 'मैं' उस दिन नहीं दे पाया। बार-बार मन्नो के पास जाने पर भी नहीं दे पाया और नहीं दे पाया विदा के उन क्षणों में, जब मन्नो को रोता छोड़ 'मैं' अन्तिम बार 'पाइन्स' की उतराई उतरता चला गया था।'[3]

बाद में स्वयं उसी बीमारी की गिरफ्त में पड़कर उसे मन्नू की पीड़ा का एहसास तीव्रता से होता है और वह सोचता है : 'क्या था उस झिझक में? क्या था उस झिझकने वाले मन में? रहा होगा, वही भय रहा होगा, जो अब मुझसे मेरे प्रिय जनों को दूर रखता है।'[4] लेखिका ने व्यक्ति-मन की विवशता को अत्यन्त सहज एवं सरल भाषा में बड़े कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया है।

इस कहानी के सन्दर्भ में इन पंक्तियों को रेखांकित किया जा सकता है : 'अत्यन्त सहज प्रस्तुति होते हुए भी कृष्णा सोबती की कहानियों में भाषा और शिल्प का एक परिश्रमसाध्य संतुलन दिखाई देता है। कहानियों में संवेदनशील क्षणों में की भावना को भावुकता बनने नहीं दिया गया है।...कहानियों को बिना पढ़े ही कुछ आरम्भिक संवादों या विवरणों के आधार पर कुछ लोग ऐसी धारणा बना भी सकते हैं कि उनकी कहानियां स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के उस परम्परागत

1. 'नई कहानी : कथ्य और शिल्प' : डॉ० सन्तबक्स सिंह, पृ० 140
2. 'एक दुनिया समानांतर' : सं० राजेन्द्र यादव, पृ० 136
3. वही
4. वही पृ० 131

त्रिकोणात्मक भावुकता की कहानियां हैं, मगर कहानी का जिस कुशलता से निर्वाह किया गया है, उसे देखकर यह धारणा बदलनी पड़ती है।'[1]

कृष्णा सोबती के कथा-चिंतन और कहानियों के आपसी सम्बन्धों पर विचार करते हुए कहानीकार आलोचक प्रो० बटरोही का यह निष्कर्ष महत्वपूर्ण है कि—'कृष्णा सोबती की आत्मस्वीकृतियां उनके लेखन की प्रौढ़ता, सहजता तथा सफल प्रेषणीयता की ओर संकेत करती हैं। उनकी रचनाओं तथा अपने और दूसरों के लेखन के बारे में लिखी गई बातों से यह अहसास सहज ही होता है कि न तो जीवन जीने के स्तर पर, कहीं भी उनमें दुराव-छिपाव और साहित्यिक छद्म नहीं है। दरअसल यही ईमानदारी उनके लेखन की शक्ति है, जिससे अपनी सोधी-सपाट अभिव्यंजना को स्वातंत्र्योत्तर कथा-लेखन में एक अलग स्वर के रूप में स्थापित कर सकी हैं।'[2]

शिवप्रसाद सिंह

शिवप्रसाद सिंह स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन के कहानीकारों में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में मानवीय मूल्यों को प्रमुखता दी है। मनुष्य और उसकी जिंदगी उनके निकट बहुमूल्य है : 'मनुष्य और उसकी जिंदगी के प्रति मुझे मोह है, जो अपने अस्तित्व को उभारने के लिए विविध क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है। अंधविश्वास, उपेक्षा, विवशता, प्रताड़ना, अतृप्ति, शोषण, राजनैतिक भ्रष्टाचार और क्षुद्र स्वार्थीनता के नीचे पिसता हुआ भी अपने सामाजिक और वैयक्तिक हक के लिए लड़ता है, हंसता है, रोता है, बार-बार गिरकर भी जो अपने लक्ष्य से मुंह नहीं मोड़ता, वह मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों और मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान है।'[3]

इसीलिए शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में इन्हीं उपेक्षितों को अपनी सहानुभूति का पात्र बनाया और उन्हें ग्राम्य-परिवेश में रखकर चित्रित करने का प्रयास किया गया है; क्योंकि उनकी दृष्टि में असली भारत गांव में ही है, जिसकी वजह से वे ग्रामकथा को अधिक महत्व देते हैं। शिवप्रसाद सिंह के उक्त विचार के सम्बन्ध में डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है—'इस मनुष्य को कहानीकार ने गांव में ही खोजा और पाया है और नगर में इसके अभाव को ही

---

1. 'कहानी : संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, पृ० 148
2. वही : पृ० 151
3. 'कर्मनाशा की हार' (भूमिका) : शिवप्रसाद सिंह

घोषित किया है। इसलिए उन्होंने ग्राम-कथा का शंख बजाकर नगर-कथा की तूती को मौन करना चाहा है।'[1]

ग्राम-कथाओं और आंचलिक कहानियों को अलग-अलग घोषित करते हुए अपनी कहानियों के आंचलिक कहे जाने पर उन्हें आपत्ति है।[2] डॉ० विवेकी राय के मत में भी 'शिवप्रसाद सिंह में आंचलिकतारहित ग्राम-जीवन की आधुनिकता है, जो ग्राम-कथा के समस्त दुर्बल उपचारों से रहित और नवपरिवर्तित ग्राम-जीवन की ताजगी लिए है।'[3]

अपनी प्रथम कहानी 'दादी मां के सम्बंध में उनका कहना है, 'दादी मां' ग्राम जीवन की पहली कहानी थी, जिसमें निजी अनुभव और भोगे हुए सत्य की व्यथा को व्यक्त किया गया था···।'[4] यह कहानी संस्मरणात्मक है, जो लेखकीय अनुभूति की प्रखरता और उसकी सही अभिव्यक्ति की मांग के कारण लम्ब होव सकी है। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार—नई कहानी की शुरुआत 'दादी मां' से हुई ('भाषा' जनवरी 1965)।

'मुरदा सराय', 'कर्मनाशा की हार', 'आर पार की माला', 'इन्हें भी इन्तजार है', 'अंधेरा हंसता है' और 'भेड़िए' इनके कहानी-संग्रह हैं। अब उनकी सभी कहानियां इन दो खण्डों में प्रकाशित हो चुकी हैं—'अंधकूप' और 'एक यात्रा सतह से नीचे।'

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह भारतीय ग्रामीण समाज के सद्यःव्यतीत अतीत के कहानीकार हैं। उनके पास इस व्यतीत के व्यापक अनुभव हैं और बेशुमार स्मृतियां, लेकिन उनकी कहानियों के बारे में, निचोड़ के तौर पर, अनेक प्रतिष्ठित आलोचकों की राय यही है कि चरित्र, शिल्प और संवेदन ही नहीं, बल्कि विन्यास या संरचना के स्तर पर भी इनमें विविधता नहीं है। परम्पराबोध की सीमा पर ही अटके कहानीकारों के बारे में बताते हुए सुप्रसिद्ध कहानीकार व कथालोचक राजेन्द्र यादव लिखते हैं—'जिनका परम्पराबोध पारम्परिक है, उन्होंने प्रायः कहानी के शिल्प और रूप में भी परिवर्तन नहीं किये हैं।'[5]

प्रसिद्ध आलोचक डॉ० परमानंद श्रीवास्तव शिवप्रसाद सिंह की सम्पूर्ण

---

1. 'आज की हिंदी कहानी : प्रगति और प्रयोग' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 33
2. 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 144
3. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानंद धूमकेतु
4. 'मुरदा सराय' (भूमिका) : शिवप्रसाद सिंह
5. 'एक दुनिया समानांतर' (भूमिका) : सं० राजेन्द्र यादव

कहानियों पर एक समाकलन प्रस्तुत करते हुए, उनके विराट अनुभव संसार की सराहना के बावजूद, यह संकेत करते हैं कि—'भाषा में और भाषा तथा प्रतीक-योजना आदि अलंकारिक चित्रों के विधान के प्रति सजगता और कहानी के समग्र कलात्मक संगठन के प्रति ऐसी लापरवाही खटकने वाली चीज है।'[1]

शिवप्रसाद सिंह के यहां कहानियों की सामग्री की विपुलता को देखते हुए, इतना मानना होगा कि उनके यहां ऐसी कहानियों की संख्या बहुत नहीं है, जो उन्हें लगातार चर्चा के केन्द्र में रख पातीं। उनकी कहानियां इस दिशा में विचार करने की गुंजाइश बनाती हैं कि कोई भी विधा समग्रता में ही परिणाम दे सकती है। बिना संयोजन की सामग्री वह कलात्मक रूप ले ही नहीं सकती, जो कि लेखक या कलाकार का लक्ष्य होता है। होना चाहिये।

'प्रत्येक कहानी एक पृथक विचार लिये होती है। उसके अपने पात्र होते हैं। जीवन का संघर्ष और घटनाकाल भी अलग-अलग होता है।'[2] यूरी नगीबिन के कहानी सम्बंधी एक लेख का यह अंश भी सामग्री के संयोजन की ओर ही इंगित करता है।

डॉ० शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में चरित्र और कथ्य बिल्कुल समरस हो गए हैं। अपनी रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए एक बार यशपाल ने लिखा था कि वह किसी चरित्र के आधार पर कहानियां न लिखकर 'आइडिया' के आधार पर कहानियां लिखते हैं। उनके दिमाग में पहले किसी कहानी का विचार आता है, फिर चरित्र और परिस्थितियां उसके अनुरूप वे स्वयं गढ़ लेते हैं। उनका विचार है कि चरित्रों के आधार पर लिखी गयी कहानियों में जीवन्त और प्रभावशाली पात्रों की सम्भावना कम ही रहती है। जबकि डॉ० शिवप्रसाद सिंह की कहानियां प्रायः ही किसी चरित्र को लेकर शुरू होती हैं और जैसे-जैसे अंत की तरफ अग्रसर होती हैं, चरित्रों के पीछे से कुछ विचार भी उभरने लगते हैं और फिर शीघ्र ही एक स्थिति ऐसी आती है, जब चरित्र ही एक सूक्ष्म कथ्य का रूप लेता हुआ प्रतीत होता है उनकी सबसे सफल कहानियां वे ही हैं, जहां कथ्य और चरित्र एकमेक हो गए हैं। इस दृष्टि से 'बुरदा सराय' की कहानियां 'धारा', 'ताड़ीघाट का पुल', 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'बरन्धती', 'मुरादं सराय' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। 'धारा' कहानी की रचना-प्रक्रिया के सम्बंध में अपने विचार प्रकट करते हुए वो स्वयं लिखते हैं—'कहानी चरित्रप्रधान है। तिउरा का चरित्र ही

---

1. 'आलोचना' (अक्तूबर-दिसम्बर 1985) : सं० डॉ० नामवर सिंह
2. 'निजूशोवे रिभिस्सो' ('मास्को' 1983) मूल लेखक—यूरी नगीबिन : अनु०—देवेन्द्र पांडेय, पृ० 57-68

मुख्य है, मगर यह चरित्र एक 'आइडिया' में बदल जाता है।'[1] अपनी अनेकानेक कहानियों के चरित्र-प्रधान होने की बात उन्होंने स्वीकार की है।

'मुर्दासराय' शिवप्रसाद सिंह का प्रौढ़तम कहानी संग्रह है। 'धारा' नामक कहानी में आंचलिकता का प्रभाव कहीं-कहीं देखने को मिलता है। यह कहानी 'तिउरा' को केन्द्र में रखकर लिखी गई है। कहानी का मुख्य पात्र 'मैं' प्रारम्भ से अंत तक 'तिउरा' के प्रति एक अजीब-सा आकर्षण महसूस करता है, जुड़ने, पाने के विचार से नहीं, बस, उसके बारे में जानने की उत्सुकता थी उसके मन में।

'मुर्दासराय' कहानी-संग्रह की बारह कहानियों में से अधिकांश ग्रामीण परिवेश की हैं। कुछेक कहानियों में नगर कथा भी है, परन्तु उसमें आधुनिक नगर-बोध नहीं है। इस संग्रह की शीर्षक वाली कहानी—'मुरदा सराय' में आधुनिकता के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष संत्रास और मृत्युबोध का सीधा साक्षात्कार है। कथानायक हरिमास्टर को अपने सुखी गृहस्थ जीवन में पत्नी की एकाएक मृत्यु से आघात लगा, इसकी प्रतिक्रिया उनके ही शब्दों में लेखक ने इस प्रकार की है : 'अंधेरी चादर से ज्यों-ज्यों उजास फूटने लगा, मुझे मेरा ही घर—वही चिर-परिचित आंगन, बुहारी, गिलास-लोटे, बाल्टी, इधर-उधर गिरा हुआ पानी— सभी-सब-कुछ जैसे अपरिचित, मायूस, डरे-डरे-से प्रतीत होने लगे।'[2] पत्नी की मृत्यु पुत्र-जन्म के साथ ही होती है। दाह संस्कार से घर लौटने पर पुत्र की भी मृत्यु की सूचना मिलती है और हरिमास्टर बिल्कुल टूट जाते हैं, पुत्र की देखभाल के लिए जिन्दा रहने का संकल्प भी व्यर्थ चला जाता है तथा वो मुरदा सराय में ही रहने लग जाते हैं, परन्तु वह भी थोड़े समय-बाद कोकिल सुलक्खी और सूरदास को अपने संतान के आगमन की तैयारी करते देख कथानायक अपने साथ लाई हुई गठरी छोड़कर, वहां से चले जाते हैं, 'मैं मौत से डरकर घर जा रहा हूं।' यहीं कहानी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार कथान्त होते-होते पूरी मुरदा सराय इस संसार की प्रतीक बन जाती है।'[3]

'नन्हों' शिवप्रसाद सिंह की बेहद सुसगठित, सफल व स्मरणीय कहानी है। इसमें प्रेम के जटिल रूप की बड़ी सफल अभिव्यंजना हुई है। विधवा नन्हों सहुआइन और देवर रामसुभग सिंह, दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अपार प्रेम है, परन्तु उनके अपने-अपने संकोच, सीमाएं व परिस्थितियां कुछ ऐसी उलझती

---

1. 'मुरदा सराय' (भूमिका) : शिवप्रसाद सिंह
2. 'मुरदा सराय' : शिवप्रसाद सिंह, पृ० 129
3. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चन्द्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानंद धूमकेतु, पृ० 45

हैं कि सब-कुछ अनकहा रह जाता है।

लेखक ने नन्हों के अपंग पति की मृत्यु के बाद रामसुमग की ओर आकृष्ट होने का जो चित्र उपस्थित किया है, वह अद्भुत कलापूर्ण है: 'कई महीने बीत गए, बरसात आई और गई। पानी सूख गया, बादलों का घिरना बंद हो गया। बौछारों से टूटी-जर्जर दीवारों के घाव भर गए, नई मिट्टी से सज संवरकर वे पहले-जैसी ही प्रसन्न मालूम होतीं। ऐसा लगता जैसे इन पर कभी बौछार की चोट पड़ी ही न हो, कभी इनके तन पर ठेस लगी ही न हो।'[1] बरसात का रूपक बांधकर लेखक ने नन्हों की मनःस्थिति का अत्यंत सुंदर ढंग से उद्घाटन किया है। नन्हों का चरित्र पूरी गरिमा के साथ कहानी में चित्रित है, जिसे लेकर थोड़ी असुविधा होती है, परन्तु यही उसकी चरित्र की मूलभूत विशेषता है। 'कर्मनाशा की हार' के 'भैरो पांडे' भी अपनी चारित्रिक गरिमा के कारण सबसे अलग खड़े दिखाई देते हैं।

बरअक्स अनुभूति और आक्रोश तथा सहानुभूति और करुणा, इनके बीच का द्वन्द्व और अंततः सहानुभूति तथा करुणा की विजय—यह शिवप्रसाद सिंह की अधिकांश कहानियों का केन्द्रीय तत्त्व है। 'कर्मनाशा की हार' में भी पहले भाई से प्रेम में उसकी फूलमत के प्रति अनुभूति और फिर इस सम्बंध के 'ज्यादा दूर' तक चले जाने से उत्पन्न सामाजिक स्थिति के कारण, हरिजन फूलमत के प्रति आक्रोश ही उमड़ता है भैरों पाण्डेय में।...लेकिन जब फूलमत के मां बनने पर छोटा भाई उसे त्यागकर कहीं पलायन कर जाता है और गांव के लोगों की राय बनती है कि इस बार कर्मनाशा की बाढ़ को रोकने को फूलमत के अबोध बच्चे को बलि चढ़ा दिया जाए, तो भैरों पाण्डेय के चित्त में पहले सहानुभूति और फिर करुणा का ज्वार फूट पड़ता है और लगता है कि इस करुणा की लहरें कर्मनाशा की लहरों से एकात्म हो गई हैं। भैरों पाण्डेय बच्चे को कर्मनाशा में फेंक देने का विधान सुझाते मुखिया से साफ कह देते हैं—'मेरे जीते जी बच्चे और उसकी मा को कोई हाथ नहीं लगा सकता।'

भाषा का जीवन्त प्रयोग और यथार्थ के प्रति महती निष्ठा जिस परिवर्तन-केन्द्रित वैचारिकता का उसमें रूप ग्रहण कर पाती है, वही उनकी कहानियों को निर्मित भी करता है। उनकी प्रारंभिक कहानियां प्रायः अतीतोन्मुख हैं। दादा, दादी, भाई के माध्यम से उन्होंने जिन ध्वंसोन्मुख मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है, वे एक ओर जहां रोमैण्टिक हैं, वहां पूर्वजों के मूल्यगत प्रतिमानों ने उन्हें मोहग्रस्त भी बना दिया है, पर यह यथार्थ उनका भोगा हुआ न होकर केवल देखा या सुना हुआ है, किन्तु जहां वे अतीतोन्मुख नहीं हैं, वहां उनकी कहानियां अधिक यथार्थ-

1. 'एक दुनिया समानान्तर' : सं० राजेन्द्र यादव, पृ० 353

परक रही हैं। उन्होंने प्रायः परिवार के भीतर पैठकर अन्तर्वैयक्तिक संबंधों का विश्लेषण किया है।'[1]

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का विश्लेषण डॉ० विवेकी राय पूरी समग्रता के साथ इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, 'कुल मिलाकर शिवप्रसाद सिंह ने कथा-साहित्य में, विशेषकर कहानियों में, प्रेमचंद की परम्परा की जैसी गतिशील और युगीन कड़ी प्रस्तुत की है, वह बहुत ही सशक्त है।···प्रारम्भिक कहानियों की भावाकुलता भी क्रमशः यथार्थ की चोट से झरती गई है। शिल्प की आधुनिक पकड़ भी उत्तरोत्तर चुस्त होती गई है।···अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं को बिम्बों, उपमानों, संकेतों, प्राकृतिक चित्रणों आदि के माध्यम से जब वे व्यक्त करते हैं, तो कहानी में एक अतिरिक्त स्वाद आ जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका शिल्प रूपवादी शिल्प है। उसका समग्र रूप बहुत सहज और अनौपचारिक होता है। कहीं-कहीं अपनी विशेष सघन और गहन अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए वे भाषा के एक विशेष चमत्कारिक माध्यम का प्रयोग करते हैं और वह माध्यम होता है भोजपुरी भाषा के शब्दों का सीधे प्रयोग। भाषा के साथ ही आंचलिक लोककथा, लोकगीत, लोक परम्परा, ठेठ मुहावरे और मिथकों आदि का भी प्रयोग वे यथा स्थान करते हैं, किन्तु इनका प्रयोग कहीं भी इस रूप में नहीं होता कि रचना में आंचलिकता का गुण झलकने लगे। ऐसे प्रयोगों के समय उनकी समूची दृष्टि शिल्प पर न होकर कथ्य पर होती है, जिसे वे अपनी जोरदार कलात्मक विरक्ति से अलग-थलग के लिए भी छूटने नहीं देते हैं। हिंदी कहानीकारों में इन्हीं सब कारणों से शिवप्रसाद सिंह का विशिष्ट स्थान है।'

गिरिराज किशोर

गिरिराज किशोर हिन्दी के उन कथाकारों में हैं, जिन्होंने न केवल अच्छी कहानियां और उपन्यास लिखे हैं, बल्कि कहानियों और उपन्यासों के बारे में भी रचनात्मक सम्पूर्णता की दृष्टि से विचार किया है। दूसरे अध्याय में मैंने उनके कहानी-सम्बन्धी विचारों का कथा-चिन्तन की दृष्टिसे रचना वस्तु, भाषा, संवेदना आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया है। उनकी कहानियों से उनके विचारों की तुलना करने पर जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि उनके कथा-

1. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' : सं०डॉ० नगेन्द्र, पृ० 690
2. 'मूल्यांकन' (मार्च 1985) : सं० डॉ० चंद्रेश्वर कर्ण, सच्चिदानंद धूमकेतु।

चिन्तन और कहानियों में वही रचनात्मक दृष्टि केन्द्रीय भाव के रूप में विद्यमान मिलती है, जो उनके उपन्यासों और नाटकों में भी पाई जाती है। उनकी कहानियां मनुष्यों के बीच नये बनते हुए सम्बन्धों को रेखांकित करने के साथ-ही साथ उन समस्याओं को भी रेखांकित करती हैं, जो आज के मनुष्य की आध्यात्मिक और व्यावहारिक समस्याओं की जनक हैं।

गिरिराज किशोर अपनी कहानियों में मनुष्य पर केन्द्रित उस दृष्टि को नहीं छोड़ते हैं, जिसका उल्लेख वे दूसरे कहानीकारों का उल्लेख करते समय एक प्रतिमान के रूप में करते हैं। उनकी प्रारम्भिक राजनैतिक कहानियों में, भयावहता के बावजूद, मनुष्य के प्रति चिंता निरन्तर बनी हुई है। राजनीति से संबंधित इनकी कहानियों के बारे में डॉ० सुरेश सिन्हा ने लिखा है—'इन कहानियों में विकृतियों पर तीखे व्यंग्य हैं, पैनी दृष्टि है और चयन-शक्ति की सूक्ष्मता है। वे बड़ी गहराई में ले जाती हैं और जिस यथार्थ से परिचित कराती हैं, वह हमारी वर्तमान व्यवस्था की दृष्टि से भयावह प्रतीत होता है। और तब सोचना ही बाध्यता होती है।'[1]

प्रसिद्ध कथाकार शैलेश मटियानी ने नए अनुभव-क्षेत्रों की पहचान और यथार्थनिष्ठ भाषा-शैली को स्पष्टतः रेखांकित करते हुए गिरिराज किशोर की उन विशेषताओं की पेशबंदी की है, जो केवल उद्धृत कहानियों में ही नहीं बल्कि उनकी अन्य अनेक कहानियों में भी मिलती है। उनके अनुसार 'गिरिराज की कहानियों में कथ्य के स्तर पर इतनी विविधता है कि लगता है, एक नितांत अलग अनुभव-क्षेत्र की गहरी पहचान उनमें है। उनकी अधिकांश कहानियों—उदाहरण के तौर पर 'नया चश्मा', 'तिलिस्म' और 'बी० आई० पी०' आदि में स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष के बदलते और भ्रष्ट होते हुए राजनैतिक वातावरण और 'स्वातंत्र्योत्तर नैतिक पतन' से ग्रस्त चरित्रों का अत्यंत प्रामाणिक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है। 'रिश्ता', 'हत्या' और 'चूहे' आदि अपनी बहुचर्चित कहानियों में गिरिराज ने जहां ऐसी बेबाक और यथार्थनिष्ठ भाषा-शैली का प्रयोग किया है, जो साधारणतया पाठक और आलोचक दोनों को बौखला भी सकती है—वहीं 'परछाइयां', 'अलग-अलग कद के दो आदमी' और 'संगत' में अत्यंत सूक्ष्म चरित्र-चित्रण की क्षमता का परिचय भी दिया है।'[2]

गिरिराज जी को शुरू से वर्तमान बहुत प्रेरित करता रहा है। कभी आक्रामक रूप में और कभी अत्यंत त्रासद रूप में, जिसके कारण उनकी कहानियों में एक अजीब प्रकार की आत्मिक तलाश पाई जाती है। डॉ० नरेन्द्र मोहन ने

1. 'हिंदी कहानी : उद्भव और विकास' : डॉ० सुरेश सिन्हा, पृ० 617
2. 'विकल्प' (कथा-साहित्य विशेषांक : 1968) सं० शैलेश मटियानी, पृ०44

लिखा है कि—'राजनीतिक सन्दर्भ समसामयिक यथार्थ का एक अपरिहार्य अंग है। राजनीतिक सन्दर्भ की भयावहता का बोध बहुत कम कहानियों में हुआ है।...गिरिराज किशोर की कहानियों में राजनीतिक बोध मानवीय स्थितियों के साक्षात्कार के अंग-रूप में अभिव्यक्ति हुआ है। 'पेपरवेट' एक ऐसी कहानी है, जिसमें राजनीतिक दुष्चक्र में अन्तरात्मा के घुटने और टूटने की अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति है। 'अलग-अलग कद के दो आदमी' कहानी में व्यवस्था और राजनीति के संदर्भों में व्यक्ति की विघटित और विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण है। गिरिराज किशोर की भाषा का मुहावरा अमूर्त्त या काव्यात्मक या तनावपूर्ण न होकर ठेठ, सीधा और सर्जनात्मक है।'[1]

भाषा, संवेदना और दृष्टि की एकात्मता को गिरिराज कहानी का गुण मानते हैं, जिसका उल्लेख मैं इसके पहले के अध्याय में कर चुकी हूं, इसलिए भाषा के प्रति अतिरिक्त सजगता और कथ्य को कभी-कभी उत्तेजक रूप में प्रस्तुत करने की आकांक्षा इस रूप में उनकी कहानियों में दिखाई पड़ती है कि उसके कारण जो कहानियों में अनकहा रह जाना चाहिए, वह भी सतह पर तैरने लगता है। 'पेपरवेट'-जैसी बहुत अच्छी कहानी में भी यह स्थिति दिखाई पड़ती है। वस्तुतः गिरिराज जो वर्तमान को अपनी इच्छा से बदलने की आकांक्षा को भावावेग के रूप में जब भी व्यक्त करते हैं, तो एक अजीब प्रकार की आत्मपरक सब्यात्मकता उनकी कहानियों में उभरती है। 'नाना बड़े गुलाम अली खां' कहानी इस स्थिति का प्रमाण मानी जा सकती है।

उनकी 'लाल-हरी रोशनी' और 'अंतहीन राहें' कहानियों पर सुप्रसिद्ध साहित्यकार नरेश मेहता जी की टिप्पणी है कि—'दम घुटने का दोनों में ही आभास होता है, पर डी० सी० करेंट की भांति तेजी से आप में से गुजरकर बीत जाने का आभास होता है।'[2]

गिरिराज किशोर की कहानियों के शिल्प नहीं, वरन् वस्तु के प्रशंसक श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कहते हैं—'लाल-हरी रोशनी' का पाठक अपने में एक अनुभव है। लगता है कि लेखक स्वयं रेल-दुर्घटना का शिकार हुआ है और अपनी अनुभूति को ही उसने कहानी का जामा पहनाया है। कहानी अपना अमिट प्रभाव मस्तिष्क पर छोड़ जाती है।'[3]

'पेपरवेट' कहानी-संकलन में सम्मिलित उनकी कहानियां भाषा के प्रति उनकी अतिरिक्त सजगता को रेखांकित करती हैं, परन्तु वह सजगता कहानियों

---

1. 'आधुनिकता और समकालीन रचना' : संदर्भ' : डॉ० नरेन्द्र मोहन : पृ० 97
2. 'माध्यम' (मई 1965) : सं० बालकृष्ण राव, पृ०, 121
3. 'हिन्दी कहानियां और फैशन' : उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ० 49

में मूर्त रूप नहीं ले पाती है। कोशिश अपने अनुभव को रूपायित करने की अवश्य मिलती है, बल्कि इसकी तुलना में 'रिश्ता तथा अन्य कहानियां' में संकलित अनेक कहानियां 'पेपरवेट' संकलन की कहानियों से इस अर्थ में अच्छी और विकसित हैं कि वे निम्न मध्यवर्गीय जीवन की असलियत को पूरी संवेदना के साथ व्यक्त करती हैं, जिसके कारण कहानियां उद्‌घाटन-प्रियता वाली कहानियां न लगकर, आज के समय में मनुष्य के संकट की कहानियां बन सकी हैं।

नयी पीढ़ी के प्रसिद्ध कथाकार व आलोचक 'बटरोही' ने ज्ञानरंजन और गिरिराज किशोर की कहानियों की भाषा की तुलना करते हुए लिखा है कि 'समकालीन लेखन में भाषा के दो स्तर दिखाई देते हैं। एक प्रकार की भाषा वह है, जो सीधी, बेलाग और अकुशल-सी लगती है। दूसरी अपेक्षाकृत कुशल और परिश्रमसाध्य है। गिरिराज किशोर और ज्ञानरंजन की कहानियों की भाषा का मुख्य अंतर यही है। ज्ञानरंजन का शिल्प अपेक्षाकृत 'कुशल' शिल्प है—कहीं-कहीं उसमें 'चालाकी' भी है। गिरिराज किशोर का शिल्प सहज है, इसीलिए वह कभी-कभी 'अकुशल' भी लगता है। समीक्षकों के बीच इस संदर्भ में पर्याप्त मत-भेद होगा कि 'कुशल' शिल्प को श्रेष्ठ माना जाए या सहज या 'अकुशल' शिल्प को (अकुशल से आशय परिश्रमहीन से नहीं है।) शायद यह सही है कि समकालीनों के बीच (विशेषकर ऐसे लेखक का, जो कि लेखन की प्रारंभिक प्रक्रिया में है) कुशल शिल्प ही श्रेष्ठ माना जाएगा, मगर साहित्य की संपूर्ण प्रक्रिया की दृष्टि से, यदि लेखक में कथ्य के चुनाव का विवेक है, तो सहज शिल्प ही अधिक टिकाऊ और महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। भविष्य की स्थितियों का निर्धारण करना तो बहुत कठिन है, मगर अनुभव ऐसा ही मानता चला आया है।'[1]

भाषा की सपाटता यथार्थ को भी सपाट बनाती है। सपाट यथार्थ एक विशेष प्रकार के पाठक वर्ग के लिए सुविधापूर्वक ग्राह्य अवश्य होता है, परन्तु रचनात्मक दृष्टि से वह प्रतीतिमूलक सम्भावना पैदा नहीं कर पाता है। भले ही सोद्देश्यता की दृष्टि से लोगों को क्रियाशील कर सके। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'द्वितीय महायुद्धोत्तर हिंदी-साहित्य का इतिहास' में लिखा है—'गिरिराज किशोर ने विशेष रूप से कुछ अच्छी राजनैतिक कहानियां लिखी हैं, जिनमें 'नया चश्मा' और 'पेपरवेट' मुख्य हैं। उनके पास प्रतिभा है, कहने के लिए बहुत कुछ है और शिल्प भी।'

डॉ० धनंजय वर्मा ने 'समकालीन कहानी : नये साक्षात्कार' में गिरिराज किशोर की कहानियों के विषय में लिखा है कि—'मैं तो सोच भी नहीं सकता कि आज भी कोई लेखक, हिंदी कहानी की इस विकास यात्रा से नितांत असम्बद्ध'

1. 'कहानी : संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, पृ० 182-183

मिर्फ संयोगों और 'ट्रिक्स' का सहारा लेकर कैसे कहानियां लिखना चाहता है। इनमें न तो स्थितियों का कोई तर्क है, न प्रसंगों की संगति। 'इन-कांसिस्टेंट' और 'फ्लैट' चरित्र, अनुभव के स्थान पर केवल परिचय, संवेदनहीन रिपोर्टिंग और स्थितियों के आंतरिक उलझावों में उतरने-बैठने के स्थान पर उनका सीधा सपाट इतिवृत्त। ये कहानियां गढ़ी और तराशी हुई अधिक लगती हैं, इसीलिए इनमें जीवंत रेशों की सहज संयुक्ति का अभाव है। लगता है लेखक को आज भी किस्सागोई से छुटकारा नहीं मिला है। थीम और वस्तुचयन और दृष्टि के लिहाज से इनकी संभावनाओं पर भरोसा जरूर होता है, लेकिन निर्वाह और प्रभाव को देखकर कोफ्त होती है कि इतनी समर्थ सम्भावनाओं वाले वस्तु-क्षेत्र का ट्रीटमेंट कितने सतही और सपाट ढंग से किया गया है, कि कहानियां सिर्फ खाका होकर रह गई हैं और व्यंग्य केवल मजाक। वह कोई गहरी संवेदना नहीं जगाता, उतनी भी नहीं, जितनी परसाई के व्यंग्य जगा पाते हैं।'''

धनंजय वर्मा ने वस्तुतः गिरिराज की कहानियों को समझने की कोई खास कोशिश ही नहीं की है। सभी कहानियां गिरिराज की वैसी नहीं हैं, जैसा वे मानते हैं, क्योंकि युक्तियां कहानियों में कथ्य को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए शिल्पीय प्रयोग के अन्तर्गत हर कहानीकार-द्वारा अपनाई जाती हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि कहानी अपनी सम्पूर्णता में पढ़े जाने के बाद किस सीमा तक अपने प्रति आकर्षण बनाए रख सकती है और दूसरे के प्रति किस सीमा तक हमारी भावनाओं को आंदोलित कर सकती है।

गिरिराज किशोर की कहानियों में वस्तु और शिल्प, दोनों स्तरों पर एक व्यापक विविधता है। 'नीम के फूल' से लेकर 'गाना बड़े गुलाम अली खां' तक की उनकी कथायात्रा उल्लेखनीय महत्त्व की है। हिंदी में ऐसे कहानीकार बहुत कम हैं, जिन्होंने महत्त्वपूर्ण कहानियां ही नहीं लिखी हों, बल्कि कहानी की विधा पर गहरा चिंतन भी किया हो और अपने इस चिंतन की रोशनी में समकालीन कहानीकारों का गहरा विवेचन भी। उनका कथाचिंतन सर्जनात्मक है, जिससे अनुभव होता है कि उन्होंने कहानीकार की हैसियत के अपने स्वयं के अनुभवों को बार-बार कसौटी पर रखा है।

गिरिराज किशोर अपने कथा-चिंतन में वस्तु, रूप और भाषा की जिस अन्विति पर निरंतर जोर देते हैं, उस अन्विति की कोशिश उनकी कहानियों में मिलती है। 'शहर-दर-शहर', 'चुन्नी लिफाफे', 'तलैया', 'पेपरवेट', 'खरबूजे' आदि कहानियां कथ्य की दृष्टि से इस अन्विति को प्रमाणित करती हैं।

ज्ञानरंजन

साठोत्तरी पीढ़ी के कहानीकारों में ज्ञानरंजन का नाम अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, उनकी अपनी एक ठोस एवं अलग पहचान है तथा जिसके बगैर इस पीढ़ी की चर्चा अधूरी ही है।

'सन् साठ के बाद कहानीकार', मुहावरे को लगभग पारिभाषिकता की-सी स्थिति देने के लिए जिन गिने-चुने प्रतिभा सम्पन्न नयी पीढ़ी के कहानीकारों के नाम बार लिए जाते है, उसमें यदि ज्ञानरंजन को ज्यादा-से-ज्यादा प्रयुक्त किया जाता है; तो वह सहसा हों या यों ही नहीं है।'[1] वर्तमान जीवन की विसंगतियों, पारिवारिक संबंधों में आये बदलाव, बेरोजगारी, प्रेम के प्रति सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण, आधुनिकता की दौड़ आदि की नितान्त यथार्थ, सीधी व सहज अभिव्यक्ति के कारण उनकी कहानियां अपने-आप में तटस्थता का आभास देती मालूम होती हैं, लेकिन ध्यान से पढ़े जाने पर उनमें विचार के स्तर पर पाठक को झिंझोड़कर रख देने की क्षमता है। 'ज्ञानरंजन की कहानियों के संदर्भ में यह बात बहुत भरोसे के साथ कही जा सकती है कि एक खास उपलब्धि के बाद भी उनकी कहानियों में वैचारिकता खत्म नहीं होती।'[2]

'फेंस के इधर और उधर' (1968) तथा 'यात्रा' (1971) नामक इन दो कहानी संग्रहों में ज्ञान की विशिष्ट कहानियां संग्रहीत हैं।

ज्ञानरंजन की कहानियों में आया हुआ यथार्थ संवेदनजड़ हो चुकने की हद तक तटस्थ है। परिवार में पहले संबंधों के प्रति जो एक मधुरता, ममत्व व आदर्श का भाव रहता था, वह सब जैसे बिल्कुल चुक गया है। 'संबंध' कहानी के मुख्य पात्र 'मैं के लिए घी के खाली डिब्बे, कुर्सी और छोटे भाई के शरीर में कोई फर्क नहीं है।'[3]

गोविंद मिश्र ने भी हिन्दी कहानियों में आई इस जड़ता को लक्ष्य करते हुए ही लिखा है : 'यथार्थ को एकदम सीधा देखने के आग्रह में जहां एक तरफ आदर्शीकरण, रूमानी संस्कारों, प्रतीक और भाषाई शृंगार-जैसी चीजों से मुक्ति पाई गई, वहीं अपने एक ही तरह के अनुभवों पर वितृष्णा से गुजरते हुए कहानी जीने का भी सिलसिला शुरू हुआ। नयी कहानी के रूमानीपन को झटककर फेंक देने में जो लेखकीय दृष्टि उभरकर आई, वह पत्थर होने की हद तक निर्मम थी।'[4]

---

1. 'विकल्प' (कथा-साहित्य विशेषांक : 1968) सं० शैलेश मटियानी, पृ० 26
2. 'साक्षात्कार' (जुलाई-सितम्बर 1990) सं० मनोहर वर्मा, पृ० 109
3. 'ज्ञानरंजन : प्रतिनिधि कहानियां' : ज्ञानरंजन, पृ० 76
4. 'स्थितियां रेखांकित' : सं० गोविन्द मिश्र, पृ० 22

ज्ञानरंजन की 'पिता' बदलते हुए संसार की ही नहीं, बल्कि संबंधों की नई शुरुआत की कहानी है। 'पिता' कहानी पर उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की प्रतिक्रिया है कि—'शेष होते हुए' और 'संबंध' में रिश्तों का जो तनाव और टूटना है, 'पिता' में टूटने को होकर भी जुड़ा हुआ है—बेटे के मन में अपने पिता के तमाम किरदार को नकारने के बावजूद उसके प्रबल हठ के प्रति एक अव्यक्त आदर है। वह पराएपन के अहसास के बावजूद पिता से जुड़ा रहना चाहता है। बेटा कहीं वह हठ और जिद अपने अन्दर भी महसूस करता है। अपने आपको पिता से 'एलिनिपेट' करने के चेतन प्रयास के बावजूद वह अपने उस जिद्दी, हठी, पुराने मूल्यों वाले विश्वास रखने वाले पिता से जुड़ा हुआ है।···'पिता का चरित्र स्थितियों की तमाम हास्यास्पदता के बावजूद न हास्यास्पद हुआ है, न उपेक्षा-जनक। वह सटीक और सशक्त उतरा है।'[1]

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र संबंध या कि संबंध के अनुभव की संश्लिष्टता के सवाल को सीमित दायरे की वस्तु नहीं मानते। वो लिखते हैं—'ज्ञानरंजन में अनुभव की संश्लिष्टता है। यह संश्लिष्टता रचना को गहराई देती है। आज के परिवेश के बीच औसत आदमी की जिन्दगी और जीने के पैटर्न को जिस तत्परता से उन्होंने व्यक्त किया है। उसके पीछे दृष्टि की गहराई स्पष्ट है।···रचना से उनकी तटस्थता निश्चित सीमा तक ही है, इसीलिए 'दिवास्वप्नी' और 'छलांग' बहुत अच्छी कहानियां नहीं बन पाई हैं। 'फेंस के इधर और उधर' तथा 'पिता' सर्जनात्मक तटस्थता के कारण ही सार्थक कहानियां हैं।'[2]

स्पष्ट है कि डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र सीमित या निर्धारित तटस्थता की जगह कहानी में 'सर्जनात्मक तटस्थता' की बात उठाना चाहते हैं। लेखक की स्थिति वस्तु या विषय को उसकी समग्रता में देख रहे होने की होनी चाहिए। 'पिता' इसी अर्थ में ज्यादा सर्जनात्मक है कि उसमें पिता और पुत्र, दोनों छोर कहानीकार के सामने पूरी तरह स्पष्ट हैं।

'सम्बन्ध' कहानी में स्थापित मूल्यों पर बड़ी निर्ममता से चोट की गई है, 'कई बार मुझे ईश्वर को भद्दी गालियां देने का ताव भी आया, लेकिन यह सोचकर रह गया कि संसार के अधिकांश लोगों का अब ईश्वर से कोई प्रयोजन नहीं है।'[3]··· प्रसन्नता की सारी अभिव्यक्तियां मूर्खता और अश्लीलता का चिह्न बनती जा रही हैं।'[4] आज 'मैं' की प्रतीक्षा में खड़ी जिस मां की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती, कभी (बचपन में) पिता द्वारा पीटे जाने पर उसके ही आने की प्रतीक्षा

1. 'कहानीकार ज्ञानरंजन' : सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, पृ० 138
2. 'आज की हिन्दी कहानी' : डॉ० सनंजय, पृ० 101
3-4. 'ज्ञानरंजन : प्रतिनिधि कहानियां' : पृ० 77-73

की जाती थी।'[1]

इसका कारण बताते हुए आगे 'मैं' का यह मानना है कि मानवीय सम्बन्धों के सिलसिले में समय की अहम भूमिका रहती है। 'सम्बन्ध' कहानी के माध्यम से ज्ञानरंजन की रचनादृष्टि को समझने में मदद मिलती है, इसकी ओर अनेक आलोचकों ने ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है।

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र कहते हैं, ज्ञानरंजन की सभी कहानियों का वह सारतत्व 'सम्बन्ध' कहानी के अनुसार यही है कि 'अब कल और आज के तरीके से बिल्कुल सोचा नहीं जा सकता। तालमेल खत्म हो गया है जैसे, या एक बिल्कुल बदला हुआ तालमेल बन गया है। (फेंस के इधर और उधर)[2] 'सम्बन्ध' कहानी के ही सम्बन्ध में डॉ० राजेन्द्र शर्मा लिखते हैं : 'स्वातंत्र्योत्तर काल में हुए फूहड़ औद्योगीकरण, बढ़ती हुई बेकारी और विशिष्ट वर्ग हितों में लगी हुई पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप संयुक्त परिवारों का बेहूदा बिखराव और आपसी सम्बन्धों की टूटन-जिसे नौकरीपेशा निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों ने सबसे अधिक भोगा है—साठोत्तरी कहानी का 'लाउड' कथ्य है। ज्ञानरंजन उन कहानीकारों में से हैं, जिन्होंने इस कथ्य को अधिकतम लाउड बनाया है। और जिनके दम पर, कहानी के नाम पर उछाले गए नारों के बीच साठोत्तरी कहानी को रेखांकित किया जा सकता है।'[3]

पारिवारिकता की नई तस्वीर जो ज्ञान में मिलती है, उसे परिवार के भीतर तनावों और अलगावों के रूप में देखना चाहिए। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव उनकी कहानियों में निहित पारिवारिकता की तरफ इशारा करते हुए लिखते हैं—'ज्ञानरंजन की कई कहानियां घर, परिवार, पिता, भाई-बहन अर्थात् पारिवारिक सम्बन्धों के बीच घटित होती है और इनके भी प्रायः सम्बन्धों का, परिस्थितियों का, इतिहास का बीतना ही लक्ष्य किया जाता है। 'कलहं', 'फेंस के इधर और उधर', 'शेष होते हुए', 'सम्बन्ध', 'पिता', 'यात्रा', 'मनहूस बंगला' और 'क्षणजीवी' इसी अनुभव जाति की कहानियां हैं।'[4]

डॉ० परमानन्द की तरह डॉ० विजयमोहन सिंह भी सम्बन्धों की नई पहचान और खोज पर जोर देते हुए लिखते हैं कि 'ज्ञानरंजन सही माने में और पूरी तरह 'सम्बन्धों' के कहानीकार हैं—अपनी पीढ़ी के किसी भी कहानीकार से अधिक 'सम्बन्धों' को समझने की इस बेचैनी को 'शेष होते हुए' से लेकर 'सम्बन्ध' तक

---

1. 'ज्ञानरंजन : प्रतिनिधि कहानियां : पृ० 75-76
2. 'कहानीकार ज्ञानरंजन' : सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, पृ० 68
3. वही, पृ० 146
4. 'कहानीकार ज्ञानरंजन' : सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, पृ० 59

एक खास रूप में देखा जा सकता है।'[1]

ज्ञानरंजन की अनेक कहानियों में व्यंग्य अत्यन्त तीखे रूप में प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी विषय की विद्रूपताओं, जटिलताओं और पेचीदगियों को बगैर व्यंग्य के स्पष्ट भी नहीं किया जा सकता 'जहां व्यंग्य कहानी की स्थिति और लेखकीय दृष्टि की सीधी लाइन में बैठा वहां अच्छी कहानियां आईं; 'सम्बन्ध', 'घंटा', 'कुत्तेमरीनी'।...ज्ञानरंजन की 'सम्बन्ध' में व्यंग्य एक तगड़े हथौड़े की तरह चोट करता है।'[2] उनकी 'सीमाएं' और 'आत्मकथा' कहानियों में भी व्यंग्य का स्वर ही प्रमुख है। ज्ञानरंजन स्थितियों में निहित व्यंग्य को भाषा में इस तरह उतारते हैं कि उसे पूरी सीधता में अनुभव किया जा सके।

डॉ० धनंजय ने 'आज की हिन्दी कहानी' में लिखा है 'ज्ञानरंजन की कहानियां हर बार एक नया अर्थ देती हैं, एक नए सन्दर्भ में जीवनानुभवों की व्याख्या करती हैं। आज की कहानी की पहचान 'फेंस के इधर और उधर' संग्रह की कहानियों से होती है। इसकी भाषा बदले अर्थ-सन्दर्भ को रेखांकित करने वाली और यथार्थ के निकट है। आंतरिक और बाह्य, दोनों तरह के यथार्थ भाषा के स्तर पर प्रस्तुत हुए हैं। एक स्तर पर 'दिवास्वप्नों', 'आत्महत्या', 'पिता', 'सम्बन्ध' आदि कहानियों का यथार्थ है, दूसरे स्तर पर 'सीमाएं', 'लेव होते हुए', 'फेंस के इधर और उधर', 'दिलचस्पी' का दोनों की प्रक्रिया कथ्य और शिल्प को महत्त्वपूर्ण बनाने की बात, जिसे आज की पीढ़ी के कहानीकार अक्सर दोहराते रहे हैं, ज्ञानरंजन की कहानियों को देखकर सच लगती है।

डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ज्ञानरंजन की कहानियों के ढांचे को मनस्तात्विक (साइकिक) या मनोवैज्ञानिक मानते हैं।'[3]

शैलेश मटियानी ने 'विकल्प' के कहानी विशेषांक में ज्ञानरंजन की 'रचना प्रक्रिया' कहानी के प्रारम्भ में उनकी विशेषताओं के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं, उनके अनुसार—'कहानी लेखन में अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों, सभी से अलग एक खास और निहायत मंजा हुआ अन्दाज, कथ्य और यथार्थ को ज्यादा-से-ज्यादा परतों में देख और अनुभव कर लेने के बाद की गहरी कलात्मक अक्खड़ता और बामुहावरा होते हुए भी कहानी की आधुनिक भाषा का गहरा अहसास कराने वाली वाक्य-रचना—कहानीकार के नाते ज्ञान का नाम नयी पीढ़ी की प्रतिभासम्पन्नता के प्रतिमान की प्रतीति कराता है।'[4]

---

1. 'आज की कहानी' : डॉ० विजय मोहन सिंह, पृ० 126
2. 'स्थितियां रेखांकित' : सं० गोविन्द मिश्र, पृ० 24
3. 'कहानीकार ज्ञानरंजन' : सं० डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, पृ 49
4. 'विकल्प' 'कथा-साहित्य-विशेषांक' : (1968) सं० शैलेश मटियानी, पृ० 26

ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों के बारे में कुछ कहा नहीं है। कोई वक्तव्य भी ऐसा नहीं मिलता है कि उनकी कहानियों से तुलना की जाय। कहानियों के आधार पर उनकी रचनादृष्टि का जो आभास मिलता है वह यथार्थ के प्रति उनके भिन्न रुख की सूचना देता है। परमानन्द श्रीवास्तव का कथन है कि 'कहानी की बनावट में रचनात्मक विस्फोट उपस्थित करने की सार्थक चेष्टा नयी कहानी और उसके बाद के जिन दो-चार कहानी लेखकों ने की है, उनमें ज्ञानरंजन अन्यतम है।'[1]

गोविन्द मिश्र

गोविंद मिश्र का लेखन कभी किसी 'वाद' के घेरे में नहीं बंधा। उनके लिए लेखन जिन्दगी का पर्याय है।

डॉ० पुष्पपाल सिंह के शब्दों में, 'समकालीन कहानी-लेखन में कुछ नाम ऐसे हैं, जिनकी कहानियों से गुजरना हमेशा एक सुखद प्रतीति और कहानी के प्रति एक आश्वस्ति देता है। गोविन्द मिश्र भी समकालीन कहानी में ऐसा ही आश्वस्तिबोधक नाम है।'[2]

गोविंद मिश्र की कहानियों में विद्यमान नाटकीय तत्वों की ओर लक्ष्य करते हुए विमल लाठ का मानना है कि—'गोविन्द जी का लेखन मूलभूत रूप में आस्था का लेखन है। जीवन को भरपूर जीने की आस्था उनके चरित्रों में घुली हुई है। उनके लेखन में जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव एवं विडम्बनाएं कहानी की स्थितियों के अनुरूप स्वाभाविक रूप में उभरती हैं और नाटकीयता पैदा करती हैं, किन्तु उनका नायक या नायिका जीवन में पलायनवादी रुख नहीं अपनाता, अन्त तक संघर्ष करता है। मनुष्य का मनुष्य से प्रेम पागलपन, यह उनके परवर्ती लेखन का मूल स्वर है जहां मूल्यहीनता और पारस्परिक अविश्वास समाज में हावी हो रहे हैं, गोविंद जी की कहानियां अपने स्वाभाविक नाटकीय तत्वों के साथ आस्था का निर्माण करने वाली हैं।'[3]

गोविन्द मिश्र अपने लेखन को न केवल मनुष्य, उसके संसार व उसके सुख-दुःख बल्कि प्रकृति तक से उसके तादात्म्य की आकांक्षा व्यक्त करते हैं: 'मानव-व्यथा तो मेरी जमीन है। मनुष्य हूं, मनुष्य की बात ही समझ सकता हूं···वह तो मेरी जमीन है, उस पर तो मुझे खड़ा रहना ही है। लेकिन जैसे मोटे तौर पर

---

1. 'कहानीकार ज्ञान रंजन': सं० डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, पृ० 54
2. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : सं० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 260
3. वही

साहित्यकार से यह अपेक्षा होती है कि अपनी या अपने गांव की बात करते-करते उसे ऊपर ले जाकर सबकी और सब गांवों की बात से जोड़ दें···उसी तरह मैं स्वयं से यह अपेक्षा करता हूं कि मानव-जगत् या मानव व्यथा की बात हमेशा करते हुए भी ऊपर उठने की कोशिश कर, प्रकृति की आलौकिकता, सर्जनात्मकता, चिरंतनता, विराट सौंदर्य की ओर जहां मेरी सर्जनात्मकता प्रकृति की सर्जनात्मकता से एकलय हो जावे, मनुष्य और प्रकृति की दुनिया के भेद खत्म हो जाएं।'[1]

उन्होंने अपने लेखन की शुरुआत सन् 55 में, जब वो इण्टरमीडिएट में थे, 'पूर्णमासी का भोग', 'पर मेरे आराध्य न आए' आदि कहानियों से मानी है, जो कि अब अनुपलब्ध है। उनके लेखन की वास्तविक व विधिवत शुरुआत होती है, सन् 63 से। सन् 63 से 65 के बीच लिखी कहानियों का एक संग्रह 'रगड़ खाती आत्महत्याएं', सौमेक से प्रकाशित भी हुआ। उसके बाद उनके कहानी-लेखन का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ, तो एक-के-बाद-एक संग्रह प्रकाश में आते गए, जिनमें हम उनके रचनात्मक स्तर पर क्रमशः आए निखार-संजाव को भी लक्ष्य कर सकते हैं, 'शुरुआत', 'कचकौंध', 'पगला बाबा', 'एक बूंद उलझी', 'भायकल लोबी', 'अर्थ-ओझल', 'सन्ध्यानाद' से लेकर 'वरणांजलि' तक की गोविन्द की कथायात्रा उनमें, विचार की अमह, संवेदन की सघनता और गहराई के उत्तरोत्तर बढ़ते गए होने का आभास ही कराती है।'[2] 'रगड़ खाती आत्महत्याएं' के अतिरिक्त उनके अन्य कहानी-संग्रह हैं : 'नए-पुराने मां-बाप', 'अंतःपुर', 'सासू', 'खुद के खिलाफ', 'खाक इतिहास', 'अपाहिज', 'मुझे घर ले चलो', 'पगला बाबा' और 'आसमान कितना नीला'।

गोविन्द मिश्र अपनी प्रारम्भिक कहानियों को एक प्रयोग की अक्ल में ग्रहण करते हैं '63 से 65 तक की कहानियों में 'पैशन' की हद तक खिंची भावुकता और शिल्प के स्तर पर नए-नए प्रयोग करने की ललक साफ दिखाई देती है। कुल मिलाकर इन कहानियों में अपनी जमीन ढूंढने का भटकाव ही दिखाई देता है। कथ्य के स्तर पर नए-नए कोनों में झांकने की कोशिश—जो अब भी बरकरार है···'[3]

उन्होंने अपनी भूमिका में अपनी कहानी लेखन-काल को तीन दौरों में बांटते हुए प्रथम दौर की कहानियों, जो 'नए-पुराने मां-बाप' संग्रह में संकलित हैं, के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि के अपेक्षाकृत यथार्थपरक (प्रारम्भिक कहानियों की

1. 'दस्तावेज' (जुलाई 1988) : सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ० 11
2. 'गोविन्द मिश्र : प्रतिनिधि कहानियां' : सं० संतेश मटियानी, पृ० 13
3. 'मेरी प्रिय कहानियां' (भूमिका) गोविन्द मिश्र

तुलना में) होने की बात स्पष्ट रूप में स्वीकार की है 'कहानियों में कल्पना की जगह अब जो हुई स्थितियों ने ले ली है।···भावुकता की जगह व्यंग्यात्मक दृष्टि है। नए-नए परिवेशों को उठाने की कोशिश पूर्ववत् है, जिसने इस दौर की कहानियों को विविधता दी है।'[1]

'बंद-पुर' में संग्रहित दूसरे दौर की कहानियों में उनका 'परिवेश के किसी टुकड़े या पहलू उसके पीछे की मानसिकता को सारे उलझावों के साथ पकड़ने की कोशिश ही मुख्य रही है।'[2] तीसरे दौर की कहानियां 'धंसू' में हैं, जिसमें लेखक विशुद्ध मानवीय स्थितियों से थोड़ा हटकर केवल वर्तमान परिवेश से जूझता है।'[3]

'नए-पुराने मां-बाप' में संकलित अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी 'शुरु आत' गोविन्द मिश्र के कहानी-लेखन की भी अच्छी शुरुआत कही जा सकती है। 'जिहाद', दोस्त, 'ढलान' 'अध्यवस्थित' 'दौड़', 'चुगलखोर, 'अजीबीकरण' आदि इस संग्रह की अन्य कहानियां हैं। 'गोविन्द मिश्र की आत्मस्वीकृति यह है कि— 'अफसरों और लेखन के बीच लटका हुआ हूं।···यह मिस्संकीच कहा जा सकता है कि उनके अनुभवों के निर्वापन में, कायद उस 'अफसरी' का योगदान भी है, जिससे गोविन्द असुविधाएं अनुभव करते हैं।' 'शुरुआत' अपने कथ्य की अत्यंतिक मानवीयता के कारण स्मरण की जाएगी, मगर उसका परिवेश निश्चित रूप से आजीविका (जीवन प्रक्रिया) या कि अनुभव के निर्वापन से आया है।'[4]

गोविन्द मिश्र की 'शुरुआत', 'वरणांजलि', 'कचकौंध' आदि कहानियों के जबर्दस्त प्रशंसक शैलेश मटियानी के विचार से 'लेखक में घटना, वस्तु अथवा चरित्र को जो भाषा और शिल्प से पहले संवेदन के धरातल पर गहरे पकड़ने की कोशिश रचना की सबसे जरूरी शर्त है, उसकी एक बहुत ही संक्षिप्त, लेकिन इतनी ही साफ और प्रमाणिक झलक (कम-से-कम मुझे) पहली बार इस कहानी में ही मिली थी और इस वाक्य ने स्मृति को जाने कितने दिनों तक बांधे रखा— 'मैंने उनको एक जबह इकट्ठा किया और उस गट्ठर में एक तरह से उसे भी बांधा।'[5]

इसी वाक्य के संदर्भ में वो आगे कहते हैं, 'बच्चों को इकट्ठा करने और इस तरह उनके बीच खुद के बच्चे को भी शामिल करने में उनका गट्ठर बांध रहे होने की-सी अनुभूति···कुछ इतनी कलात्मक दक्षता के साथ अन्तर्ग्रथित जान

---

1. 2-3. मेरी प्रिय कहानियां (भूमिका) : गोविन्द मिश्र।
4. 'विकल्प' (कथा साहित्य विशेषांक : नवम्बर 1968) सं० शैलेश मटियानी : पृ० 78
5. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां (भूमिका) सं० शैलेश मटियानी

पड़ती है, जिसे मुहावरे में नब्ज पर हाथ रखना कहा जाता है।'[1]

'अंत:पुर' में संकलित कहानियों की भीड़ में 'कचकौंध' कहानी सबसे अलग-थलग दिखाई पड़ती है। प्रख्यात कहानीकार निर्मल वर्मा की राय में 'मैं समझता हूं कि इस संग्रह में ऐसी असंतोषजनक कहानियां वे ही कहानियां हैं, जहां महानगर में इंडीविजुअल कांशसनेस वाले पात्र हैं, वे कहानियां मुझे ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाई, लेकिन गोविंद मिश्र ने जहां छोटे गांव, कस्बे के टिपिकल करेक्टर्स को लिया है और उनके जरिए हमारी राजनीति और सामाजिक विडम्बनाओं को उद्‌घाटित करने की कोशिश की है, वहां वह बहुत ज्यादा सफल रहे हैं।'[2]

'कचकौंध' कहानी के मास्टर साहब ऐसे ही 'टिपिकल करेक्टर' हैं। उन्हें परिवार में मिलकर रहने की बड़ी हौंस है और जिसे गाहे-बगाहे वह व्यक्त भी करते रहते हैं, 'बड़ी लनक है, ससुर और सब हुआ, एक साथ रहने को न मिला'[3] इस एक वाक्य में उनका जीवन भर का संचित दर्द सिमट आया है। ग्रामीण संस्कार उन पर इस कदर हावी है कि शहर में हर चीज मटियामेट के रास्ते बहती हुई दिखाई देती है।[4] नौकरी से सम्बन्धित भाग-दौड़ के सिलसिले में उनके माध्यम से वर्तमान समाज में व्याप्त राजनीतिक दांव-पेंच भी उभरकर सामने आते हैं। सुधीर चन्द्र के शब्दों में 'कचकौंध' आम आदमी की जिंदगी का मार्मिक और विश्वसनीय दस्तावेज है।'[5]

'घेरे', 'खण्डित', 'गलत-नंबर', 'झपटटा', 'पड़ाव', 'चींटियों और 'अपाहिज' आदि इस संग्रह की औसत दर्जे की संवेदना से युक्त कहानियां हैं।

'हांसू' कहानी अपने नाम के अनुरूप ही वास्तव में बड़े हांसू ढंग से लिखी गई है। सुधीर चन्द्र के ही शब्दों में 'यह कहानी भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में उपस्थित उन विकोलियों को लेकर लिखी गई है, जो सत्ता और सामाजिक अन्याय, अनाचार और उत्पीड़न के बीच व्यवस्थात्मक स्थायित्व का पोषण करते हैं। भाषा और शिल्प की दृष्टि से अनोखा प्रभाव उत्पन्न करने वाली कहानी अपने-आप में एक मुकाम है हिन्दी सैटायर में।'[6]

'हांसू' संग्रह की ही एक अन्य कहानी 'झूला' एक ऐसी महिला की अव्यक्त

---

1. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां (भूमिका)
2. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : सं० डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 256
3-4. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' : सं० शैलेश मटियानी, पृ० 35-37
5-6. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : सं० डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 248

वेदना से ग्रंथित है जो अपनी सन्तानों के होते हुए भी अपने को नितांत अकेला महसूस करती है। अपनी इच्छा के विरुद्ध दोनों लड़कों के पढ़ने के लिए विदेश चले जाने से उन्हें चीजें अपने हाथ से निकल गई प्रतीत होती थी। हर समय एक सुस्ती-सी छायी रहती व उत्साह-हीनता स्वभाव का अंग बन गई थी। लेकिन फिर बड़े लड़के के अपने विवाह के सिलसिले में दो महीने के लिए घर आ जाने से उनकी वर्षों से सोई हुई चेतना जाग उठी। विदेश रह आए लड़के को हिन्दुस्तानी प्रत्येक लड़की में कोई-न-कोई ऐब दिखाई देता और उसके साथ पूरी जिंदगी साथ रहने की कल्पना उसके लिए असह्य हो जाती। अन्ततः वह सबके समझाये जाने पर जब माँ से कहता है 'तुम किस दुनिया में रहती हो, माँ! ब्याह तो मेरा होना है।'[1]

कथ्य के अनुरूप भाषा का प्रयोग इस कहानी में देखते ही बनता है : जहां कभी सिर्फ एक-सी जगह चिपके रहना, बहुत हुआ तो घिसटना था, वहां अब भागमभाग थी, खासिस शारीरिक भागमभाग और मन तो उनका उससे भी कई गुना अधिक गति से दौड़ रहा था। दौड़ता रहता! उनमें गजब की चुस्ती आ गई थी। सोतीं तभी, जब थककर चूर होकर गिर पड़तीं। जीवन बड़ा ही अर्थपूर्ण हो गया था।'[2]

'खुद के खिलाफ' की अधिकांश कहानियां जीवन-मूल्यों के टूट जाने की पीड़ा से आच्छादित हैं। इन कहानियों में 'खुद के खिलाफ' की विमला और 'शापग्रस्त' का आदमी इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'खुद के खिलाफ' इस संग्रह की अत्यंत सशक्त कथा है, जिसमें विमला प्रेम की असफलता में किस हद तक नीचे गिरती है, यह तो दर्शाया ही गया है, किंतु लेखक उन स्थितियों को भी सामने लाता है, जिनसे विमला अपने वर्तमान नावदान तक पहुंची है। इससे वह पाठकीय सहानुभूति भी अर्जित कर पाती है और यहीं लेखक 'विवाह' और प्रेम के परम्परागत प्रस्थापित नैतिक मानों को खुलकर चुनौती देता है। उन मानों को, जो पुरुष ने अपनी दृष्टि में बनाए हैं।'[3]

विमला द्वारा पूछे गए इस सवाल 'तुम्हें औरतों में कोमलता चाहिए,'''यह चाहिए, वह चाहिए। कभी यह भी सोचा कि औरतों को भी तुमसे कुछ चाहिए'[4] में न केवल नायक, बल्कि प्रकारान्तर से पूरी पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था पर

---

1. 'मेरी प्रिय कहानियां : गोविन्द मिश्र, पृ० 70
2. वही : पृ० 66
3. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : सं० डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 260
4. 'मेरी प्रिय कहानियां : गोविन्द मिश्र, पृ० 44

करारी चोट की गई है।

'शापग्रस्त' कहानी का आदमी लंदन में अपनी बीवी-बच्चों को छोड़कर चले जाने से विक्षिप्त-सा हो गया है और पूरे शहर के प्रति ही उसके मन में एक अजीब किस्म की कटुवाहट भर गई है, जिसे लेखक कहानी के प्रारम्भ में वही नायक के मुंह से कहलवाता है: 'यह मुल्क रहने के लायक नहीं है, हुजूर, जहां जाइए, अपमान···क्योंकि आपकी चमड़ी काली है, क्योंकि आप वही लोग हैं, जो अपने ही देश में सिर्फ तीसरे दर्जे में चलने लायक थे। ये कमीने कभी नहीं भूल सकते कि इन्होंने हिंदुस्तान पर सौ साल से ज्यादा हुकूमत की है···'[1] कहानी की ये प्रारंभिक पंक्तियां पाठक को आगे आने वाली कटुता की तरफ भी इशारा करती है।

अपने जीवन-मूल्यों के टूट जाने से कहानी का नायक अभिशप्त प्रतीत होता है। 'खुद के खिलाफ' की विमला तथा 'शापग्रस्त' के आदमी का दर्द लगभग एक-सी परिणति का शिकार है। विमला जीवन में जो चाहती थी उसके हासिल न होने से भटक गई है और 'शापग्रस्त' का कथा-नायक जो कुछ जिन्दगी में मिला था उसके लुट जाने से टूट गया है।

'सन्ध्यानाद', 'फांस', 'खाक इतिहास', 'बरखांजलि', 'मुझे घर ले चलो' आदि 'खाक इतिहास', कहानी-संग्रह की देहरादून व गोविन्द मिश्र की अब तक लिखी कहानियों में भी श्रेष्ठ व विशिष्ट हैं। ये सभी कहानियां अपनी कथावस्तु में ही भाषा शिल्प की दृष्टि से भी उन्हें कहानीकार के रूप में एक ठोस अस्तित्व प्रदान करती हैं।

'सन्ध्यानाद'···पीढ़ियों के अन्तर्द्वन्द्व और पति तथा पत्नी के बीच उलती उम्र के साथ सोच में भी बढ़ते जा रहे फासले को सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट करती है। दोनों ही अपनी-अपनी नजर में छूट गए जीवन को और तेजी से पकड़ने में व्यस्त हैं, पर जो छूटा है, वह दोनों का अलग-अलग है।'[2]

'फांस' कहानी की पूरी बुनावट मकड़ी के जाल की भांति गुंथती चली गई है। कहानी पढ़ते समय लगता है कि जैसे लेखक पहले से सोची हुई कहानी नहीं, बल्कि लिखने के दौरान ही सोचता जा रहा है। दो युवक बुंदेलखंड के किसी गांव की झोंपड़ी में चोरी करने के इरादे से उस घर के मालिक के द्वारा भेजे गए होने की बात कह पल्टू की मां का विश्वास प्राप्त कर भीतर घुस जाते हैं। उनमें से एक तो अपने काम से बन्दर घुस जाता है और उसका

1. 'मेरी प्रिय कहानियां': गोविन्द मिश्र, पृ० 46
2. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम': सं० डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 270

साथी उस औरत को बातों में उलझाए रखता है। बातों-ही-बातों में युवक के अपने ही नैहर के गांव के होने की बात सुनकर पल्टू की मां उत्साहित हो जाती है 'अरे···तब तो तुम साचउं के भैया लागत। पहले बता देते, अब देखौ हम आंय तुमाई जिज्जी और तुम भुज्जी-भुज्जी लगायं। पल्टू देखे बे को आंय बैठे। तुमाए मम्मां···।'[1]

धीरे-धीरे वे दोनों बहन के निश्छल प्रेम इस कदर जकड़ जाते हैं कि अन्त में बगैर चोरी किए, बल्कि अपनी तरफ से भान्जे के लिए पांच रुपये मिठाई खाने को देकर, चुपचाप लौट जाते हैं। कहानी के अन्त में प्रयुक्त इन कथनों ('कछु चाउनै हतो का···हमाये देस को होय तो बताव। मुनौ है कि शहर में कमऊ पूरो नई परत' व पल्टू पूंछत कि मम्मां फिर कबै एहो ?')[2] से युवकों के मर्म पर जो आघात पड़े होंगे, उससे पाठक को उनके प्रति पूरी सहानुभूति हो जाती है। इस कहानी में पल्टू की मां के संवादों में बुंदेलखंडी बोली की मिठास देखते ही बनती है। यह भी कि जीवन भाषा में कैसे बोलता है।

'खाक इतिहास' कहानी की नायिका मारिया जीवन-संग्राम में पराजित विदेश गए अपने पति को याद करती हुई कथावाचक के समक्ष उसका जो चित्र खींचती है वह लेखक की भाषा की सक्षमता का ही परिणाम है: 'तुमने कभी किसी उखड़े हुए पेड़ को देखा है? कुछ जड़ें जमीन से अलग, कुछ जोरों से चिपकी हुई, एकदम आदमी की नसें जैसी दीखती हैं वे। आखिरी दम तक जैसे वह दरख्त अपनी पूरी ताकत के साथ जमीन छोड़ने से इंकार कर रहा हो। लूडविक यही था उन दिनों।'[3] 'शिल्प और संवेदन, दोनों मामलों में काफी सधी होते हुए भी 'खाक इतिहास' विश्वसनीयता उत्पन्न करने में विफल है तो इसलिए कि इसमें कथ्य पर विचार हावी है।'[4]

'वरमांजलि' कहानी में पुत्र शोक नितांत व्यक्तिगत अनुभूति की कहानी के रूप में जितने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, वह अद्भुत है। पुत्र की मृत्यु का जिम्मेदार कहीं से खुद को मानते हुए पिता आत्मग्लानि के जिस दौर से गुजरता है वह बेहद मर्मांतक है। 'वरमांजलि' वज्रपात को सिर्फ झेलने नहीं, बल्कि उसे स्वयं के भीतर जगह देने की रचना है।' डॉ० पुष्पपाल सिंह के शब्दों में 'वैयक्तिक सुख-दुःख की अनुभूति किस प्रकार एक सुन्दर कलात्मक अनुभव में रूपांतरित हो सकती है, इसका बहुत ही सुन्दर उदाहरण बन पड़ी है यही

---

1. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' : सं० कॉलेज मटियानी, पृ० 82
2. वही, पृ० 86-87
3-4. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' (भूमिका)।

कहानी।'[1]

'वरणांजलि' कहानी की तुलना प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' से करते हुए श्लेश मटियानी का कहना है कि 'जहां 'कफन' में काल का दूसरा पक्ष, समाज, सीधे चाक्षुष यथार्थ में उपस्थित है, वहां 'वरणांजलि' नियति से टकराहट की रचना है।'[2] आगे 'वरणांजलि' की अपेक्षा 'कफन' की श्रेष्ठता के कारणों पर विचार करते हुए उनका सोचना है, यदि 'वरणांजलि' में संवेदना और काल का भी समतोल अंतर्गथन हो पाता तो यह 'कफन' की भांति, उतनी ही गहरी सामाजिक प्रासंगिता की भी रचना बन जाती, क्योंकि संतति समाज का सबसे कोमल और मूल अंग है और 'वरणांजलि में किसी व्यक्ति नहीं, बल्कि आदमी के बच्चे के ओझल हो गए होने की अनुगूंज है।'[3]

गोविन्द मिश्र की 'शुरुआत' कहानी के बच्चे व वरणांजलि के बच्चे में बहुत साम्य है। दोनों ही महानगर में अपने बेहतर भविष्य के लिए पिता द्वारा लाए गए हैं।' क्या 'वरणांजलि' में ठीक वही बच्चा उपस्थित नहीं, जो शुरुआत में हमउम्र बच्ची से फूलों पर बातें करता, अपने अजनबी होने से थोड़ा उबर आया था क्या यह वही 'शुरुआत' का महानगर में पढ़ाने को साया गया बच्चा नहीं, जो 'वरणांजलि' निरभ्र से आकाश में चमकी बिजुत-रेखा की तरह पिता के देखते-देखते सर्वेद को अनुपस्थि हो गया ?

'खुद के खिलाफ' कहानी की ही तरह इस कहानी में भी महानगरीय भीषणता का जिक्र है : 'मैं तुम्हें बड़ा करने इस महानगर में ले आया था, जहां कल्पना और जीवन को सीमित कर [redacted] के लिए जैसे कटिबद्ध भीमकाय इमारतें पग-पग पर खड़ी हैं। बच्चों को पालने, बड़ा करने के लिए किसी महानगर से भयानक और कौन-सा स्थान हो सकता है ?'[4]

'मुझे घर ले चलो' कहानी का नायक गनेसी कम्पनी में लिफ्ट-मैन की कच्ची नौकरी के छूट जाने के उपरांत जिन मानसिक यंत्रणाओं का शिकार होता है वह अत्यंत भयावह है। नौकरी छूट जाने की मार एक गरीब की पूरी घर-गृहस्थी पर कितना विध्वंसक प्रभाव डालती है, यह आंकिक रूप से सम्पन्न व्यक्ति की कल्पना से कैसे बाहर है, यही इस कहानी का निचोड़ है।

'पगल बाबा' संग्रह की कहानियों के सम्बंध में चंद्रकांत बांदिवडेकर के

---

1. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : सं० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 278- 279
2. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' (भूमिका)
3. वही
4. वही पृ० 138

विचार इस प्रकार हैं 'अंधेरे की सुरंग में आलोक की पतली किरणों की खोज करने वाली, मानवीय गरिमा और गर्माहट से अभिभूत कराने वाली और परम्परा की चैतन्यमय ऊर्जा की ये कहानियां हिंदी में महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए।'[1] 'मायकल लोबो', 'पगला बाबा' 'अर्थ ओझल', इतनी-सी रोशनी'। 'अर्द्धवृत्त' आदि कहानियां लेखक के रूप में निरंतर अधिक बेहतर हो रहे होने की सूचक हैं।

'मायकल लोबो' एक शराबी व्यक्ति के अपनी बेटी के एक वाक्य 'पापा', 'मैं कब तक आपको इस तरह उठाती रहूंगी।'[2] से सम्पूर्ण व्यक्तित्व के आमूल परिवर्तन की बड़ी सशक्त कहानी है। इस वाक्य में लोबो को जो प्रकाश दिखाई पड़ा और उससे जीवन में पहली बार जिस हीनता-बोध का उसने अनुभव किया बड़ी उसे मनुष्यता को उस सच्चाई पर ले जाता है जहां वह अपने जीवन से दूसरों को निःस्वार्थ भाव से सीख देता व उन्हें ईश्वर की ओर प्रेरित करता दिखाई पड़ता है।

'पगला बाबा' मनुष्य के अपने से बाहर निकलकर दूसरों का कुछ निमित्त बन जाने के संकल्प से उपजी अत्यंत मर्मस्पर्शी कहानी है। कर्म के प्रति पगला बाबा की असीम निष्ठा का भाव इस कहानी में विद्यमान है। डॉ० बादिवडेकर के अनुसार 'यह एक अकेले, निस्सहाय और अकिंचन व्यक्ति के जीवन [illegible] अर्थ की खोज है, गोविंद मिश्र कहानी के बीच केन्द्रीय बीज को पाठक की हथेली पर रख देते हैं।'[3] वह केन्द्रीय बीज है। 'उस शाम जैसे उन्हें अपना धर्म मिल गया था—जिसका कोई नहीं, उसका सब कोई। संसार यात्रा का एक छोटा-सा भाग जहां व्यक्ति अशक्त हो जाता है···मात्र निस्पंददेह···वहां उसे आगे की तरह ठेल देना, पंचभूत, तत्त्वों को सौंप देना। ये पागल बाबा हो गए। कहां के थे, क्या नाम था, कौन जाति···धर्म···सब पगला में डूब गए।'[4]

'अर्थ ओझल' के शिक्षक पिता का जीवन कर्म को ही जीवन का लक्ष्य और उसे ही मोक्ष मानने का उदाहरण है। शिष्यों के प्रति अतिरिक्त स्नेह व चिन्ता उन्हें पत्नी-पुत्र एवं लोगों के सन्देह और घृणा का पात्र तक बना देती है बाद में उनके न रहने पर पुत्र को उनके शिष्य के माध्यम से ज्ञात होता है कि उसके पिता

---

1. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम'—सं० डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 284
2. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' : सं० शैलेश मटियानी, पृ० 54
3. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : सं० डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 282
4. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां : सं० शैलेश मटियानी, पृ० 66

पंडित दीनदयाल किस प्रकार सारी घृणा बटोरे चुपचाप अपने कर्म में रत थे : 'लेकिन आज साफ-साफ दिखता है कि एक साधारण-से अध्यापक के छोटे-से वृत्त में कैसे वह आदमी इतने स्वाभाविक ढंग से एक पूरे का पूरा दर्शन पिरोये हुए था और केवल सिद्धान्त नहीं, वह उस दर्शन को जी रहा था'''निश्शब्द, उसके तनाव-संतोष को अकेले भोगता हुआ। शुरू-शुरू में निंदा, ताने, उपहास '''बाद में भयंकर उपेक्षा'''इस सबको चुपचाप झेलते हुए पिता चले गए। कौन जाने यह भी उनके दर्शन में रहा हो कि अपने को सही जताने में शक्ति व्यर्थ ही जाया न की जाय।'[1]

डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर के शब्दों में—'एक मूल्य चेतना रखकर जीने वाले शिक्षक एक आलोक-वृत्त निर्मित करते हैं।'''गोविंद मिश्र ने इस व्यक्तित्व को अपनी कला से जीवंत रूप में सामने रखा है।'[2]

'अर्द्धवृत्त' में पति-पत्नी और उपपत्नी के सम्बंधों के आपसी टकराहट की यह कहानी पत्नी और उपपत्नी के लगभग अकल्पनीय चारित्रिक पक्ष का उद्घाटन करती है। पत्नी अपने स्वाभाविक अधिकारों के तहत सौत के प्रति जिन-जिन आशंकाओं की कल्पना करती है उससे एकदम उलट व्यवहार पाकर वह द्रवीभूत हो जाती है।

'एक बूंद उलझी' कहानी में पैसे से ही परिवार को बांधे रख सकने की मानसिकता ग्रस्त इंस्पेक्टर को उसी की पत्नी बच्चों समेत जब अचानक निस्सहाय छोड़ जाती है तो वह हाथ मलते रह जाता है और उसका अंत उनके विछोह में तड़पते हुए पश्चाताप के साथ होता है। ''वह सोचता था जिंदगी में फर्क पैसे से ही पड़ता है, और जीने का मतलब सिर्फ एक है—मस्ती।'[3] ऐसा नहीं है कि गोविन्द भाई आज की स्थितियों के काले यथार्थ को नहीं उघाड़ सकते। जिंदगी के उलझने और उलझते की कथा भी वे लिखते हैं—'एक बूंद उलझी' एक पूरी आक्रामक सभ्यता पर भरपूर वार करने वाली यह कहानी फिर भी अपने-आप में एक आंसू की छोटी-सी बूंद उलझी हुई बूंद का अस्तित्व अंकित किए बिना नहीं रहती।'[4]

अम्बइया हिंदी का अत्यन्त सटीक सार्थक प्रयोग गोविंद मिश्र की कहानी 'प्रतिभोह' में हुआ है। 'इसके कारण समूची कहानी में वातावरण का स्पर्श हो

---

1. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' : सं० शैलेश मटियानी, पृ० 79
2. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 283
3. 'पगला बाबा' : गोविंद मिश्र, पृ० 4
4. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम' : डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 289

नहीं, एक भीतरी आत्मीयता पैदा हुई है।'[1]

उदाहरणार्थ एक नमूना पेश है—'छोकरा इतना ही नीला था कि उसका एक बॉक्स रख लेने का छोटा टुटेला बॉक्स, बड़ा टिफिन बॉक्स का माफक, उसके पास कोई जागा नहीं, कहां-कहां लिये-लिये घूमेगा—कि वो डांट पिलाया उस दस बरस के छोकरे कूं—बक्सा क्या तुम्हारा रूमाल भी नहीं रखने का। हमारा कुछ भी कभी कोई रखा? बादशी की औलाद ने हमकूं क्या दिया, तो कोई मतलब नहीं हमकूं भी आदमी नाम का चिड़िया से! चलो, फूट यहां से। एक बैठने का जागा बताया, उसको भीच गिरबानः मांगता तू? अपन कोई गांजा नहीं, चरस नहीं, शराब, सिगरिट कभी भीच हाथ नहीं लगाया। अपुन को कोई लफड़ा नहीं होता। क्या है बॉक्स में दिखा, कहां से आया रे तू···'[2]

कहानी एक ऐसे बूढ़े व्यक्ति की है, जिसे बम्बई में पहले खुद को ही रहने को कोई स्थान नहीं मिल पाया! कहीं, किसी से आसरा नहीं मिला। अब उसके पास खुद की झुग्गी है, और एक बेआसरा लड़का उससे रहने भी नहीं, बल्कि सिर्फ एक संदूक रखने भर को जगह चाहता है, लेकिन बूढ़ा साफ मना कर देता है। लड़का चुपचाप चल देता है और उस दिन वापस भी नहीं लौटता। उसके ओझल होते ही बूढ़ा अतीत की स्मृतियों में फिर जाता है और फिर उस लड़के की चिन्ता में व्याकुल होता जाता है। दूसरे दिन उस लड़के के वहां आते ही उसे आग्रहपूर्वक अपने पास रखा लेता है और अनुभव करता है कि जैसे उसे अपने अकेलेपन को दूर करने का एक सहारा मिल गया है।

मनुष्य के बिलकुल भीतरी तल पर की करुणा और आर्द्रता को पकड़ पाने में ही गोविंद मिश्र जैसे खुद की रचना-कर्म की कृतार्थता खोजते हैं। उनकी इसी विशिष्टता को रेखांकित करते हुए शैलेश मटियानी ने लिखा है कि 'गोविंद मिश्र' अपनी पीढ़ी के, शायद, सबसे महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं, क्योंकि भाषा और कथ्य, दोनों धरातलों पर उनके यहां अपेक्षाकृत ज्यादा विस्तार है।···अपनी पीढ़ी में भाषा और संवेदना के स्तर पर प्रेमचंद के सबसे निकट गोविन्द दिखाई पड़ते हैं।'[3]

शैलेश मटियानी के निष्कर्ष से कई लेखक, आलोचक असहमत हो सकते हैं, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोविन्द मिश्र की अधिकांश महत्त्वपूर्ण

---

1. 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम : 'सं० डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 283
2. 'पगला बाबा' : गोविन्द मिश्र, पृ० 31-32
3. 'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां' (भूमिका) : शैलेश मटियानी, पृ० 10

कहानियों में विचार और दृष्टि के स्तर पर न सही, लेकिन संवेदन के धरातल पर प्रेमचंद की-सी तलस्पर्शिता साफ देखी जा सकती है। हिंदी कहानी में जिस 'विचारधारात्मकता' पर बहुत जोर दिया जाता रहा है, गोविन्द मिश्र उससे दूर जरूर दिखेंगे, लेकिन जहां तक मनुष्य के दुःख और उसकी वेदनाओं तथा संघर्षों के संसार का सवाल है, गोविन्द मिश्र का सरोकार सामान्य गहरा नहीं है। मनुष्य की आभ्यंतर करुणा का साक्षात्कार उनकी कहानियों में क्रमशः सघन होता गया है।

चतुर्थ : अध्याय

कथा-चिन्तक का विकास

1970 के बाद के कथाकारों की रचना-दृष्टि

1970 के बाद के रचनाकारों की रचना-दृष्टि—इस शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ में कहानी की रचना-दृष्टि पर विचार की शुरुआत निम्नलिखित तीन उद्धरणों से करना समीचीन प्रतीत होता है। तीनों ही उद्धरण हिन्दी की पत्रिकाओं में प्रकाशित समकालीन कहानीकारों के लेखों से लिए गए हैं, इसलिए ये एक ओर जहां इन कहानीकारों की रचना-दृष्टि की ओर संकेत करते है, वहीं दूसरी ओर समकालीन कहानियों के बारे में उनकी समझ को भी रेखांकित करते हैं।

सम्प्रेषण की कला होने के नाते जरूरी सिर्फ यही नहीं कि सच कहा जाए, जरूरी यह भी है कि 'चिति' दृष्टि और त्वरा, शक्ति और सम्मोहन से सम्भूत हो। कहानी रंगने वाले साबुन की तरह विलीन होकर अन्तर को रंजित न कर पायी, तो वह कहानी नहीं और वह कहानीकार कहानीकार नहीं। देखा तो यह गया है कि जो कथाकार जितना सशक्त होता है, उसका शिल्प उतना ही अन्तर्विन्यस्त और जीवन्त होता है। यह और बात है कि कुछ लोग शिल्प का मतलब सिर्फ चमकप्रद सूरत से समझ लेते हैं तो कुछ आरोपित भूषार के लटकों-झटकों से जब कि ये शिल्प के बाहरी घटक-मात्र है। हिन्दी कहानी का इतिहास गवाह है कि जब-जब उसने कसरत, करतब, मुजरा या भाईलिग की, तब-तब आंचल फैलाकर बख्शीश और वाहवाही बटोरना ही उसका अभीष्ट रह गया। इसके विपरीत समर्थ कथा में यह शिल्प वान्तरिक ऊर्जा, कलात्मक अनुशासन, सम्प्रेषण क्षमता, और टटकेपन की चमक बनकर खिला।[1] (संजीव)

'किसी लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने युग के बदलते सामाजिक यथार्थ को किस हद तक अपने कला माध्यम की सीमा में रहकर अभिव्यक्त कर पाया है, इसका दूसरा अर्थ यह है कि किसी भी दौर की रचनाओं

---

1. 'निष्कर्ष' (कहानी-विशेषांक 1989-90), पृ० 180

का स्वरूप इस बात पर निर्भर करेगा कि उस दौर का यथार्थ क्या था, न कि चन्द एक लेखकों की प्रतिभा के चलते चर्चा का विषय। चूंकि 'कहानी का भविष्य' था इसलिए मेरा कहना यह था कि कहानी का रूप उस दौर के चिन्तन या सोच में आ रहे परिवर्तन के अनुसार बदलता जाएगा, क्योंकि कला के नये रूप सामाजिक यथार्थ को देखने-पहचानने के नये तरीकों को अपने में संजोये होते हैं और वे कलाकार तथा दर्शक या श्रोता के बीच बदलते रिश्ते का भी मानदण्ड होते हैं।'[1] (पंकज बिष्ट)

हिन्दी कहानी के क्षेत्र में यह एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आता है कि स्वातन्त्र्योत्तर कहानी के (इस) सवेदनागत अन्तर को हिन्दी के प्रायः प्रत्येक लेखक, आलोचक, सम्पादक के द्वारा स्वीकार किया गया। एक ही दशक में (सारिका), 'अणिमा', 'उत्कर्ष', 'नई कहानियां', 'माया', 'ज्ञानोदय', 'वातायन', 'संचेतना', 'आधार', 'लहर', 'विकल्प' आदि पत्र-पत्रिकाओं के कहानी विशेषांकों के प्रकाशन को एक सामान्य घटना नहीं माना जा सकता। निश्चय ही इसका सम्बन्ध ऐतिहासिक आवश्यकता के साथ रहा है। उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि सातवें दशक में हुई इन चर्चाओं के द्वारा आठवें दशक के एकदम पूर्वार्द्ध के वर्षों में हिन्दी कहानी की भिन्न भावभूमि उद्घाटित होती है, जिसे तमाम लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न नाम दिये गए, लेकिन आठवें दशक की इस नवीन रचना यात्रा को स्वतन्त्र रूप में, पूर्ववर्ती कथा-भूमि से काटकर देखने से नहीं समझा जा सकता।'[2] (बटरोही)

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आठवें दशक के प्रारम्भ से ही हिन्दी कहानीकारों की सोच में जनवादी या प्रगतिवादी दृष्टि के दबाव में कहानियों के साथ किये गए व्यवहार के खिलाफ एक सोची-समझी प्रतिक्रिया दिखाई है विशेषकर उन कहानीकारों में भी जो विचारों से जनवादी या अतिजनवादी कहे जाते हैं, जैसे—संजीव यथार्थ के चित्रण में कला की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं और जिस रूप में रेखांकित करते हैं उससे पहले उस रूप में रेखांकन की आवश्यकता पर कम ध्यान दिया गया है। उन्होंने अपने तर्क को संपुष्ट करने के लिए कुछ प्रेमचन्द की कहानी 'नमक का दरोगा' से लेकर नए रचनाकारों तक की अनेक कहानियों का उल्लेख किया है। उनकी कुल स्थापना यह लगती है कि अन्तर्विन्यास शिल्प-रचना में सामर्थ्य पैदा करता है और ऊपर से थोपा हुआ शिल्प रचना को महत्त्वपूर्ण नहीं बनने देता है, परन्तु बड़ी ही सादगी के साथ वे अपने से पूर्व के रचनाकारों में एक अजीब प्रकार के

1. 'नवभारत टाइम्स' (अक्टूबर 1989)
2. 'कहानी संवाद का तीसरा आयाम' : बटरोही, पृ० 95

कुहासे का संकेत करते हैं, जो उनके अनुसार ज्ञानरंजन, रघुवीर सहाय, काशीनाथ सिंह आदि में 'पुराने चमकप्रद कथा-शिल्पों, फंटासी, संश्लेषण-विश्लेषण के जोश हटाए नहीं हटते हैं।'[1] दूसरी ओर पंकज बिष्ट यथार्थ की नई पहचान को कहानियों को कहानियों के मूल्यांकन का प्रमुख आधार मानते हैं। 'बटरोही' भीष्मसाहनी की 'मकान' कहानी के उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि छठे-सातवें और आठवें दशक की कहानियों में कहानी के 'ट्रीटमेंट' को लेकर व्यापक अन्तर आया है। उनके अनुसार व्यंग्यात्मक उपहास-पूर्ण स्वर दूसरी पीढ़ी में पहली पीढ़ी की अपेक्षा अधिक मुखर है। इससे यह नतीजा निकलता है कि आठवें दशक के कहानीकारों की रचनादृष्टि अपने से पूर्ववर्ती रचनाकारों की तुलना में अन्तर्विन्यास्त शिल्प के माध्यम से नए यथार्थ को आविष्कृत करने की रही है। इस दृष्टि से आठवें दशक के कहानीकारों की कहानियों का मूल्यांकन करने पर रचना-दृष्टि और रचनाओं के बारे में व्यक्त किए गए विचारों में काफी अन्तर पाया जाता है। कथाकारों के द्वारा मूल्यांकन के लिए व्यक्त किए प्रतिमानों और आदर्शों के दावे बहुत बड़े हैं, परन्तु कहानियों को उस तुलना में उतनी ही अधिक अस्त-व्यस्त तथा आरोपित विचारधारा के कारण समाप्त-सी लगती है। स्वयं संजीव की कहानियों में शिल्प के प्रति अतिरिक्त आग्रह और विचारधारा के प्रति विशेष लगाव के कारण अन्तर्विन्यास शिल्प के बजाय अस्त-व्यस्तता पैदा हुई है। वस्तुतः परिभाषित यथार्थ या यथार्थ को जैसा दिखाई पड़ना चाहिए इस धारणा से व्यक्त किए गए यथार्थ पर शिल्प आरोपित हो हो सकता है क्योंकि शिल्प अनुभूति के साथ ही पैदा होता है और कथा के रूप-ग्रहण के साथ ही विकसित होता है। हिन्दी कहानी के पांचवें-छठे-सातवें दौर की पीढ़ी कम-से-कम इस सत्य को जानती थी, जैसे उदयप्रकाश की 'तिरिछ', 'दत्तू तिवारी गणनाधिकारी' और 'अन्त में प्रार्थना' जैसी कहानियां कहानियों में आग्रह और जोर शिल्प पर अधिक है। पाठक पहले शिल्प के प्रति आकर्षित होता है और उसके बाद शिल्प से कहानी की ओर जाता है अर्थात् कहानी समग्रतः नहीं खण्डों-खण्डों में आकर्षित करने के तर्क से निर्मित है। तात्पर्य यह कि इस कालावधि के भीतर के रचनाकारों की रचनादृष्टि में दो-तीन विचित्र प्रकार की स्थितियों का संकेत किया जा सकता है। यदि इन्हें वर्गीकृत किया जाए तो कहा जा सकता है कि इस दशक के कहानीकारों में कुल तीन प्रकार की रचना दृष्टियां मिलती हैं—(1) शिल्प के प्रति अतिरिक्त आग्रह की जिसे आलोचना की शब्दावली में रूपवादी या कलावादी कहानियां कहा जा सकता है। (2) यथार्थ और कला के समावेश की कहानियां—इस प्रकार की कहानियों में रचनाकारों

1. 'निष्कर्ष' (कहानी-विशेषांक) सम्पा०-गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० 183

की दृष्टि मूलतः प्रयोगात्मक और चालाकी-भरी होती है। लगभग निर्धारित और परिभाषित यथार्थ को इस प्रकार के कहानीकार कलात्मक रूप से व्यक्त करना चाहते हैं। एक प्रकार से यह प्रकृतवादी कहानियों का नया संस्करण है। पहले भी महेन्द्र भल्ला, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन आदि की कुछ कहानियां इस प्रकार की कोटि में आती हैं। उदयप्रकार, ज्ञान प्रकाश, विवेक, स्वयंप्रकाश, शशांक संजय आदि कहानीकारों की अधिकांश कहानियां इसी प्रकार की कहानियां हैं, जिसमें कुल आकांक्षा यह दिखाई देती है कि यथार्थ को हम जनवादी या जन-संस्कृतिवादी या प्रगतिवादी मुखौटे के रूप में प्रस्तुत करें। परन्तु यह मुखौटा देखने में अधिक आकर्षक, कलात्मक लगभग 'अज्ञेय' या निर्मल जैसा हो।

(3) तीसरी कोटि की कहानियां वे हैं जिन्हें रचनादृष्टि के तर्क से पूरी कहानी कहना कठिन लगता है, क्योंकि इन कहानियों में जिस जीवन यथार्थ का वर्णन अथवा जो कथ्य मिलता है वह पूर्णतः घटना के स्तर पर या अधिक-से-अधिक एक-दो घानयों में वर्णन के स्तर पर कुछ कहानी-समयों का प्रतिफलन लगता है। कोई आलोचक यह कह सकता है कि यह स्थिति प्रेमचन्द की भी अधिकांश कहानियों में है परन्तु प्रेमचन्द की कहानियों में इस प्रकार की निरान्त कथा-प्रवाही कहानियों में व्यापक जीवन दृष्टि का सोद्देश्य संकेत मिलता है जबकि आठवें दशक में लिखी गई अधिकांश कहानियों में, जिनके लिखने के भी तर्क कई हो सकते हैं, व्यापक जीवन-दृष्टि का अभाव है। कहानियों में गहरी मानवीय चिन्ता जो संवेदना को व्यापक और मूल्यवान बनाती है, के प्रति आग्रह भी नहीं है, होने की बात तो दूर है। इस दृष्टि से संजीव के अपने लेख में आठवें दशक के रचनाकारों की अनेक कहानियों के शैलीय और शिल्पीय कहानियों का उदाहरण देते हुए इस बात का संकेत किया है कि उद्देश्य का प्रस्फुटन महत्त्वपूर्ण है 'भाषा, शिल्प, काव्यात्मकता और फंतासियों के संग प्रयोग में संजीव, उदयप्रकाश, पंकज बिष्ट, चन्दकिशोर जायसवाल और केशव ने नई पतन गाथा को नये अन्दाज दिये ? हल्की फंतासी के तहत उदयप्रकाश ('टेपचू'); धीरेन्द्र अस्थाना ! ('लोग हाशिये पर'); रमेश बतरा ('जंगली जुगराफिया') और प्रियंवद ने अपनी कई कहानियों में जुबान दी। पंकज बिष्ट की कहानी 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' की चिकनी-चमकीली विषकन्यानुमा व्यवस्था के विष के दांत इस शिल्प प्रयोग में दिखते हैं, गोली टी० वी० के दृश्य में चलती है, मरता है उसका शिकार घर का आदमी। पर प्रयोग के नाम पर प्रयोग के दूधनाथ सिंह की तरह यहां भी मौत है—प्रयाण है, ब्रजेश्वर मदान की कहानियां, बलराम की 'कलम हुए हाथ' और 'पालनहारे' अब तक के गांवों की दुरावस्था से आगे की दास्तान बताते हैं तो जितेन्द्र की सन् 76 की कहानी 'टुकड़ा-टुकड़ा मौत' नई कहानी के उद्धारित खण्डित व्यक्तित्व को मकतल के आइने के सामने तक ला

खड़ी करती है। कृषक-श्रमिक आन्दोलन अब सिर्फ मार ही नहीं खाते वार भी करते हैं, वृजेन्द्र अनिल, मधुकर सिंह राणाप्रताप, मदनमोहन, सुरेश कांटक, हरिहर, श्रीकान्त, नवेन्दु, विन्ध्येश्वरी, हृषीकेश सुलभ, रामेश्वर उपाध्याय, बरबिन्द, अरुण प्रकाश और जवाहर सिंह की कहानियां उदाहरण के लिए ली जा सकती हैं, लेकिन दो-एक को छोड़कर हमें अभी भी उस तेजस शिल्प की संरचना का इंतजार है, जो इन्हें सुलगती-धधकती आग में तब्दील कर सके। यूं शिल्प का कोई व्याकरण निर्धारित शायद ही हो सके; इस कार्य से नहीं महज प्रभाव से आंका जा सकता है। शिल्प का मतलब रंगों के गहरे प्रयोग ही कतई नहीं, रंग गहरे, धूसर जैसे भी हों विन्यास जैसा भी हो, मूल उद्देश्य कथा के सम्पूर्ण प्रस्फुटन से है, (यों कहीं-कहीं 'अतिरिक्तापन' भी सौन्दर्य है।)

14-15 अप्रैल, 1990 को, आजमगढ़ (उ० प्र०) में हुई एक कथा-संगोष्ठी में पढ़े गए एक लेख 'समकालीन हिन्दी कहानी : विशा और उसकी चुनौतियां' में चर्चित कहानी 'कसाईबाड़ा' के लेखक शिवमूर्ति कहते हैं कि—'प्रेमचन्द के बाद छठे और सातवें दशक में हिन्दी कहानी में परिमाणात्मक और गुणात्मकता की दृष्टि से जो उपलब्धि हुई थी, उसकी तुलना आठवें और नवें दशक की कहानियों से करने पर, यह स्पष्ट हो जाता है कि परिमाण की दृष्टि से कहानियों की संख्या में भले ही बढ़ोत्तरी हुई है, परन्तु गुणात्मकता की दृष्टि से बाद की कहानियों को निर्विवाद रूप से आगे माना जा सके, ऐसी स्थिति शायद नहीं है। जहां शिल्प की दृष्टि से निश्चय ही आठवें और नवें दशक की कहानियां कुछ आगे बढ़ी दिखाई देती है, वहीं अपनी सम्पूर्ण प्रभावान्विति में आगे बढ़ी हुई कहानियों का प्रतिशत घटा है।'

निश्चय ही संजीव की तुलना में शिवमूर्ति का स्वीकार ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से भी कि नये लोगों का सफर अभी बहुत बाकी है।

आठवें दशक में जो रचनाकार सक्रिय हैं, या जिनके कहानी-संकलन छप चुके हैं, और कहानियां अभी भी छप रही हैं उनमें से कुछ ही रचनाकारों के कहानी सम्बन्धी लेख, टिप्पणियां और वक्तव्य उपलब्ध हैं। उनके आधार पर उनकी रचनादृष्टि और रचनाओं के आधार पर पाठकों-द्वारा अनुभूत की जाने वाली जीवन-दृष्टि के बीच में क्या अन्तर है, यह उपर्युक्त उद्धरणों से ही स्पष्ट नहीं होता है, बल्कि यह प्रतीति हिन्दी कथा के आलोचकों की भी रही है। इस दौर में उदयप्रकाश, मृणाल पाण्डे, संजीव, राजीसेठ, सृंजय, सुरेश कांटक, धीरेन्द्र अस्थाना, शिवमूर्ति, पंकज बिष्ट, बटरोही, अमर गोस्वामी, चित्रा मुद्गल, शशांक स्वयंप्रकाश, महेश कटारे, विजेन्द्र अनिल, अखिलेश आदि कहानीकार चर्चित रहे हैं। इनमें से अधिकांश रचनाकारों की रचना-दृष्टि का पता उनकी कहानियों से अवश्य लगता है, जिसमें जीवन की भयावहता, भविष्य के प्रति गहरी दुश्चिन्ता

समझौता करने के कारण मनुष्य के टूटने की आवाज, अकेलापन, मानवीय संवेदनों के प्रति असम्पृक्तता आदि का आभास मिलता है। परन्तु इतने मात्र से ही कहानियों या कहानीकारों की रचना-दृष्टि का आभास नहीं होता है। अतीत और वर्तमान के प्रति गहरी चिन्ता, अतीत और वर्तमान के उद्घाटन-क्रम से दिखाई अवश्य पड़ती है और कुछ कहानियों में आज के समाज में मनुष्य के सामने उपस्थित संकट के संकेत भी मिलते हैं।

राजी सेठ की 'तीसरी हवेली', 'उदयप्रकाश की' 'लिरिक', पंकज बिष्ट की 'टुंड्रा प्रदेश' स्वयंप्रकाश की 'पार्टीशन', मृणाल पाण्डेय की 'एक स्त्री का विदा गीत', सुंजय की 'कामरेड का कोट', चित्रा मुद्गल की 'भूख', बटरोही की 'अप्रत्याशित की मौत', सरयू वर्मा की 'कितनी बार,, वीरेन्द्र अस्थाना की 'आदमखोर', प्रियंवद की 'आर्तनाद' शिवमूर्ति की 'भारतनाट्यम', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', अरुण प्रकाश की 'कहानी अधूरी ही है', 'सत्येनकुमार की 'एक नाम और', संजीव की 'मकतल' मुदुला गर्ग की 'तीन किलो की छोरी', बल्लभ सिद्धार्थ की 'चौबीसवां नरक', चन्द्रकिशोर जायसवाल की 'अभागा', माणिका मोहिनी की 'पिघलता हुआ तव', पुन्नी सिंह की 'मुर्दा स्थगित', जयनन्दन की 'गोजर सिंह अमर रहे', रामधारी सिंह दिवाकर की 'जहां जोत बरय दिन-राती', संजय खाती की 'पुतला', अमर गोस्वामी की 'उदास', राधेश्याम गम्भीर सिंह पालनी की 'मेंढक', राजकुमार सिंह की 'खातिर', अखिलेश की 'चिट्ठी', रतन वर्मा की 'दस्तक', लाल्टू की 'मेमना', शैलेश पंडित की 'घाटी घन' और सुरेश उनियाल की 'कातिल', तथा बलराम की 'कलम हुए हाथ— एक लम्बी शृंखला है ऐसी कहानियों की, जिनका उल्लेख किया जाना चाहिए। इन कहानियों में आज के मनुष्य का संकट जिस तीव्रता के साथ व्यक्त किया गया है, यह तीव्रता कहानियों के लिए प्रामाणिकता या विश्वसनीयता का वातावरण निर्मित करती है। यद्यपि इन कहानियों में कहानीकारों की दृष्टि यथार्थ को आदर्शीकृत करने की नहीं है, जो एक महत्त्वपूर्ण बात है। क्योंकि हिंदी में अनेक कहानियां विचारधारात्मक और गैर विचारधारात्मक दबावों के कारण यथार्थ को आदर्शीकृत और आदर्श को यथार्थीकृत करती रही हैं। सातवें-आठवें दशक के इन कहानीकारों के राजनीति की इस अनिवार्य बुराई से कम-से-कम बचने का प्रयत्न किया है। इससे नतीजा यह निकला कि आठवें दशक की कहानियों में निरर्थक भावुकता और कला के प्रति अनचाहा गुस्सा नहीं मिलता है, बल्कि जैसा कि बटरोही ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में एक लेख में लिखा कि— 'हिन्दी की कहानियों में इधर विवरणात्मकता का खराब बढ़ा है और कहानी की

कलात्मकता की जगह वस्तुतः तथ्यात्मकता बढ़ी है।'[1]

इसके आगे उन्होंने हिन्दी कहानी में औरत को लेकर पिछले डेढ़-दो दशकों में बदली रचना-दृष्टि का संकेत करते हुए यह लिखा है कि—'औरत को लेकर पिछले डेढ़-दो दशकों में तमाम कहानियां और कविताएं लिखी गईं, मगर अधिकांश कहानियों में (कविताओं में भी) औरत का समय सापेक्ष एक-कालिक रूप ही उभरा है। औरत का और जो व्यक्तित्व कालिदास, तुलसीदास, सूरदास, या इस सदी में बंकिम, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द ने रचा है, उस तरह की विश्वसनीय पकड़ हिन्दी के समकालीन लेखकों में कम दिखाई देती है। मृणाल पाण्डेय की कहानी 'एक स्त्री का विदागीत' की मां उक्त लेखकों की सापेक्षिकता में तो नहीं किन्तु औरत के जाश्वत चरित्र को नितान्त अछूते स्तर पर उद्घाटित करती है। ये औरत आजादी के बाद की, या किसी भारतीय काल-खण्ड की नारी नहीं, औरत की आधारभूत करुणा की पुनर्सर्जना है, और इसी रूप में कालजयी चरित्र के निकट है। कहानी के अन्त में अपनी सारी जिन्दगी तमाम पीढ़ियों के लिए खटा देने वाली 'औरत' जब न चाहते हुए भी अपने ऑपरेशन के लिए सहमति देती है, तो उसे लगता है कि उसकी सारी जिन्दगी चीर-फाड़ के बीच ही गुजरी है। उसे अपने प्रथम प्रसव का वह दृश्य याद आता है, जब बच्चा बाहर न आ पाने के वक्त 'धाय' ने 'हरामजादी' कहकर उसे गाली दी थी। और 'औरत' सोचती रहती है कि यह शब्द उसके लिए गाली था, वरदान था या उसकी स्थिति ? उसका 'विदागीत' जिस एक ही कड़ी से शुरू हुआ था, उसी कड़ी पर खत्म होता है।'[2]

वस्तुतः औरत के प्रति हिन्दी कहानीकारों के दृष्टिकोण में जो बदलाव आया भी है, वह भले ही पूर्ववर्ती रचनाकारों की भावुक जथवा प्रकृतिवादी दृष्टि से भिन्न हो, परन्तु काफी सीमा तक उसी प्रकार की दृष्टि से जुड़ा हुआ है, जो हिन्दी की आधुनिक 'कला-फिल्मों' में पाया जाता है, जिसका उद्देश्य वास्तविकता के साथ-ही-साथ कहीं-न-कहीं नग्नता भी होता है, स्वयं महिला कथाकारों द्वारा लिखी गई कहानियों में भी औरत के प्रति दृष्टिकोण 'बोल्डनेस' का भले हो, लेकिन उसकी यन्त्रणाओं, विवशताओं और संतापों का वर्णन कम ही है और न मानव-समाज के प्रति उसके क्रोध और तेवर को ही हिन्दी में उस रूप में व्यक्त किया गया है जैसा बंगला की प्रमुख लेखिका महाश्वेतादेवी 1984 की 'मां' में मिलता है। यदि विषय के आधार पर ही आठवें दशक के कहानीकारों की रचना-दृष्टि को खोज करनी हो, तो कहा जा सकता है कि आठवें दशक के

---

1. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (29 मई, 1988) सम्पादक-मृणाल पाण्डेय, पृ० 27
2. वही, पृ० 27

रचनाकारों के कथा चिंतन और कहानियों में स्मृति और आकांक्षा का वह द्वन्द्व या छटपटाहट नहीं मिलती है, जो वर्तमान में मनुष्य की त्रासदी को देखते हुए, किसी भी बड़े रचनाकार में पैदा होती है। नये चर्चित कहानीकार सूबेदार का यह कथन महत्त्व का है कि—'अगर कथ्य के हिसाब से ही बात करें, तो कोई भी कहानी तब तक उत्कृष्ट हो ही नहीं सकती, जब तक कि उसमें व्यापक सामाजिक सत्य के साथ-साथ नये जीवन मूल्यों (अगर उसे छुआ गया हो) का भी कायदे से साक्षात्कार न किया गया हो।'[1]

आठवें दशक के रचनाकारों की कहानियों में स्मृति लगभग गायब है और स्मृति भ्रंश का लक्षण है। कुछ कहानियां जैसे—'भादस का हाथी (सुबोध) 'वरणांजलि '(गोविन्द मिश्र), 'अङ्गीगिनी' (शैलेश मटियानी), 'छप्पन तोले की करधन' (उदयप्रकाश) में स्मृति और वर्तमान में परस्पर प्रकाशित करने का ऐसा सद्भाव है, जो स्मृति के बगैर सम्भव नहीं था।

आठवें दशक के समय के बारे में मधुकर सिंह का यह वक्तव्य कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है कि 'मैं जहां भी हूं, जिस स्थिति में हूं···एक बहुत बड़े शैतान और आज के आदमी के दुश्मन से घिरा हूं।···बाहर और भीतर हमारा ही दुश्मन है बहुत बड़ा शैतान। उससे मैं बच नहीं सकता और मैं जिन्दा रहना चाहता हूं। मैं जिन्दा रहने के लिए सब कुछ कर सकता हूं। 'सब कुछ' का मतलब वह सब, जिसे आदमी अपने बचाव के लिए करता है। जीने की मेरी आवश्यकता ही मुझे उस शैतान से लड़ा देती है।'[2]

यह शैतान आठवें दशक की कहानी में निम्न मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी और चुनौती दोनों ही रूपों में इस रूप में विद्यमान है कि उसके बगैर आठवें दशक की रचना दृष्टि के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता। शैतानियत या पैशाचिकता से उत्पन्न भय और भय से मुक्त होने की क्रियाशीलता आठवें दशक की कहानियों की रचना-दृष्टि का नाभिक है, लेकिन यह नाभिक आठवें दशक के रचनाकारों के लिए जो चुनौती देता है, उसके लिए तथ्यात्मक या विवरणात्मक गद्य बहुत दूर तक मदद नहीं करता। शैतान की प्रतीति एक बात है और उस प्रतीति को कहानी द्वारा सम्प्रेषित कर सकना दूसरी बात। शायद, इसीलिए राजी सेठ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि—'वस्तुतः इस बात को कोई गम्भीर मानसिकता ही नहीं बनी कि कहानी को उसके प्रगट से आगे भी देखने की जरूरत है, उसके मूल पाठ से सटने और उसकी निहित संज्ञाओं के खोजने की। इस अर्थ

1. 'वर्तमान साहित्य' (दिसम्बर 1991), सम्पा०-से० रा० यात्री, पृ० 3
2. 'समकालीन हिंदी कहानी : प्रकृति और परिदृश्य' डॉ० यदुनाथ सिंह, पृ० 98

में हर कहानी एक अलग और सम्पूर्ण इकाई है···एक पूरा संसार। उसके प्रति इसी रवैये और चेष्टा में कथा-आलोचना का स्वत्व समाया है, उसे कहीं बाहर के प्रतिमानों से लाना नहीं होता। असल में कहानी की मूल स्वरूपता, उसका विवरणात्मक रूप और पारम्परिक नाम धारण ही उसके अस्तित्व की गम्भीरता को खतरे में डालते हैं। समय का फासला, जो किस्सागोई और आज की कहानी में पसरा पड़ा है, कहानी की बैचारिकी में जज्ब नहीं हुआ उसकी अस्मिता का अपरिहार्य हिस्सा नहीं बना, तभी तो इतने जनतांत्रिक रूप के बाद भी कहानी का प्रबुद्ध रूप साहित्यिक हलकों और सुधी पाठकों की सूचनाओं में सोचता रहता आया।"[1]

राजी सेठ 'समय के जिस फैसले' को कहानी की बैचारिकी में जज्ब होने की बात करती हैं, वह निश्चय ही कहानी की भाषा से ही सम्भव है, क्योंकि कथ्य चाहे जितना महत्त्वपूर्ण हो, उसके सम्प्रेषित हो पाने में उसकी कथ्यता निर्भर करती है। और यह सब कुछ भाषिक रचना विधान पर निर्भर करता है; क्योंकि संवेदना, दृष्टि, शिल्प आदि सभी भाषा में और भाषा के द्वारा ही बनते हैं। मेरे एक पत्र के उत्तर में राजी सेठ ने यह लिखा कि—'रचना की भाषा ही तो कथ्य को उपार्जित करती है, भाषा की सामर्थ्य के बिना अपनी पूरी मंशा को उजागर नहीं कर सकते। मैं भाषा और शिल्प को उतना ही महत्व देती हूं, जितना कथ्य को, क्योंकि वह मेरे लिए कथ्य की संवेदनापूर्वक अर्जित करने का एक साधन ही नहीं, रचनात्मक समृद्धि का एक आयाम भी है। कथा-शिल्प मेरे लिए कहानी की कथावस्तु को उकेरने की प्रक्रिया का नाम है। वह कोई अलग से ओढ़ा या पूर्व निर्धारित नजरिया नहीं है, जिसे मन में एक बार तय कर लेने पर अनंत काल तक कथा-रचना की सेवा में जुटा दिया जाय। कहानी जब कौंधती है, तो वस्तु और मंशा की सरहदों में झुकी हुई होती है, उसका शिल्प तो रचना-उपार्जन के दौरान धीरे-धीरे निर्मित होता है। शिल्प की जरूरतें कथ्य की जरूरतों के साथ बदलती भी हैं।

राजी सेठ का यह उद्धरण मात्र आत्मकथ्य नहीं है, बल्कि आठवें दशक में कहानीकारों की कहानी को सावयविक मानने की दृष्टि का प्रमाण भी है। आठवें दशक के कहानीकारों ने नये सिरे से यह कोशिश चलाई है कि हिंदी कहानी द्वारा विकसित सभी संसाधनों का वो यथार्थ के साक्षात्कार में उपयोग कर सकें। यह दृष्टिकोण रचना और यथार्थ दोनों के प्रति गम्भीरता का प्रमाण है। 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में सद्य : प्रकाशित पांच लम्बी कहानियों के एक अंक के सम्पादकीय में मृणाल पाण्डेय ने कहानी की विलक्षण सृजन-प्रक्रिया का संकेत करते

1 'हंस'-जून 1992-सं०-राजेन्द्र यादव : पृ० 69

हुए लिखा है कि—

'हर सृजन-प्रक्रिया एक विलक्षण प्रक्रिया होती है। इसके दौरान लेखक अथवा लेखिका को अपने विशिष्ट स्वानुभूत सत्य से सामान्य पाठक के मन तक साझा भाषा और उस भाषा से जुड़े सांस्कृतिक संस्कारों का एक मजबूत पुल गढ़ना होता है, जिसके द्वारा पाठक भी लेखक की ताजा और विशिष्ट दृष्टि तथा मानवीय संवेदना को उसी आवेग और स्पष्टता से हृदयंगम कर सके। कहने में यह बात भले ही सरल लगती हो, व्यावहारिक तौर पर इसके सफल निष्पादन के लिए लेखक के भीतर एक बड़ा ही क्षमतावान मन चाहिए। ऐसा मन, जो कहानी के भीतर अमूर्त भावनों को (उनकी ऊर्जा और प्रखरता बरकरार रखते हुए) रचना की जरूरतों के अनुपात में लगातार संशोधित और संपादित करके मूर्त करता चले। यह कहना एक भोला अज्ञान ही माना जाएगा, कि प्रेमचंद की 'कफन' या रेणु की 'रसप्रिया' या कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया'-जैसी रचनाओं में एक दैवी वरदान की तरह लेखक की अंतरंग संवेदनाएं खुद-ब-खुद कागज पर अंकित होती चली गई है। एक अच्छी कहानी (वह व्यवस्था का समर्थन करती हो या विरोध) को उसका अंतिम रूप आवेगभरे फतवे अथवा भावुक उच्छ्वास नहीं देते। अंततः हर सार्थक कहानी लेखक के अपने संवेदनामूलक अनुभव के ज्ञानमूलक सार्वभौम दृष्टि से किए गए तटस्थ सम्पादन द्वारा ही अपना अंतिम रूप ग्रहण करती है। तभी एक अच्छी कहानी पढ़ते हुए वह पूरी बेलाग संपादन प्रक्रिया और औचित्यानौचित्य विचार की कसौटियां भी कहानी के संसार के साथ ही एक समांतर प्रक्रिया के रूप में पाठक के आगे भी सहज ही उपस्थित हो जाती हैं। प्रेमचंद 'कफन' में गरीबी की मार्क्सवादी व्याख्या नहीं करते, न ही उस पर छायावादी ढर्रे के आंसू बहाते हैं, लेकिन गरीबी की क्रूर चपेट से मानवीय रिश्तों में आ जाने वाले निर्मम अमानवीकरण के सफल चित्रण से वे आज भी एक रिपोर्ताज या टी० वी० डॉक्युमेंटरी की अपेक्षा पाठक की चेतना को कहीं अधिक गहरे से झकझोर पाते हैं। इसी तरह 'रेणु' की कहानी का नायक मुनगिया अपने जीवन की सारी बेमेल विद्रूपता के बावजूद प्रेम की कोमलतम गहराइयों का प्रतीक सहज ही बन जाता है जो कि अपने तमाम तकनीकी महारत और नृत्य-संगीत भरे माहौल के बाद भी आज की फार्मूला प्रेम फिल्में नहीं बन पातीं। और ऐसी सशक्त कहानियां आज भी रची जा रही हैं।'[1]

सन् 70 के बाद की हिंदी कहानियों की रचना-दृष्टि के अन्तर्गत मृणाल पाण्डेय का यह उद्धरण भी आता है, जो आज के संदर्भ में कहानी के प्रति उनकी गम्भीर चिंता को द्योतित करता है। साथ-ही-साथ वह आठवें दशक के रचनाकारों

1. 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 3 मई, 1992 : मृणाल पाण्डेय, पृ० 5

की चिंता का भी प्रमाण बनता है। प्रेमचंद की 'कफन' या 'रेणु' की 'रसप्रिया' कहानी के विश्लेषण के माध्यम से जिस रचना-दृष्टि का संकेत यशपाल पाण्डेय ने किया है, वह मूलतः कहानी की ही नहीं, सृजनमात्र की विशेषता है। हर कहानीकार को अपने समय को परिभाषित करना होता है। उसके समय में समय की उसकी निजी परिभाषा और दूसरों के द्वारा समय की की गई अन्य परिभाषाएं भी निहित होती है। एक अच्छी कहानी इस तरह से समय के दोहरे स्तरों को इस प्रकार से अभिव्यक्त करती है कि वह मनुष्य की मानवीय अर्थवत्ता का प्रमाण बन जाय।

नवें दशक में लिखने वाले रचनाकार प्रायः वही हैं, जो आठवें दशक में थे वस्तुतः नवें दशक में लिखी हुई कहानियां ही नवें दशक के साहित्य की प्रमाण हैं, न कि नवें दशक में उत्पन्न कहानीकार मात्र ही। किसी दशक की रचना-दृष्टि का निर्माण केवल उस दशक-मात्र से नहीं होता, बल्कि उस पूरी साहित्य-परम्परा से होता है, जिसमें आज कहानी लिखी जा रही है। विशुद्ध रूप से नवें दशक के कहानीकार और आलोचक अखिल अनूप ■ एक उद्धरण के हवाले से नवें दशक के या नवें दशक में भी लिखा रहे कहानीकारों की रचनादृष्टि की ओर संकेत करना अनुचित नहीं होगा। अखिल अनूप ने लिखा है कि 'नवें दशक की हिन्दी कहानी को जिन कथाकारों ने अपनी रचनाओं से समृद्ध बनाया है, उनमें प्रमुख हैं—शैलेश मटियानी, रमेश उपाध्याय, सत्येन कुमार, उदय प्रकाश, धीरेन्द्र अस्थाना और ज्ञान प्रकाश विवेक। इन कथाकारों की रचनाओं में जीवन के दो पक्ष हैं—(1) उस मानवद्रोही समाज-व्यवस्था को बदलने का, जिसने शासक वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए आम आदमी से जिन्दा रहने तक का अधिकार छीन लिया है। और (2) उस मानवीय प्रेम और सद्भावना को तलाश करने का, जो हर व्यक्ति की निजी संपत्ति है, लेकिन उसे उससे हाथ धोने को बाध्य होना पड़ रहा है। कहना न होगा कि ये दोनों पक्ष इस दौर के जीवन के सबसे बड़े सच है और इनसे जूझना ही यह प्रमाणित करता है कि हमारा हिन्दी कथाकार अपने समय के ज्वलन्त सवालों से बेपरवाह नहीं है। ...नवें दशक की कहानियों की केन्द्रीय चिन्ता कमोबेश रूप में 'अस्तित्व की चिन्ता' है। व्यक्ति का अस्तित्व, समाज का अस्तित्व। नवें दशक का कहानीकार बदलाव के सपने ही नहीं देखता, उसे उस सत्य को, उस कला को, उस समाज को और इन तीनों की कहानी को बचाने की चिन्ता है। यह चिन्ता ही कहानी को एक इमेज नहीं बनने देती और रचनाओं को जीवन के विविध आयामों में ले जाती है। यह चिन्ता की नहीं, आश्वस्त होने की बात है।'[1]

1. 'इंद्रप्रस्थ भारती' : (वर्ष-3, अंक-2, अप्रैल-जून 1990), सं० नारायणदत्त पालीवाल, पृ० 327/337

सन् 70 के बाद के कहानीकारों की रचना-दृष्टि से आलोचनात्मक और रचनात्मक क्षेत्र पर विचार करने से जो निष्कर्ष निकलते हैं वे हिंदी कहानी के भविष्य की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे कि इस दशक के कहानीकार हिंदी कहानी के समग्र विकास के प्रति जितने सजग हैं उतने ही अधिक अपने वर्तमान के प्रति 'क्रिटिकल' हैं। कहानीकारों की दृष्टि अपने समय को परिभाषित करने के साथ-ही-साथ अपने होने के अर्थ को भी परिभाषित करने की है और यह बहुत बड़ी सम्भावना है। रचना, अच्छी रचना, इसी सम्भावना के छोर पर सम्भव है।

पंचम : अध्याय

उपसंहार

टी० एस० इलियट ने 'टू क्रिटिसाइज एक्रिटिक' में लिखा है कि मैंने सम्भवतः जो कुछ भी आलोचनाएं की हैं वे प्रकारान्तर से अपने काव्य-साहित्य को अन्तर्निहित रूप से पुष्ट और प्रमाणित करने के लिए। टी० एस० इलियट का यह कथन पूर्ण सत्य न होते हुए भी अर्ध-सत्य अवश्य है। वस्तुतः (कोई भी बड़ा रचनाकार चाहे वह उपन्यासकार हो, कवि हो या कहानीकार हो, बिना किसी दृष्टिकोण या जीवन-दृष्टि के बड़ा रचनाकार नहीं बन सकता है और जीवन-दृष्टि जिस सीमा तक किसी रचना के नाभिक का निर्माण करती है उसी सीमा तक आलोचना को भी नियन्त्रित करती है। विश्व के साहित्य में कहानीकारों ने उपन्यासकारों और कवियों की तुलना में कहानियों के बारे में बहुत-कम लिखा है। आधुनिक कहानी के पितामह माने जाने वाले गोगोल और एडार एलन पो जो समकालीन थे, ने भी मूलतः कहानियों के बारे में कम लिखा है। यद्यपि एडार एलन पो के अनेक उद्धरण प्रतीकवादियों और शुद्ध कवितावादियों-द्वारा उद्धृत किये जाते हैं। हेनरी जेम्स जिसके उपन्यासों की भूमिकाएं और स्वतन्त्र रूप से लिखी हुई समीक्षाएं कथा-साहित्य के कला-सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध हैं, ने भी कहानियों के बारे में बहुत कम लिखा है। यह स्थापना कविता के क्षेत्र में और उपन्यास के क्षेत्र में रचनाकार-आलोचकों-द्वारा अथवा रचनाकारों द्वारा किए गए कथा-चिन्तन या काव्य-चिन्तन की दृष्टि से की गई है।

कथाकारों या रचनाकारों-द्वारा जो कुछ भी कथा-साहित्य के बारे में लिखा गया है, वह पूर्णतः उन रचनाकारों के साहित्य के मूल्यांकन में भी आलोचकों द्वारा प्रयुक्त नहीं किया जाता है, लेकिन मूल्यवान वह अवश्य है। क्योंकि उसका सम्बन्ध कथाकार की अपनी समस्याओं से भी है। कथाकार का अनुभव प्रक्रियागत और प्रक्रियागत उन्मोचन के बाद की वस्तुगत-स्थिति से भी है सामान्य व्यक्तियों की तरह रचनाकार भी, चूंकि वह अपनी हड्डियों में प्रवाहित परम्परा की उष्णता को महसूस करता है, कथा-मात्र की गुणवत्ता के विषय में एक स्पष्ट धारणा रखता है और यह धारणा वह साहित्य-परम्परा के सन्दर्भ में ही बनाता-बिगाड़ता और

विकसित करता चलता है। निजी रचना व्यक्तिगत अनुभव, स्मृति और आकांक्षा रूढ़ि और नवीनता, परम्परा और बौद्धिकता आदि की उधेड़बुन से जहां एक ओर अपने समय को परिभाषित करने के क्रम में रचनाएं निर्मित होती हैं, वहीं दूसरी ओर वह विवेक या अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि ऑडेन ने जिसे अपने प्रसिद्ध आख्यान 'मेकिंग' 'नोइंग एण्ड जजिंग', में 'मानस में विद्यमान सेंसर' कहा है, भी निर्मित होता है। सहृदय के बारे में भारतीय काव्यशास्त्र में अभिनव गुप्त जैसे आचार्य ने साहित्य के पठन-पाठन से शुद्ध मानस वाले व्यक्ति का उल्लेख किया है। कथाकार साहित्य का रचयिता और पाठक दोनों होता है। इस दृष्टि से उसका कथा-चिन्तन सम्प्रेषण-सम्बन्धी कठिनाइयों से तो जुड़ा ही होता है कहानियों के कथ्य और पूरी बुनावट से भी जुड़ा होता है। जब वह कहानी-मात्र के विषय में बात करता है तो उसका ध्यान अपनी कहानियों पर ही न होकर उस कहानी-मॉडल पर होता है जो उसके द्वारा पढ़ी गई कहानियों और सम्प्रेषण की आकांक्षा की टकराहट से निर्मित हुआ रहता है। मॉडल भिन्न चीज होता है और मॉडल के प्रतिरूप लिखी गई कहानियां भिन्न होती हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी कथाकार की कहानियां उसके कथा-चिन्तन के सन्दर्भ में उसके मानक आदर्श के अनुरूप ही बनें।

हिन्दी का प्रारम्भिक कथा-साहित्य अंग्रेजी कथा-साहित्य की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि अमेरिका, फ्रांस और रूस की तुलना में प्रसिद्ध कहानीकार बेस्ट के अनुसार, जिसे उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ शॉर्ट स्टोरी' में लिखा है, 'अंग्रेजी कहानियां मूलतः आधुनिक रूप में बीसवीं शताब्दी की देन है।' इस दृष्टि से हिन्दी कहानी भी अपने आधुनिक रूप में बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की ही देन है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि हिन्दी कहानी अपने आधुनिक रूप में अंग्रेजी और बंगला से प्रभावित होने के बावजूद अपने विकास की दृष्टि से कहीं से भी इन दोनों मूलभूत भाषाओं की कहानियों से पिछड़ी नहीं है। ('उसने कहा था', 'पंच परमेश्वर', 'ग्राम', 'ग्यारह वर्ष का समय', 'इन्दुमती', 'दुलाईवाली' कहानियां आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से कहानियां हैं, परन्तु इन कहानियों की तुलना में इनके रचनाकारों द्वारा किया गया कथा-चिन्तन उतना महत्त्वपूर्ण और विकसित नहीं माना जा सकता। हिन्दी के प्रारम्भिक कथाकारों का कथा-चिन्तन बहुत अधिक नहीं है। मैं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में अपनी खोज के दौरान अत्यधिक परिश्रम करने के बावजूद किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमारी घोष, जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा कहानियों पर लिखे या किसी कहानीकार की इन कहानीकारों द्वारा लिखी गई समीक्षाएं नहीं प्राप्त कर सकीं। इन प्रारम्भिक कथाकारों में से मूलतः प्रेमचन्द द्वारा कहानी-कला नाम से कहानियों

पर लिखे कुल तीन लेख और सुदर्शन द्वारा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के काशी अधिवेशन में कहानी-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिये गए वक्तव्य, जो 'कथ्यरूप' पत्रिका के अंक में प्रकाशित हुआ था के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। सुदर्शन और प्रेमचन्द का कथा-चिन्तन तत्कालीन हिन्दी कहानी साहित्य की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। सुदर्शन द्वारा दिया गया भाषण एक तरह से नए कहानीकारों को ध्यान में रखकर तत्कालीन सामाजिक समस्याओं और आदर्शों के संतुलन पर आधारित कहानी लिखने की सलाह के रूप में दिया गया है। लेकिन प्रेमचन्द के द्वारा समय-समय पर लिखे गए तीनों लेखों में कहानी-कला के विकास का गम्भीर मूल्यांकन पाया जाता है। उनके लेखों को पढ़कर ऐसा लगता है कि कहानीकार कहानी लिखने के अपने अनुभव, देश-विदेश में लिखी गई कहानियों को पढ़ने से प्राप्त तुलनात्मक दृष्टि और भारतीय समाज को गहराई से समझने से विकसित संवेदना के संश्लिष्ट अनुभव के बाद ही ऐसा लिख सका है। क्योंकि तीनों लेखों में उनकी दृष्टि हिन्दी कथा-साहित्य को समृद्ध करते जाने की है। ये लेख जिसमें उन्होंने अपनी कहानियों के उदाहरण भी दिए हैं, कहानियां कैसी लिखी जानी चाहिए और लिखते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए इसको ध्यान में रखकर लिखे गए हैं।) सुदर्शन और प्रेमचन्द के कथा-चिन्तन का प्रभाव उनकी कहानियों पर पड़ा है इसका प्रमाण उनका निम्नलिखित उद्धरण है—'प्राचीन कलाओं में लेखक बिलकुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके बारे में उतना ही जानते थे जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं इसका हमें कुछ पता न चलता था, लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टि-कोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं। और यह भाव जितने व्यापक और गहरे तथा अनुभवपूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यूं कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएं और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाए जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल गौण है। उदाहरणार्थ—मेरी 'सुजानभगत,' 'मुक्तिमार्ग,' 'पंचपरमेश्वर,' 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक-न-एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्ट की गई है।'[1]

प्रेमचन्द की कहानी-सम्बन्धी स्थापनाओं के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों

1. 'साहित्य का उद्देश्य' : प्रेमचन्द, पृ० 56

का यदि मूल्यांकन किया जाए, मेरी जानकारी में ऐसा प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ है, तो मूलतः यही निष्कर्ष निकलेगा कि उनकी कहानियां एक उद्देश्य जो उनके दृष्टिकोण से निर्मित था, जिसका ऊपर के उद्धरण में उन्होंने उल्लेख भी किया है, परिचालित थीं। एक सजग रचनाकार होने के नाते दृष्टिकोण, भाव, विचार प्रेमचन्द की कहानी के कलेवर को निर्मित करते हैं। कम-से-कम अपने कथा चिन्तन में उन्होंने जो कुछ कहा है अधिकांश कहानियां उन लक्षणों पर खरी उतरती हैं। काव्यशास्त्र की शब्दावली में उनकी कहानियों को एक तरह से 'लक्षण-लक्ष्य परम्परा' की कहानियां कहा जा सकता है यद्यपि 'कफन,' 'पूस की रात', 'सुभागी,' 'बूढ़ी काकी'—जैसी कहानियां उनके द्वारा निर्धारित रीतियों के बाहर पड़ जाती हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का ढांचा एक विशेष प्रकार की पद्धति पर आधारित है और वह पद्धति 'समानान्तरता और विपरीतता' की है, जो उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रयोग के कारण ही सम्भव हो सका है।

प्रेमचन्द के समकालीन दूसरे कहानीकार जयशंकर प्रसाद का कोई लेख ऐसा नहीं है जिससे उनकी कहानियों का मूल्यांकन किया जा सके या यह देखा जा सके कि उनके कथा-चिन्तन और उनकी कहानियों में क्या संबंध बनता है। परन्तु छिट-पुट रूप से यथार्थ के बारे में अथवा रंगमंच के बारे में उनके द्वारा व्यक्त किए गए विचारों के आधार पर उनके कथा-चिन्तन का कुछ आभास किया जा सकता है। यथार्थ-सम्बन्धी अपने निबन्ध में वे इब्सन और मार्क्सवादी-चिन्तन की सीमा को स्पष्टतः व्यक्त करते हैं, जिससे यह नतीजा निकलता है कि वे यथार्थ और आदर्श के द्वन्द्व को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे; अपेक्षाकृत इनके निष्कर्षों के, जबकि प्रेमचन्द आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व से आगे बढ़कर निष्कर्ष को कहानी की रचना में आवश्यक मानते थे। जयशंकर प्रसाद ने 'पत्थर की पुकार' कहानी में अपने एक पात्र-द्वारा छायावादी प्रतीक-प्रणाली पर व्यंग्य करते हुए प्रेम और करुणा को कहानी की रचना का प्रमुख तत्त्व माना है जिसका उल्लेख इस शोध प्रबन्ध में उचित स्थान पर किया गया है। इसके अलावा उनकी प्रमुख समस्या विवेक और भाव तथा आनन्दपूर्ण स्वर्ग और दुःख-दग्ध जगत् के जटिल एकीकरण की थी। इस प्रकार की अनेक द्विभाजिकताएं उनके साहित्य के केन्द्र में विद्यमान हैं। यह दृष्टिकोण उनकी कहानियों के केन्द्र में भी रहा है। प्रेमचन्द जिन मनोभावों की अभिव्यक्ति पर इतना जोर देते हैं कम-से-कम जयशंकर प्रसाद में वह कहानियों की बनावट में अनुस्यूत है। दोनों रचनाकारों की कहानियों का प्रभाव भिन्न रूप में पड़ता है इसलिए कि दोनों का जीवन के प्रति रुख भिन्न है। फ्रायड, मार्क्स और डार्विन—जैसे चिन्तकों का प्रभाव जयशंकर प्रसाद की कहानियों पर देखा जा सकता है। 'सुनहरा सांप' नामक उनकी कहानी स्पष्टतः फ्रायड द्वारा प्रयुक्त सांप के प्रतीकार्थ पर आधारित है। प्रेम और करुणा की,

जिसे उन्होंने मूल्य माना है, वांछित परन्तु अनभिव्यक्त प्रतीतियां 'आकाशदीप,' 'प्रतिध्वनि,' 'आंधी' आदि कहानियों में हैं। 'काव्य कला' तथा अन्य निबन्ध में छायावाद की जो परिभाषा वे करते हैं या काव्य को संकल्पात्मक आत्मा की अनुभूति के रूप में व्याख्यायित करते हैं, जिस श्रेय और प्रेममयी रचनात्मक भावधारा पर वे बल देते हैं, वह उनकी कहानियों में सधे हुए कौशल के साथ अभिव्यक्त है। इस बात को रेखांकित किया जा सकता है कि प्रसाद और प्रेमचन्द का कथा-चिन्तन उनके समग्र चिन्तन से अलग नहीं है और किसी भी रचनाकार का कथा-चिन्तन उस रचनाकार के समग्र चिन्तन से अलग करके देखना उस रचनाकार की रचनाओं और उसके कथा-चिन्तन के साथ अन्याय है। यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय, जैनेन्द्र मटियानी, गोविन्द मिश्र, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर का कथा-चिन्तन उनके सम्पूर्ण साहित्यिक-चिन्तन अथवा सामाजिक-चिन्तन से कटा हुआ नहीं है बल्कि वह सात्विक है। एक शरीर का हिस्सा है और रचनाएं इसी अर्थ में उस जीवनदृष्टि से या कथा-दृष्टि से भिन्न नहीं हैं। यह भी कहा जा सकता है कि किसी कहानीकार को समग्र कहानियां केवल कहानियां ही नहीं होती हैं, बल्कि उसका कथा-चिन्तन भी होती हैं। परन्तु मेरे शोध का विषय चूंकि कथाकारों के कथा-चिन्तन और कहानियों के आपसी रिश्ते, प्रभाव और सम्बन्धों की पहचान से जुड़ा हुआ है, इसलिए यह स्थापना की जा सकती है कि स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी कहानियों में कहानियां तो व्यापक पैमाने पर और मनुष्य के सामाजिक और अन्तर्जीवन से सम्बद्ध अनेक पहलुओं पर लिखी गई है, लेकिन प्रेमचन्द के कथा-चिन्तन को अधिक विकसित, प्रभावकारी तथा साहित्य-संस्थान के लिए उपयोगी रूप कम विकसित किया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से (मैंने जैनेन्द्र और अज्ञेय जिन्होंने अपनी चिन्तनशीलता और गम्भीर साहित्यिक अभिरुचि के कारण हिन्दी कथा-चिन्तन को अधिक गम्भीर और आत्मपरक वस्तुतता प्रदान की है का उल्लेख किया है। यह ध्यान देने की बात है कि इन लेखकों ने कथा-चिन्तन के क्षेत्र में जो योगदान दिया उसके समान ही योगदान सृजनात्मक कहानियों के क्षेत्र में दिया और उतना ही योगदान मनुष्य से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों और जिज्ञासाओं के उत्तर में भी दिया। जैनेन्द्र का कथा-चिन्तन वस्तुतः एक पुस्तक के रूप में स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित है, जबकि अज्ञेय का 'सम्पूर्ण कहानियां' की भूमिका और उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाओं और लेखों में फैले हुए हैं। जैनेन्द्र ने प्रश्नोत्तर की शैली में तथा '23 हिन्दी कहानियां' की भूमिका के रूप में कहानियों के कथ्य, शिल्प, भाषा संवेदना और दृष्टि सम्बन्धी अनेक विचार व्यक्त किए हैं और उन विचारों की शैली को ही देख करके यह कहा जा सकता है कि उनकी कहानियों में अन्तर्व्याप्त गहराई तथा मानव-मन की सूक्ष्म पहचान उनके कथा-चिन्तन की पद्धति से जुड़ी हुई

है। उनके अनेक उद्धरणों को उद्धृत करते इस शोध प्रबन्ध में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जैनेन्द्र की कहानियों में उनके कथा-चिन्तन का प्रभाव सीधे न पड़कर उनके व्यक्तित्व के माध्यम से पड़ा है; क्योंकि व्यक्ति वही है जो कथा-चिन्तन में कथा-चिन्तक और कहानीकार के रूप में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। प्रेम, संघर्ष, वेदना तथा मानसिक स्तर पर भोगी जाती हुई अन्तर्व्यथा जैनेन्द्र की कहानियों में अन्तर्निहित है, और जब वे शिल्प या भाषा के बारे में बात करते हैं, तो जिस सहजता पर जोर देते हैं तो वह सहजता जैनेन्द्र के दिमाग की बनावट की पहचान है जिसमें उपर्युक्त सभी तत्त्व अन्तर्निहित हैं। जैनेन्द्र के लिए भाषा सायास नहीं है, वह उनके होने का प्रमाण है। जबकि अज्ञेय के लिए भाषा कलाकृति की अनिवार्य शर्त है, अर्थात् इसे वे रचना-प्रक्रिया के दौरान अर्जित करते हैं। कहानियां अज्ञेय के लिए सम्प्रेषण के तर्क से सम्पोषित होने की शर्त के कारण कला में बदल जाती हैं और इसका उल्लेख उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ 'सम्पूर्ण कहानियां' की भूमिका में किया भी है। यथार्थ, वास्तविकता, वस्तु, रूप, भाषा सम्बन्धी अज्ञेय की परिभाषा प्रेमचन्द और जैनेन्द्र से भिन्न है और हिन्दी में अगर कोई कथा-चिन्तक इलियट के कथन पर खरा उतरता है, तो वह अज्ञेय ही हैं। जिस दोहरी सम्प्रेषणक्षमता या स्थिति का यथार्थ के सम्बन्ध में वो उल्लेख करते हैं, वह पूर्णरूपेण उनकी कहानियों में भी सम्भव नहीं हुआ है; क्योंकि अज्ञेय ऐसे कथा-चिन्तक हैं, जो कहानी पर बातचीत करते हुए बहुत बड़े मॉडल का निर्माण और कहानी लिखते समय अनेक प्रयोगों से अपने ही द्वारा निर्मित 'मॉडल' पर खरे उतरने की कोशिश करते हैं। इस कोशिश में अनेक रचनाकारों की भांति कभी वे सफल होते हैं, कभी असफल। जैसे 'रोज,' 'पठार का धीरज,' 'शरणार्थी,' 'विपथगा' आदि कहानियां उनकी इस कोशिश के उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

अज्ञेय और जैनेन्द्र के बाद स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जो कथा-पीढ़ी आती है, वह न केवल कहानियां लिखती है, बल्कि अपनी कहानियों का शास्त्र भी निर्मित करती है। इस दृष्टि से यह पीढ़ी एक अर्थ में आन्दोलन से उत्पन्न और आन्दोलन की खुमारी के साथ जीवित पीढ़ी है। हिन्दी कहानी पर सर्वाधिक विचार इसी पीढ़ी के रचनाकारों ने किया है। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, भार्कण्डेय, शैलेश मटियानी, विरिराजकिशोर, गोविन्द मिश्र आदि ने हिन्दी कहानियों की प्रकृति और स्वरूप दृष्टि और संवेदना भाषा और शिल्प तथा संरचना पर लेखों, टिप्पणियों, विवादों, साक्षात्कारों और स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में बहुत-कुछ लिखा है, जिसका इस शोध-प्रबन्ध की सीमा के अन्तर्गत मैंने उपयोग भी किया है। इन सभी कहानीकारों ने अपने समय को अपने कथा-चिन्तन तथा अपनी कहानियों से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। निश्चय ही

इन सबकी एप्रोच भिन्न-भिन्न है, क्योंकि संवेदना का सन्दर्भ, व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति की क्षमता भिन्न है। व्यापक अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी कथा-साहित्य में सबसे अधिक कहानियां और कहानियों के बारे में अपने से पहले के रचनाकारों से भिन्न कहानियां लिखने का जो प्रयत्न और अनेक असर्वेक्षित तथा बेर नये हुए क्षेत्रों को नापने की जो कोशिश इन रचनाकारों में मिलती है, वह इनकी पहले और बाद की पीढ़ी में इतनी तीव्रता, मौलिकता और संलक्ति के साथ नहीं पाया जाता है। परन्तु दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अब इन रचनाकारों के कथा-चिन्तन के आधार पर इनकी कहानियों का मूल्यांकन किया जाता है, तो निष्कर्ष प्रायः यह निकलता है कि इनके कथा-चिन्तन और इनकी कहानियों में वह रिश्ता नहीं बन पाता है, जो प्रेमचन्द, अज्ञेय और जैनेन्द्र के कथा-चिंतन और कहानियों में बनता है। इस कारण की खोज आवश्यक है। ऐसा क्यों होता है और ऐसा होने के कौन-से कारण हैं, यह मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का भी गम्भीर विषय है और साहित्य का भी। इनमें से कुछ कहानीकार ऐसे हैं, जिन्हें उनके अनुभव-सन्दर्भ और परिवेश के कारण कहानियों के कथ्य, भाषा और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के आधार पर आंचलिक कहा जाता है। जैसे मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी आदि। लेकिन इन कथाकारों ने अपनी संवेदना के व्यापक क्षेत्र के दायरे में पड़ने वाले स्मृति-चिह्नों और भाषिक प्रतीकों का इस्तेमाल इसलिए किया है कि उनके बगैर उनकी संवेदना सम्भव ही नहीं होती। दूसरे उनकी संवेदना ने जिस जीवन-दृष्टि को निर्मित किया था, उसके प्रकाश में जिस जीवन-दृष्टि से सम्बद्ध आयातित शहरी जीवन पर कहानियां लिखी जा रही थीं, पिछड़ी हुई अपर्याप्त लगती थीं। फलतः इन कहानीकारों के कथा-चिन्तन और कहानियों में प्रतीति के स्तर पर अपेक्षाकृत एक रिश्ता दिखाई पड़ता है। और यह रिश्ता मार्कण्डेय और शैलेश मटियानी की परवर्ती कहानियों में भी विद्यमान है। शैलेश मटियानी की 'अद्वांगिनी', 'उत्तरापथ', 'माता' और मार्कण्डेय की 'प्रियासैनी' इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। शैलेश मटियानी तो 'नई कहानी' आन्दोलन से सीधे नहीं जुड़े थे, परन्तु अन्य लेखक जिनका उल्लेख किया गया है, 'नई कहानी' आन्दोलन से सीधे जुड़े [redacted] थे। कहानी के प्रति इस आन्दोलनात्मक रुख के कारण पहले की कहानियों से भिन्न कहानी लिखने या दिखने की सजग इच्छा और लिखी गई कहानियों को साहित्यिक-दृष्टि से मूल्यवान सिद्ध करने और स्थापित करने के लिए आवश्यक शास्त्र की आकांक्षा ने 'नई कहानी' आन्दोलन से जुड़े रचनाकारों को अधिक सक्रिय और गतिशील बनाया। यही कारण है कि मार्कण्डेय, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और मोहन-राकेश आदि ने कथा-चिन्तन अपने से पूर्व और परवर्ती लेखकों की तुलना में शास्त्रीय आचार्यों की तरह से

किया। दूसरी ओर यह एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि नामवर सिंह ने इसी दौर में एक आलोचक की हैसियत से 'नई कहानी' के आन्दोलनवादी रवैये का पक्ष लेकर राजेन्द्र यादव के अनुसार 'मंच-बैंकिंग' करके 'नई कहानी' आन्दोलन को एक लक्षण-शास्त्र-जैसा रूप प्रदान किया। अभी कुछ महीने पहले 'वर्तमान-साहित्य' के 1990 के जुलाई अंक में जैलेश मटियानी ने 'नई कहानी' के नामकरण, परिभाषा और वस्तु-तत्त्व से सम्बन्द्ध कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। उनके हिसाब से कहानी न तो नई होती है और न पुरानी, 'जगत में हर वस्तु एक है ('नई कहानी' इस नियम का अपवाद नहीं) और वस्तु की दावेदारी को उसका ज्ञान जरूरी है। 'नई कहानी' के अभिज्ञान के मामले में राजेन्द्र का उल्लेख पहले आ चुका। कमलेश्वर ने, अपने 'संडे-मेल' वाले संस्मरणों में, 'नई कहानी' की पहचान के मामले में 'अनुभव की प्रामाणिकता' के मुहावरे को फिर दोहराया है। अब अगर हम कमलेश्वर जी से ही पूछ लें कि कहानी या 'नई कहानी'—या साहित्य की किसी भी विधा—में 'अनुभव की प्रमाणिकता' का तर्क क्या होगा, तो जाहिर है कि जवाब देते बनेगा नहीं; क्योंकि कैसे भी प्रामाणिक अनुभवों ■ किसी रद्दी कहानी को न 'नई' बनाया जा सकता है, और न ही समान्तर या श्रेष्ठ।' मटियानी जी की जिज्ञासा आज के सन्दर्भ में बहुत स्वाभाविक है; क्योंकि आज 'नई कहानी' को आन्दोलन के रूप में बाद की तरह से मान कर जो कुछ लिखा गया है, निश्चय ही उसमें ऐसा कुछ भी विभाजक प्रतिमान नहीं है, जो आन्दोलन के बाद या पहले के कहानीकारों ने अपनी कहानियों में न प्रयुक्त किया हो। यह अवश्य है कि ,नई कहानी' आन्दोलन के लेखकों ने व्यक्ति मन और सामाजिक-जीवन की टकराहट तथा सन्दर्भ के ऐसे अनेक बहुते क्षेत्रों और विषयों पर कहानियां लिखीं, जो पहले नहीं लिखी गई थीं, लेकिन विषयों के आधार पर कहानी का नया और पुराना होना सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि विषय पुराने पड़ने पर कहानियां भी पुरानी पड़ने लगती हैं। शोध की सीमा के अन्तर्गत इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'नई कहानी' आन्दोलन के इन कहानीकारों ने भले ही बाद में, जिसका उल्लेख मटियानी जी ने अपने 'वर्तमान-साहित्य' वाले लेख में किया है, 'नई कहानी' को निरर्थक घोषित कर दिया हो, लेकिन, इस दौर में इन कहानीकारों ने कई प्रसिद्ध कहानियां हिन्दी-साहित्य को दीं, जैसे—'मलबे का मालिक', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'टूटना', 'मिस पाल', 'हंसा जाई अकेला', 'लाश,' 'राजा निरबंसिया,' 'दो दुखों का एक सुख', 'सुहागिनी', 'इब्बू मलंग', 'घोड़े', 'हत्यारे', 'शरण्य की ओर' आदि।

एक विचित्र बात यह है कि इस दौर के कहानीकारों के कथा-चिन्तन और कहानी के आलोचकों के कथा-चिन्तन की तुलना करने पर एक विचित्र निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी-कथा-आलोचना को अधिक विकसित और समृद्ध करने

का कार्य इन कथाकारों ने ही किया है। इन कहानीकारों ने अच्छी कहानियां भी लिखीं और उसका शास्त्र भी निर्मित किया; यह मैं पहले भी कह चुका हूं। डॉ० नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी और सुरेन्द्र चौधरी की कथा आलोचनाओं को यदि छोड़ दिया जाए, तो कोई भी आलोचक हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र में दिखाई नहीं पड़ता है, जिसने इस कहानी-आन्दोलन के दौरान इन कथाकारों से कुछ बेहतर व व्यवस्थित चिन्तन किया हो। इन रचनाकारों ने भाषा, संवेदना, शिल्प, यथार्थ, आदर्श, विचारधारा, सामाजिक दृष्टि, सामाजिक-जीवन, वास्तविकता, ग्रामीण जीवन, शहरी मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग, सर्वहारा, वर्ग दृष्टि, मार्क्सवाद, प्रगतिवाद, कलादृष्टि आदि अनेक प्रत्ययों से हिन्दी-कथा-चिंतन को समृद्ध किया और इस समृद्धि के तर्क से एक प्रकार की कथा-रूढ़ियां विकसित कीं, जिससे बाद की पीढ़ी के कहानीकारों ने बड़ी तीखी प्रतिक्रिया की। इन रचनाकारों ने 'नई कहानी' को परिभाषित करने का ही प्रयत्न नहीं किया बल्कि अपने से पहले और बाद के कहानीकारों का मूल्यांकन भी किया। यह इन कथा-चिन्तकों का सबसे बड़ा योगदान है कि इन्होंने हिन्दी कहानियों का मूल्यांकन कहानियों के विश्लेषण और व्याख्या के आधार पर किया। इनके कथा-चिन्तन में 'नई कविता' शास्त्र की अनेक सरणियां तैरती हुई दिखाई जरूर पड़ती हैं, यह भी लगता है कि जैसे नए कवि अपने आन्दोलन का शास्त्र निर्मित कर रहे थे, वैसे ही 'नई कहानी' का शास्त्र ये कहानीकार निर्मित कर रहे थे, लेकिन इसके बावजूद अपनी सीमाओं के भीतर इन कथा-चिन्तकों ने कथा-चिन्तन और हिन्दी कहानी को विस्तार अवश्य दिया। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित इस काल के कहानीकारों में विचारधारा के अनुसार विषय का चयन और कथावस्तु का नियोजन मिलता है और सहज-सजग प्रयास मार्कण्डेय, भैरवप्रसाद गुप्त, शेखर जोशी आदि में स्पष्ट पाया जाता है। स्पष्टतः लगता है कि कहानियां परिभाषा के उदाहरण के रूप में लिखी जा रही हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि सामाजिक-चिन्तन और कथा-चिन्तन जो राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मार्कण्डेय और अमरकांत आदि में मिलता है, उनकी कहानियों में सामयिक रूप में एक इकाई की तरह अनुस्यूत है। इस युग का कथा-चिन्तन मूलतः 'कहानी', 'नई कहानी', 'कल्पना', 'माया', 'आलोचना', पत्रिकाओं में कभी भी बिखरा पड़ा है। बाद में 'सारिका' में भी काफी मात्रा में आन्दोलनात्मक दृष्टि से हिन्दी कहानी का मूल्यांकन हुआ है। ऊपर के अनेक कहानीकारों का कथा-चिन्तन समय-समय पर इन्हीं पत्रिकाओं में प्रकाशित होता रहा है। इनके पहले के कथा-चिन्तकों का कथा-चिन्तन और कहानियां 'हंस', 'विशाल-भारत' में अधिकांशतः छपी हैं।

इन रचनाकारों के बाद की पीढ़ी, जिसमें कहानीकारों की बहुत बड़ी जमात

आती है और जिनमें से कुछ ने सातवें दशक से ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था, का कथा-चिन्तन मात्रा की दृष्टि से बहुत कम है। कथा-आलोचना स्वतन्त्र रूप में कथाकारों के कथाचिन्तन की तुलना में मात्रा की दृष्टि से अधिक है, गुणवत्ता की दृष्टि से भले ही उतनी मूल्यवान न हो। इन रचनाकारों में दूधनाथ, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, श्रीकान्त वर्मा, मन्नू भण्डारी, गंगा प्रसाद 'विमल', हृदयेश आदि प्रमुख हैं।

इन कहानीकारों की कहानियां भी 'नई कहानियां', 'कथा', 'ज्ञानोदय', 'विकल्प', 'कल्पना', 'सारिका', 'कथांतर', 'नई कहानी', 'नई धारा', 'पहल', आदि लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। कहानी पर अधिकांश बात-चीत भी इन्हीं पत्रिकाओं में छपती रही है। यह ध्यान देने की बात है कि सन् 60 के बाद से हिन्दी लघु पत्रिकाओं में ज्यादातर कहानियां ही छपती रही हैं। साप्ताहिकों, मासिकों और त्रैमासिकों में कहानियों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई है। इस वृद्धि के अनेक कारणों में से नई कहानी के आन्दोलनकर्त्ताओं-द्वारा स्थापित प्रतिमान और प्रयोग भी हैं। इस पीढ़ी के कथाकारों का कथा-चिन्तन अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं है। दूधनाथ, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, काशीनाथ सिंह, महेन्द्र भल्ला, निरुपमा सेवती, श्रीकान्त वर्मा आदि के द्वारा कहानी पर व्यवस्थित रूप लिखी गयी पुस्तक एक भी नहीं हैं, जबकि कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय आदि की स्वतन्त्र पुस्तकें हैं। इन कहानीकारों के छिटपुट वक्तव्य कुछ भूमिकाएं और एक-दो लेख जरूर मिलते हैं। इनके ठीक बाद के कहानीकारों, द्वारा साहित्यिक कम और राजनैतिक अधिक जनवादी आन्दोलन के अन्तर्गत राजनैतिक आवश्यकता को औचित्यपरक बनाने की दृष्टि से जनवादी कथाकारों-द्वारा कहानियों पर जरूर लिखा गया है, परन्तु वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना 'नई कहानी' आन्दोलन के कथाकारों का है।

इन रचनाकारों से अपेक्षाकृत थोड़ा पहले कहानी लिखना शुरू करने वालों में विरिराज किशोर और गोविन्द मिश्र ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने न केवल अच्छी कहानियां लिखी हैं, बल्कि कहानियों के बारे में अपने वक्तव्यन-मनन के आधार पर लेख, टिप्पणियां और बयान आदि भी दिए हैं, जिसका व्यापक उपयोग मैंने यथा-स्थल किया है। मूलतः तो गोविन्द मिश्र और गिरिराज किशोर अपने समयु-कल की दृष्टि से दूधनाथ सिंह और ज्ञानरंजन की ही पीढ़ी के रचनाकार हैं ज्ञानरंजन ने कहानियों के बारे में सबसे कम लिखा है, लगभग नहीं के बराबर। कहानियां निस्सन्देह ही अच्छी लिखी हैं। 'पिता', 'शेष होते हुए', 'रचना-प्रक्रिया', 'बहिर्गमन', 'बंधन', 'सम्बन्ध', उनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं। मेरी जानकारी में ज्ञानरंजन का एक लेख और एक भूमिका मात्र ही उनके कथा-चिन्तन के नाम पर उपलब्ध है और उसे भी कथा-चिन्तन कहने में संकोच होता है, क्योंकि मूलतः

वह एक वक्तव्य है, जो हिन्दी कहानियों के विषय में कुछ न बताकर ज्ञानरंजन की अभिरुचि और उनकी कहानियों के विषय में अधिक बताता है। यद्यपि यथार्थ के प्रति लगभग प्रकृतिवादी आग्रह उनके वक्तव्यों और कहानियों में पाया जाता है। दूधनाथ सिंह ने ज्ञानरंजन की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक लिखा है, यद्यपि एक सशक्त आलोचक और एक अच्छे कहानीकार होने के बावजूद उन्होंने भी कहानियों पर, विशेष रूप से हिन्दी कहानी के शिल्प, बदलाव, संवेदना, भाषा आदि पर, कम लिखा है। ज्यादातर उन्होंने काव्य पर लिखा है। 'सार्थक कहानियां' की भूमिका में तथा कथा-समारोह आदि गोष्ठियों में दिए गए उनके वक्तव्यों से कहानी-विषयक उनके चिन्तन का आभास मिलता है, परन्तु वह चिन्तन उनके 'पहला कदम' में संकलित कहानियों में लगभग नहीं दिखाई पड़ता है। वस्तुतः ज्ञानरंजन और दूधनाथ का छिटपुट कथा-चिन्तन जनवादी और प्रगतिशील होने के पूर्व के वक्तव्य और बाद के वक्तव्यों में बंटा हुआ है। पूर्व के वक्तव्य आदमी के अजनबीपन, अमानवीयता, मानवीय सम्बन्धों में पड़ने वाली दरारों, ऊब, खीझ, बेचैनी, सम्बन्धहीनता आदि से सम्बद्ध हैं, शिल्प और भाषा के प्रति अतिरिक्त आग्रह उस कथा-चिन्तन में मिलता है, जिसका प्रभाव ज्ञानरंजन और दूधनाथ दोनों की कहानियों पर पाया जाता है। कुछ आलोचकों ने इनकी कहानियों और कथा-चिन्तन पर काफ्का, कामू आदि के प्रभाव का संकेत भी किया है। यदि उसे न भी माना जाए तो भी दूधनाथ जी की 'रीछ', 'रक्तपात', 'स्वयंवासी', 'सुखान्त', 'कबन्ध' आदि कहानियां शिल्प के प्रति अतिरिक्त सजगता, यथार्थ के प्रति विचलनप्रवणता और एकरसता आदि का संकेत करती हैं। इन कहानीकारों ने राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि के विरोध में आन्दोलनात्मक मुद्रा से वक्तव्य दिये और कहानियां लिखीं, परन्तु उस प्रकार का शास्त्र या व्यवस्थित कथाचिन्तन इनके यहां नहीं मिलता है, जैसा राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर में मिलता है। इनकी अपेक्षा गिरिराज किशोर, गोविन्द मिश्र का कथा-चिन्तन उनकी अपनी कहानियों से हटकर अपेक्षाकृत दूसरे कहानीकारों की अच्छी कहानियों को ध्यान में रखकर किया गया है, जैसा राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी आदि में है। रवीन्द्र कालिया ने कहानियों पर लिखा अवश्य है, परन्तु वह भी इतना नहीं है कि एक पुस्तक के रूप में संकलित होकर हिन्दी कहानियों पर व्यवस्थित रूप से प्रकाश डाल सके। कहानी पर अथवा कहानियों के बारे में लिखने की अपेक्षा रवीन्द्र कालिया ने हास्य-व्यंग्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में अधिक लिखा है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'काला रजिस्टर' जो 'विकल्प' के कथा विशेषांक में छपी थी, इसके अलावा 'गरीबी हटाओ', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'चकैया नीम', 'बोलनबेसिया' उनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं। ये सभी कहानियां निम्न मध्यवर्गीय या मध्य-मध्यवर्गीय जीवन की विषमताओं,

स्थितियों और विद्रूपताओं और ऊब, एकरसता, संवेदनशून्यता आदि से सम्बद्ध हैं। रवीन्द्र कालिया के कथा-चिन्तन के आधार पर इनका कथा-चिन्तन या इनकी नाप-जोख सम्भव नहीं है। कहानियों के आधार पर उनके कथा-चिन्तन की जो तस्वीर बनती है, वह उनके सामाजिक चिन्तन की तुलना में भी धुंधली है। काशीनाथ सिंह ने अपने इन तीनों मित्रों की तुलना में कहानियों के बारे में और अपनी रचना-प्रक्रिया पर अधिक लिखा है। 'आदमीनामा' की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका आत्मकथ्य, जिसका उपयोग मैंने यथास्थान किया है, उनकी कहानियों के विषय में और कहानियों पर उनके द्वारा जो कुछ सोचा गया है, उसके विषय में काफी नहीं है, फिर भी उससे उनकी कहानियों की तुलना करने पर यह नतीजा निकलता है कि काशीनाथ सिंह मानव-मन की कठिनाइयों और मनुष्य की विवशताओं के साथ-साथ उसकी सोच, आक्रोश और खीझ को जिस रूप में कहने में सक्षम रहे हैं, वह उनके कथा-चिन्तन से बहुत भिन्न नहीं है। एक तरह से उनका कथा-चिन्तन उनकी अपनी कहानियों का आलोचनात्मक रूपान्तरण है। एक कहानीकार को समझने की दृष्टि से वह उपयोगी है। उससे अधिक के लिए न तो काशीनाथ सिंह दावा करते हैं और न उसे उपयोगी स्वीकार किया जा सकता है।

ज्ञान, काशीनाथ और दूधनाथ सिंह के बाद की पीढ़ी के कहानीकारों ने कहानियों पर और भी कम सोचा और लिखा है। 'जनवादी कहानी' आन्दोलन या 'अकहानी' आन्दोलन से जुड़े कहानीकारों ने अपनी कहानियों के अनुकूल माहौल गढ़ने का प्रयास अवश्य किया है, मसलन वंगाप्रसाद विमल, महीप सिंह, राकेश वत्स आदि ने कहानियों के विषय में लिखा जरूर है, परन्तु वह लेखन 'जनवादी कहानीकारों' मसलन रमेश उपाध्याय, स्वयं प्रकाश, संजीव, सृंजय आदि की तुलना में भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगता है। जनवादी कथाकारों ने जनवादी कहानियों की औचित्यपरकता सिद्ध करने के प्रयास में कहानियों की विषयवस्तु और उसके अनुभव-सन्दर्भ पर अधिक लिखा है। जैसे रमेश उपाध्याय ने इस प्रयत्न में 'कफन'-जैसी कहानी की विशिष्टता को भी नकारने का प्रयत्न किया है। समसामयिक समस्याओं और सामाजिक जीवन के परिभाषित और जड़ यथार्थ के सांचे में हिन्दी कहानी को संस्थित करने का प्रयत्न और दिशा देने की कोशिश ने इन कहानीकारों की कहानियों को कहानी-लक्षणों का उदाहरण-मात्र बना दिया है, जिसका उल्लेख शैलेश मटियानी ने 'वर्तमान साहित्य' के 1990 के जुलाई अंक में किया है। वस्तुतः इनका कथा-चिन्तन और कहानियां, दोनों ही राजनीति के जड़ पहलुओं का प्रतिफलन-मात्र हैं। वे एक प्रकार से मार्क्सवादी यथार्थदृष्टि की आनुषंगिक हैं। इससे हिन्दी कहानी का काफी अहित हुआ है। उदयप्रकाश, संजीव, सृंजय, स्वयंप्रकाश, विजेन्द्र अनिल आदि भी सामाजिक-

राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित लेखक हैं और इनकी कहानियों में उसका असर भी है। हिन्दी के इन दिनों लिख रहे अधिकांश रचनाकार किसी-न-किसी राजनैतिक संगठन की सांस्कृतिक शाखा में शामिल हैं, जिसके परिणामस्वरूप विचारों की मुक्त टकराहट सम्भव नहीं है। फलतः रचनाकारों की जीवनदृष्टि तथाकथित विश्व-दृष्टि के सांचे में ढलकर मानव-जीवन के काल-प्रवाह में सहसा चमककर प्राप्त किए गए अनुभवों को कहानी-बद्ध करने का अवसर ही नहीं पाती। जीवनानुभव मुक्तिबोध के दूसरे क्षण तक ही सीमित रह जाता है, तीसरे क्षण की प्रक्रिया से गुजर ही नहीं पाता है। इनमें से अधिकांश रचनाकारों की छिटपुट टिप्पणियां, लेख और वक्तव्य उपलब्ध हैं, उन सभी वक्तव्यों, प्रतिक्रियाओं, टिप्पणियों और लेखों का अध्ययन करने पर विश्वास के साथ उसे कथा-चिन्तन की कोटि में रखना सम्भव नहीं लगता। 'निष्कर्ष' के कहानी-विशेषांक में और 'हंस' के पिछले अंकों में संजीव, सुंजय, उदय प्रकाश के लेख, टिप्पणियों आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन रचनाकारों में कहानी-विधा से उतना कसने नहीं है, जितना बिहार के प्रतिष्ठित लेखक मधुकर सिंह का है या उनसे पहले के रचनाकारों का रहा है। इस तथ्य को न भूलते हुए भी कि संजीव, सुंजय, उदय प्रकाश, स्वयं प्रकाश, शेखर की कहानियों में हिन्दी कहानी की समृद्ध परम्परा का उत्सुकतावश नहीं, बल्कि सहज हुआ प्रयोग मिलता है। भाषा, शिल्प और कथ्य के बीच एक कसावकार-जैसी सजगता पाई जाती है, लेकिन यह सजगता, निजत्व के अधिक आग्रह के कारण, कहीं-न-कहीं विकम्पित हो जाती है।

इन रचनाकारों की तुलना में बटरोही ने कथा साहित्य पर न केवल शोध-प्रबन्ध लिखा, बल्कि स्वतन्त्र लेख भी लिखे हैं। कहानी की आलोचना पर उनकी दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—'कहानी : रचना प्रक्रिया और स्वरूप' तथा 'कहानी : संवाद का ठौर या आयाम'। उनके कई कहानी संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं और पत्र-पत्रिकाओं में भी कहानियां छपती रहती हैं। उनके कथाचिन्तन की उनकी कहानियों से तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वो आलोचक और कहानीकार के व्यक्तित्व को बराबर रख पाने में सफल हैं। जब वो कहानी पर लिखते हैं, तब गहरी मानवीय संवेदना और व्यापक जीवन-दृष्टि, जिसका उल्लेख विस्तृत रूप से डॉ० धर्मवीर भारती, कृष्णा सोबती, अमरकान्त तथा मैत्रेयी पुष्पा आदि कहानीकारों पर लिखे लेखों से मिलता है, उनके लिए प्रमुख प्रतिमान के रूप में कहानी (विधा) के मूल्यांकन से विकसित दिखाई पड़ते हैं। 'दिवास्वप्न', 'सहयात्री', 'महाभारत' तथा 'लैम्पपोस्ट' आदि कहानियों में उनके कथा चिन्तन के प्रभावों को देखा जा सकता है, जो कहानी में कथा और संवेदना के द्वन्द्व की भूमिका की ओर इशारा करते हैं।

वर्तमान दौर में जो कहानियां लिखी जा रही हैं, उनको एक व्यापक रूप में 'हंस', 'पहल', 'वर्तमान साहित्य', 'इन्द्रप्रस्थ भारती', 'अक्षरा', 'साक्षात्कार', 'निष्कर्ष', 'कथादशक', 'कथ्य-रूप', 'पल-प्रतिपल', तथा 'समकालीन भारतीय साहित्य' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में देखा जा सकता है, लेकिन चूंकि इन नयी पीढ़ी के कहानीकारों का कहानी सम्बन्धी चिन्तन व्यवस्थित रूप में सामने नहीं आ पाया है, न कहानियों के अधिक संग्रह ही, इसीलिए इनके मूल्यांकन का अभी कोई औचित्य नहीं है। यह आगे का काम है।

संदर्भ-ग्रंथ

'अकविता और कला संदर्भ'—डॉ० श्याम परमार
'अज्ञेय का रचना-संसार'—गंगा प्रसाद विमल
'अज्ञेय का कथा-साहित्य'—डॉ० ओम प्रभाकर
'औरों के बहाने' : सं०—राजेन्द्र यादव
'आज की कहानी' : डॉ० विजयमोहन सिंह
'आधुनिकता और समकालीन रचना : सन्दर्भ'—डॉ० नरेन्द्र मोहन
'आधुनिक हिंदी कहानीसाहित्य में प्रगति : चेतना'—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम
'आज की हिंदी कहानी : प्रवृत्ति और प्रयोग' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान
'आधुनिक हिंदी कहानी का परिपार्श्व' : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
'आज की हिंदी कहानी : विचार और प्रतिक्रिया'—मधुरेश
'इलाचंद्र जोशी : साहित्य और समीक्षा'—डॉ० प्रेम भटनागर
'एक दुनिया समानांतर' : सं० राजेन्द्र यादव
'कहानी : अनुभव और शिल्प'—जैनेन्द्र कुमार
'कहानी : स्वरूप और संवेदना'—राजेन्द्र यादव
'कुछ विचार'—प्रेमचंद
'कहानी : कहानी नई कहानी'—डॉ० नामवर सिंह
'कहानी की कहानी'—डॉ० इन्द्रनाथ मदान
'कहानी की बात' —मार्कण्डेय
'कथाकार प्रेमचंद' : सं०—डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचंद गुप्त
'कहानी संवाद का तीसरा आयाम'—डॉ० 'बटरोही'
'कमलेश्वर : कहानी का सन्दर्भ'—डॉ० पुष्पपाल सिंह
'कहानीकार कमलेश्वर और युगीन चेतना'—रतनलाल शर्मा
'कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धांत और प्रयोग'—डॉ० मनवालदास वर्मा
'कमलेश्वर' : सं०—मधुकर सिंह
'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम'—सं० डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर
'छिन्या'—अखिलेश भटियानी

'नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति'—डॉ० देवीशंकर अवस्थी
'नई कहानी की भूमिका'—कमलेश्वर
'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना' : सं०—सुरेन्द्र
'नई कहानी : प्रकृति और पाठ'—सं० सुरेन्द्र
'नई कहानी कथ्य और शिल्प'—डॉ० सन्तबख्श सिंह
'नई कहानी की मूल संवेदना'—डॉ० सुरेश सिन्हा
'प्रेमचंद-पूर्व के कथाकार और उनका युग'—डॉ० लक्ष्मणसिंह बिष्ट 'बटरोही'
'प्रसाद का कथा-साहित्य'—डॉ० गिरीश-रस्तोगी, प्रो० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव।
'प्रेमचंद की विरासत'—राजेन्द्र यादव
'भारतीय साहित्य-कोश'—सं० डॉ० नगेन्द्र
'लिखने का तर्क'—गिरिराज किशोर
'संवाद-सेतु'—गिरिराज किशोर
'समकालीन कहानी : युगबोध का सन्दर्भ'—डॉ० पुष्पपाल सिंह
'साहित्यिक निबंध'—डॉ० गजपतिचंद्र गुप्त
'साहित्य का सन्दर्भ'—गोविन्द मिश्र
'समकालीन कहानी : समान्तर कहानी'—डॉ० विनय
'सचेतन कहानी : रचना और विचार'—डॉ० महीप सिंह
'संचेतना कहानी : रचना और विचार'—डॉ० महीप सिंह
'समकालीन कहानी का रचना-विज्ञान'—डॉ० गंगाप्रसाद विमल
'सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा'—सं० सच्चिदानंद, हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'
'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी : कथ्य और शिल्प'—डॉ० शिवशंकर पाण्डेय
'स्थितियां रेखांकित' : सं०—गोविन्द मिश्र
'हिंदी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास'—डॉ०, लक्ष्मीनारायण लाल
हिंदी की पहली कहानी'—सं० देवेश ठाकुर
'हिंदी कहानी : एक अन्तर्यात्रा'—डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ
'हिंदी कहानी : पहचान और परख'—सं० डॉ० इन्द्रनाथ मदान
'हिंदी कहानी : एक अंतरंग पहचान'—डॉ० रामदरश मिश्र
'हिंदी कहानी : फिलहाल'—डॉ० चन्द्रभान रावत, डॉ० रामकुमार खण्डेलवाल
'हिंदी कहानी : दो दशक की यात्रा'—सं० रामदरश मिश्र, डॉ० नरेन्द्र मोहन।

'हिंदी साहित्य-कोश'—भाग 1, भाग 2, : सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
'हिंदी साहित्य में काव्य-रूपों के प्रयोग'—डॉ० देवशंकर अवतरे
'हिन्दी कहानियां और फैशन'—उपेन्द्रनाथ—'अश्क'
'हिन्दी कहानी : अपनी जबानी'—डॉ० इन्द्रनाथ मदान
'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय'—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—डॉ० नगेन्द्र
'हिन्दी का गद्य-साहित्य'—डॉ० रामचन्द्र तिवारी
'हिन्दी कहानी-संग्रह'—सं०—भीष्म साहनी
बीसवीं शताब्दी का साहित्य : (साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र)
भाग—1 यूरी लोतमान
'मेरा दागिस्तान'—रसूल हमजातोव
'निचुम्भोये रिमिस्लों'—यूरीनगीबन
'स्ट्रक्चर ऑफ़ मॉडर्न शॉर्ट स्टोरी'—शिव के० कुमार तथा कैथमेलव

कहानी-संकलन

'आकाशदीप'—जयशंकर प्रसाद
'अज्ञेय की संपूर्ण कहानियां'—भाग : 1 (छोड़ा हुआ रास्ता)
भाग : 2 (लौटती पगडंडियां)
'कर्मनाशा की हार'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह
'गाना बड़े गुलाम अली खां का'—गिरिराज किशोर
'गुलेरी' की अमर कहानियां'—सं० शक्तिधर 'गुलेरी'
'गोविन्द मिश्र की प्रतिनिधि कहानियां'—सं० शैलेश मटियानी
'घिराव'—डॉ० महीप सिंह
'चॉकलेट'—बेचन शर्मा 'उग्र'
'जिंदगी और जोंक'—अमरकांत
'जहां लक्ष्मी कैद है'—राजेन्द्र यादव
'जिंदा मुर्दे'—कमलेश्वर
'टूटना और अन्य कहानियां'—राजेन्द्र यादव
'ठुमरी'—फणीश्वर नाथ 'रेणु'
'तेइस हिन्दी कहानियों की भूमिका'
'नीम के फूल'—गिरिराज किशोर
'पगला बाबा'—गोविन्द मिश्र
'पेपरवेट तथा अन्य कहानियां' गिरिराज किशोर
'प्रेमचंद—प्रतिनिधि कहानियां'
'प्रतिनिधि कहानियां'—राजेन्द्र यादव
'प्रतिनिधि कहानियां'—डॉ० बच्चन सिंह
'प्रतिनिधि कहानियां'—ज्ञानरंजन
'बर्फ की चट्टानें'—शैलेश मटियानी
'भटकती राख'—भीष्म साहनी
'मंगलसूत्र व अन्य रचनाएं'—प्रेमचन्द
'मांस का दरिया'—कमलेश्वर

'माधवराव सप्रे की कहानियां'—सं० देवीप्रसाद वर्मा
'मौत का नगर'—अमरकांत
'मुरदा सराय'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह
'मेरी प्रिय कहानियां'—इलाचंद्र जोशी
वही—'अज्ञेय'
वही—अमरकांत
वही—फणीश्वर नाथ 'रेणु'
वही—गोविन्द मिश्र
'राजा निरबंसिया'—कमलेश्वर
'रिक्ता तथा अन्य कहानियां'—निरिराज किशोर
'लहरें और परछाइयां'—राजेन्द्र यादव
'शहर-दर-शहर'—निरिराज किशोर
हिंदी कहानी : 13 प्रगचित्र'—सं० प्रो० महेन्द्र प्रताप एवं श्री 'बटरोही'
'हिंदी कहानियां'—डॉ० श्रीकृष्ण लाल

पत्र-पत्रिकाएं

'आलोचना'—(दिल्ली) सं० डॉ० नामवर सिंह/'इंदु'—(बनारस) सं० जयशंकर प्रसाद/'इन्द्रप्रस्थ भारती'—(दिल्ली)—सं० डॉ० नारायणदत्त पालीवाल/'उत्तरगाथा'—(मथुरा) सं० सव्यसाची/ 'कहानियां' (भोपाल)सं० सत्येन कुमार / 'कहानी'—(इलाहाबाद) सं० श्रीपत राय, भैरव प्रसाद गुप्त/'कादम्बिनी'—(दिल्ली) सं०—राजेन्द्र अवस्थी/'कथ्यरूप'—(इलाहाबाद)—सं० अनिल श्री वास्तव/'नई कहानियां'—(दिल्ली)—'सं० भैरव प्रसाद गुप्त/'नई कहानियां'—(इलाहाबाद) सं० सतीश जमाली/ 'दस्तावेज'—(गोरखपुर) सं० डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी/ 'पहल'—(जबलपुर)—सं० ज्ञानरंजन/'मंच'—(अम्बाला)—सं० राकेश वत्स/ 'माध्यम'—(इलाहाबाद) सं०—बालकृष्ण राव/'माया'—(इलाहाबाद) सं०—आलोक मित्र/'मूल्यांकन'—(हजारी बाग) सं० डॉ० चन्द्रदेवर कर्ण, सच्चिदानन्द धूमकेतु/धर्मयुग'—(बम्बई) सं० धर्मवीर भारती/'ज्ञानोदय'—(कलकत्ता)—सं० लक्ष्मीचंद्र जैन, रमेश बक्षी/'राष्ट्रीय सहारा'—(दिल्ली)—सं० सुव्रत राय/ 'लहर' (अजमेर) सं०—प्रकाश जैन, मनमोहिनी/'सरस्वती'—(इलाहाबाद) सं० महावीर प्रसाद द्विवेदी—/'सारिका'—(बम्बई) सं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कमलेश्वर/ 'संचेतना'—(दिल्ली)—सं० महीप सिंह /'साक्षात्कार'—(भोपाल) सं० मनोहर वर्मा/ 'साप्ताहिक हिंदुस्तान'—(दिल्ली) सं०—मनोहर श्याम जोशी/मृणाल पाण्डेय/'सम्पर्क'—(इलाहाबाद)—सं० रामस्वरूप द्विवेदी/'विकल्प'—(इलाहाबाद) सं० शैलेश मटियानी।

□□□